एक विश्व एक संस्कृति

ब्रजवल्लभ द्विवेदी

भैरोंसिंह शेखावत
10/2/2003

[illegible]
२०.२.०३

एक विश्व : एक संस्कृति

राष्ट्रिय पण्डित श्री व्रजवल्लभ द्विवेदी

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

EAK VISHWA : EAK SAMSKRITI
One World : One Culture

by

Pt. Vraj Vallabh Dwivedi

ISBN : 81-7124-334-7

© लेखक

प्रथम संस्करण : २००३ ई०

मूल्य : एक सौ पचास रुपये

प्रकाशक

विश्वविद्यालय प्रकाशन

चौक, वाराणसी-२२१ ००१

फोन व फैक्स : (०५४२) २३५३७४१, २३५३०८२

E-mail : vvp@vsnl.com • E-mail : vecppl@satyam.net.in

मुद्रक

वाराणसी एलेक्ट्रॉनिक कलर प्रिण्टर्स प्रा० लि०

चौक, वाराणसी-२२१ ००१

पूरी प्रबुद्ध भारतीयता को

समर्पित

सभी धर्मों के अनुयायी जन यहाँ बसते हैं। ये यदि शान्तिपूर्वक यहाँ
रहना सीख जाँय, तो अनायास ही विश्वशान्ति का और
एक विश्व एवं एक संस्कृति के निर्माण का पथ
प्रशस्त हो सकता है।

विषय-क्रम

प्रकाशकीय अभिमत	VII
प्रस्तावना	VIII-XIV
साधक-बाधक तत्त्व	
सभ्यता, संस्कृति और साहित्य	१-७
धर्मों और संस्कृतियों का संघर्ष	७-१०
विलगाव की प्रवृत्ति	१०-१३
साम्प्रदायिकता	१३-१४
सेमेटिक धर्म	१५-२१
सांस्कृतिक अवसाद	२१-२४
चतुष्कोणीय संघर्ष	२४-२७
यह आत्मघात क्यों?	२७-३०
प्रगतिशील और प्रतिगामी	३०-३३
भारतीय मुसलमान किधर	३३-३७
भारत और चीन	३७-३८
दुराग्रह (असहिष्णुता) से मुक्ति	३८-४२
धर्माध्यक्षों की मनोवृत्ति	४२-४६
धर्म और संस्कृति	
चार पुरुषार्थ	४७-४८
धर्म (आध्यात्मिक)	४९
नैतिकता	४९-५१
धर्म (कर्मकाण्डीय)	५१-५३
हिन्दू (सनातन) धर्म	५३-५६
सर्वधर्म-समादर	५६-५८
धर्म-परिवर्तन (धर्मान्तरण)	५८-६७
धर्म-निरपेक्षता (सेक्युलरिज्म)	६७-७४
द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद	७४-७५
सहिष्णुता और समन्वय	७६-७७
धर्म और संस्कृति का अन्तर	७७-८१
एक राष्ट्र, एक संस्कृति, एक भाषा	८१-८४
संस्कृत भाषा और भारतीय संस्कृति	८४-८८
तन्त्रागमशास्त्र और भारतीय संस्कृति	८८-९२

भारतीय संस्कृति का समग्र स्वरूप	९२-९८
निगमागम विवेचन (भावात्मक एकता)	९८-१०४
दर्शन	
नूतन दृष्टि का उन्मेष	१०५-१०८
अभ्युदय और निःश्रेयस (सामाजिक मूल्यांकन)	१०८-११३
भोग और मोक्ष	११३-११७
बन्ध और मोक्ष	११७-११८
संसार और निर्वाण	११८
मोक्ष	११८
सांख्यदर्शन	११९-१२०
योगदर्शन एवं योगशास्त्र	१२०-१२२
तन्त्रागमीय दर्शन	१२२-१२५
आगम साहित्य	
तन्त्रागमीय वाङ्मय	१२६-१३५
सिद्ध और सहजयान	१३५-१३८
भक्ति आन्दोलन	१३८-१४१
सन्त कबीर के प्रेरक तत्त्व	१४१-१४३
तन्त्रागमशास्त्र की सामयिक उपयोगिता	१४३-१४७
विश्वसंस्कृति	
समता-दृष्टि	१४८-१५०
विश्वाहन्ता	१५०-१५३
विश्वसंस्कृति	१५३-१५६
विश्वसंस्कृति का क्रमिक विकास	१५६-१५९
विश्वदृष्टि	१५९-१६१
विश्वव्यवहार	१६१-१६५
पूर्ण योग	१६५-१६८
अखण्ड महायोग	१६८-१७१
सामूहिक नेतृत्व	१७१-१७२
संभूय समुत्थान	१७३-१७४
उपसंहार	१७५-१९०
विषयानुक्रमणी	१९१-२००

✿ ✿ ✿

प्रकाशकीय अभिमत

भूमण्डलीकरण का नारा आज चारों ओर गूँज रहा है। दो विश्व महायुद्धों से जो अपार जन-धन की हानि हुई, उसकी भरपाई कैसे हो? कुछ वर्ष पहले तक शीतयुद्ध की लहर चल रही थी। काल की गति के अनुसार सोचने-समझने की बुद्धि बदलती रहती है। विश्व के शक्तिशाली राष्ट्र अब विश्वशान्ति की बात बार-बार दुहरा रहे हैं, किन्तु विश्व-बन्धुत्व की चेतना अछूती है, फिर भी विश्वशान्ति के लिए उपाय सोचे जा रहे हैं। भारत ने कभी विश्व को यह सन्देश दिया था—'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग भवेत॥'। यदि मानव-धर्म के परिप्रेक्ष्य में विवेकपूर्वक सुप्रयास किया जाय, तो अशान्ति, असहिष्णुता, घृणा और परस्पर विरोधी मतवादों की कटुता कम हो सकती है। इसी पृष्ठभूमि में इस ग्रंथ के लेखक और प्रबुद्ध चिन्तक श्री व्रजवल्लभ द्विवेदी ने विश्व में परस्पर विरोधी और अविरोधी अनेक प्रचलित धर्मों का तलस्पर्शी परीक्षण कर एक विश्व, एक संस्कृति को मानव-धर्म का सार्वभौम स्वरूप प्रदान करने का गम्भीर चिन्तन और प्रशंसनीय प्रयास किया है। आगम-तंत्रशास्त्र के पारंगत विद्वान् द्विवेदीजी ने अनेक धार्मिक मतवादों का आलोडन कर एक विश्व, एक संस्कृति का सुगम एवं परिनिष्ठित मार्ग प्रशस्त किया है। समय की मांग है कि विश्व-बन्धुत्व के लिए सघन प्रयास किया जाय और विवेकसम्मत समाधान प्रस्तुत करने का द्वन्द्वरहित दृष्टि से पग उठाया जाय। विद्वान् लेखक ने प्रचलित सभी धर्मों में प्रतिपादित आधारभूत तत्त्वों का सूक्ष्म विवेचन कर एक विश्व, एक संस्कृति के माध्यम से मानव-धर्म की अखण्डता को सुरक्षित रखने का सन्देश दिया है।

पुरुषोत्तमदास मोदी

प्रस्तावना

जब से मैंने लिखना आरंभ किया, शास्त्र के साथ संस्कृति भी मेरे लेखन का प्रिय विषय रहा है। इधर वाराणसी के 'आज' में मेरे कुछ लेख प्रकाशित हुए। इनको 'आज' परिवार के ही संपादक-मण्डल के पूर्व सदस्य श्री पारसनाथ सिंह जी ने खूब सराहा। ये हिन्दी के प्रमुख प्रकाशक, विश्वविद्यालय प्रकाशन के संस्थापक श्री पुरुषोत्तम दास मोदी जी के पड़ोसी हैं। इन दोनों में परस्पर विचार-विमर्श हुआ और मोदी जी ने मुझे फोन पर सूचित किया कि आप इन्हीं विचारों को अभिव्यक्ति देने वाली एक छोटी पुस्तक लिखकर प्रकाशन के लिए हमें दे दें। मैंने उनके सुझाव को सहर्ष स्वीकार कर लिया। मैंने कहा कि इस पुस्तक का नाम क्या हो? अपने कुछ शीर्षक भी सुझाये। श्री पारसनाथ जी ने और श्री मोदी जी ने भी इनमें से 'एक विश्व : एक संस्कृति' नाम को अपनी स्वीकृति दी, जो मुझे भी अभीष्ट था। अब स्वर्गीय, प्रो० लक्ष्मीनारायण तिवारी से इस तरह के प्रसंगों पर मैं उनकी राय लिया करता था। उनके निर्वाणलाभ के कुछ ही दिन पहले उन्होंने भी इस नाम पर अपनी अन्तिम मुहर लगा दी थी। यही है इस ग्रन्थ के लेखन में प्रवृत्त होने की कहानी।

अमेरिका के तत्कालीन राष्ट्रपति रूजवेल्ट के व्यक्तिगत प्रतिनिधि के रूप में मिस्टर वेन्डेल विल्की ने भारत को छोड़कर लगभग पूरे विश्व का भ्रमण कर सन् १९४२ ई० में एक पुस्तक लिखी थी—'वन वर्ल्ड'। सन् १९४५ ई० में उसका "एक ही दुनिया" के नाम से हिन्दी संस्करण निकला। कल्याणमित्र स्व० प्रो० जगन्नाथ उपाध्याय जी को पुस्तक खरीद कर पढ़ना अच्छा लगता था। छात्रावस्था से ही उनकी यह प्रवृत्ति सक्रिय थी। उन दिनों हम लोग राजकीय संस्कृत महाविद्यालय के छात्रावास में रहते थे। उनकी खरीदी पुस्तकों में से कुछ को मैं भी पढ़ लिया करता था। यह पुस्तक भी उनमें से एक थी। सौभाग्य से उनके प्रिय शिष्य प्रो० राधेश्यामधर द्विवेदी जी ने अपने यहाँ सुरक्षित उनके पुस्तक-संग्रह से इस पुस्तक को मुझे सुलभ करा दिया। अपनी पुस्तक का यह नाम चुनते समय उस पुस्तक का केवल शीर्षक मेरे दिमाग में घूम रहा था। ग्रन्थ के विषय में एक वाक्य में कहा जाय, तो मिस्टर विल्की की पुस्तक का प्रयोजन पूरी दुनिया पर अमेरिकी प्रभाव को स्थापित करना था। यह प्रक्रिया आज भी चल रही है। उसमें दुनिया के लिए शान्ति का कोई संदेश नहीं दिया गया था। प्रस्तुत पुस्तक का प्रयोजन पूरी दुनिया में परस्पर सामंजस्य की स्थापना और सांस्कृतिक धरातल पर सौहार्द एवं शान्ति की कामना है—"उत्पत्स्यते नु मम कोऽपि समानधर्मा कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी" महाकवि भवभूति की यह उक्ति हमारा संबल है।

आज के विश्व में परस्परविरोधी और अविरोधी अनेक धर्म प्रचलित हैं। इनमें कर्मकाण्ड की प्रधानता के रहते हुए भी आध्यात्मिक तत्त्वों की कमी नहीं है।

कर्मकाण्ड के धरातल पर इनमें परस्पर विरोध दिखाई देने पर भी इनकी आध्यात्मिक दृष्टि में बहुत समानता है। इसके आधार पर इनमें परस्पर सामंजस्य बैठाया जा सकता है। भारत में ऐसा हुआ भी है। ''भारतीय संस्कृति के नये आयाम'' शीर्षक ग्रन्थ में हमने संस्कृति-संगम प्रथम, संस्कृति-संगम द्वितीय, सुधारवादी आन्दोलन जैसे शीर्षकों से इस प्रक्रिया पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है। प्रसिद्ध भारतीय ज्योतिर्विद् वराहमिहिर ने आज से डेढ़ हजार वर्ष पूर्व एक ही श्लोक में इसका अच्छा समाधान दिया है कि व्यक्ति जिस किसी भी देवता की उपासना, उसके द्वारा बताई गई पद्धति से ही करे। पंचायतन और षडायतन पद्धति से भारत में तो यह भी हुआ है कि व्यक्ति अपने इष्टदेव की प्रधान रूप से उपासना करता हुआ, अन्य सम्प्रदायों के देवताओं की उपासना भी उन-उन शास्त्रों में प्रदर्शित विधि से कर सकता है। आज की दुनिया में अन्य धर्मों के साथ इस्लाम और ख्रीष्ट धर्म का सामंजस्य अभी नहीं बैठ पाया है। वराहमिहिर की पद्धति से इनमें परस्पर सौहार्द बने, आज यह ***एक विश्व*** की कल्पना की प्रथम आवश्यकता है।

सभी धर्मों में आध्यात्मिक चर्चा भी मिलती है। इन आध्यात्मिक तत्त्वों के आधार पर ही हम प्रत्येक धर्म के परस्पर अविरोधी कर्मकाण्डों को मान्यता दे सकते हैं और आपस के विरोध को शनैः-शनैः कम करते हुए आगे बढ़ सकते हैं। धर्म के आध्यात्मिक तत्त्वों के आधार पर ही दुनिया में अनेकविध संस्कृतियों का विकास हुआ है। धार्मिक कर्मकाण्ड की अपेक्षा धर्म की यह आध्यात्मिकता, जिसे हम संस्कृति के नाम से पुकारते हैं, विभिन्न धर्मों के अभिमानियों में आपस में सामंजस्य बैठाने का प्रमुख साधन हो सकती है। इसके लिए हमें संस्कृति के परिनिष्ठित स्वरूप के निर्माण में प्रवृत्त होना पड़ेगा। यह कार्य कैसे हो, इसके लिए हमने अपने कुछ विचार यहाँ प्रस्तुत किये हैं।

अध्यात्म भीतर झाँकता है, वह बाहर नहीं देखता। इसके विपरीत आधुनिक भौतिक विज्ञान केवल बाहरी दुनिया को देखता है, मनुष्य की आन्तरिक प्रवृत्तियों पर वह ध्यान नहीं देता। मनोविज्ञान के आधार पर अध्यात्म में और भौतिक विज्ञान में भी परस्पर सामंजस्य स्थापित हो, इस विषय पर पूरी दुनिया का ध्यान आकृष्ट होना चाहिए। हमने कहीं लिखा है कि भारतीय आगम-तन्त्रशास्त्र ने अध्यात्म को बाहर लाने का प्रयत्न किया है और वही विज्ञान को मानवीय अन्तरात्मा के आलोडन के लिए भी प्रेरित करेगा। पूरे विश्व के विज्ञ विचारकों को इस पर विचार करना चाहिए। तभी विज्ञान द्वारा पैदा की गई अणुबम की बिभीषिका से मानवजाति मुक्त हो सकेगी। अध्यात्म और विज्ञान के इस तरह के समन्वय के बाद ही ***एक संस्कृति*** का निर्माण सम्भव हो सकता है।

"प्रांशुलभ्ये फले मोहादुद्बाहुरिव वामन:" महाकवि कालिदास की इस उक्ति के अनुसार इसके लिए यहाँ किया गया यह प्रयत्न मात्र *बोने का ब्रह्मदर्शन* बन कर रह सकता है, तो भी वेदारण्यक से लेकर महात्मा गाँधी तक की भारतीय मनीषियों की यह आध्यात्मिक यात्रा इसका पथ प्रशस्त कर चुकी है। इसी दृढ़ विश्वास के साथ हम यह लघु प्रयास कर रहे हैं।

इस ग्रन्थ को पाँच अधिकारों में विभक्त किया गया है। उनके प्रतिपाद्य विषयों का लेखाजोखा इस प्रकार है—

सार संक्षेप

प्रथम अधिकार में हमने सभ्यता, संस्कृति और साहित्य की सामान्य चर्चा करने के उपरान्त उनका विनियोग विश्वसंस्कृति के विकास में किस प्रकार किया जा सकता है? इसकी संक्षेप में चर्चा की है और बताया है कि इसके लिए साधक एवं बाधक तत्त्वों का विश्लेषण कर लेना आवश्यक है। विभिन्न धर्मों और संस्कृतियों के आपस के संघर्ष के उल्लेख के साथ भारतीय संस्कृति में स्वभावत: विश्वसंस्कृति के बीज विद्यमान हैं, इस विषय की भी चर्चा यहाँ की गई है और बताया गया है कि इसके लिए बाधक तत्त्वों के परिहार की पहले आवश्यकता है। यहाँ बारह शीर्षकों में इन बाधक तत्त्वों का परिचय दिया गया है, जिनके कारण यह देश एक राष्ट्र, एक संस्कृति और एक भाषा के माध्यम से आगे नहीं बढ़ सका। एक वाक्य में हम कह सकते हैं कि इस अधिकार में हमने सेमेटिक धर्मों की अपेक्षित समालोचना की है।

द्वितीय अधिकार में धर्म और संस्कृति से संबद्ध नाना प्रश्नों को उठाया गया है। धर्म को आजकल दो दृष्टियों से देखा जाता है—एक तो कर्मकाण्ड-प्रधान और दूसरी नैतिकता-प्रधान, जिसे हम धर्म का आध्यात्मिक स्वरूप मान सकते हैं। सभी धर्मों के कुछ परस्पर-विरोधी कर्मकाण्डों के कारण आज विभिन्न संस्कृतियों के बीच उत्कट संघर्ष चल रहा है। संप्रदाय शब्द भी आजकल दो तरह की दृष्टियों में बँट गया है। कुटिल राजनीति को नियमित कर पाना कठिन होता जा रहा है। पूरे विश्व में व्याप्त असहिष्णुता को हटाकर ही हम सहिष्णुता का विकास कर इस स्थिति से निपट सकते हैं और भारतीय संस्कृति के समग्र स्वरूप को हृदयंगम कर पूरे देश में भावात्मक एकता की स्थापना कर सकते हैं। इसीलिए हमने इस अधिकार में भारतीय मूल के सभी धर्मों की समीक्षा कर निगमागम के नाम से प्रसिद्ध संपूर्ण भारतीय वाङ्मय के आधार पर संस्कृति के परिनिष्ठित स्वरूप पर विचार किया है।

भावात्मक एकता की पुष्टि के लिए तृतीय अधिकार में तन्त्रागमीय दर्शन को प्रस्तुत किया गया है, जिसके आधार पर परलोक, भाग्यवाद, ह्रासवाद, युगव्यवस्था

जैसी चिरकाल से भारतीय समाज को भरमानेवाली समस्याओं से निपटा जा सके। इसके साथ ही यहाँ अभ्युदय और निःश्रेयस, भोग और मोक्ष, बन्ध और मोक्ष जैसे शब्दों की पारलौकिक व्याख्या के साथ उनके ऐहलौकिक स्वरूप को भी स्पष्ट किया गया है। सांख्य-योग दर्शन की पृष्ठभूमि में विकसित तन्त्रागमीय दर्शन के उस स्वरूप को भी यहाँ स्पष्ट किया गया है, जिसके अनुसार यह जगत् भी अपने परम तत्त्व के समान ही परम सत्य है, उससे अभिन्न है। इस दर्शन की सहायता से जीवन्मुक्त दशा में पहुँचा प्रत्येक मानव अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो सकता है, अपने स्वरूप का साक्षात्कार कर सकता है।

तन्त्रागमशास्त्र में गुरु के अतिरिक्त शास्त्र एवं स्वसंवेदन (निजी प्रतिभा) को भी ज्ञान की प्राप्ति का साधन माना गया है। बौद्ध तान्त्रिक स्वतः (स्वसंवेदन) के अतिरिक्त परतः (परसंवेदन) की भी इसमें गणना करते हैं। इन्हीं दृष्टियों को ध्यान में रखकर यहाँ चतुर्थ अधिकार में तन्त्रागमीय वाङ्मय के अतिरिक्त सिद्धों और भक्तों की अनुभूतियों की भी चर्चा की गई है और बताया गया है कि इस पृष्ठभूमि में पूरे विश्व के, संपूर्ण मानवता के कल्याण के लिए इस शास्त्र की और सिद्धों एवं सन्तों की उत्कृष्ट अनुभूतियों की कितनी उपयोगिता है।

इसी सातत्य में पंचम अधिकार में संपूर्ण मानवता के प्रति समता दृष्टि के माध्यम से विकसित होनेवाली विश्वाहन्ता और विश्वसंस्कृति के क्रम को दिखाते हुए विश्वदृष्टि और विश्वव्यवहार का विश्लेषण किया गया है। मानव-मन को इस स्थिति तक पहुँचाने के लिए यहाँ योगी अरविन्द के पूर्ण योग और महामनीषी श्रद्धेय गोपीनाथ कविराज के अखण्ड महायोग की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को स्पष्ट किया गया है। अन्त में बताया गया है कि इसके लिए पूरे विश्व में सामूहिक नेतृत्व एवं संभूय-समुत्थान की भावना का विकास अपेक्षित है। उसी स्थिति में ***एक विश्व : एक संस्कृति*** की कल्पना साकार हो सकती है।

इस प्रकार क्रमशः प्रथम अधिकार से पंचम अध्याय पर्यन्त सोपान-क्रम से मानव के मन को उन्नति की ओर ले जाने का, उसकी प्रभास्वरता को निखारने का एक लघु प्रयास किया गया है। उपसंहार में कुछ महत्त्वपूर्ण बातों पर विद्वान् पाठकों का ध्यान आकृष्ट करने का पुनः प्रयत्न किया गया है। यह लेखक इसमें कितना सफल हुआ है, इसके लिए तो महाकवि कालिदास की इस उक्ति को उद्धृत करना ही पर्याप्त है—

आ परितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।

स्व-निवेदन

धर्मशास्त्रों में कलिवर्ज्य प्रकरण में वेदों की मान्यता को स्थगित कर दिया गया है। व्याकरणशास्त्र में—''यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्'' इस उक्ति के अनुसार पाणिनि

मुनि की अपेक्षा कात्यायन मुनि को और कात्यायन मुनि की अपेक्षा पतंजलि मुनि को वरीयता दी गई है। यही नियम श्रुति, स्मृति, पुराण, धर्मशास्त्र आदि पर भी लागू किया जा सकता है। युगव्यवस्था के अनुसार कलियुग में तन्त्रागमीय दृष्टि को प्रधानता मिली हुई है। इस सनातनी दृष्टि का अनुसरण करते हुए ही हमने प्रथम अधिकार में बाधक तत्त्वों की समीक्षा इसी पद्धति से की है। सही समालोचना को स्वीकार कर लेना भारतीय संस्कृति का विशेष गुण है। यहाँ रहनेवाले सभी धर्मों के अनुयायियों को इस सही प्रवृत्ति का अनुसरण करना चाहिए। आचार्य नरेन्द्रदेव के कथन के अनुसार हमें संस्कृतियों के कालातीत तत्त्वों का परित्याग अवश्य कर देना चाहिए। ऐसा करने से किसी भी संस्कृति की कोई हानि नहीं होगी, प्रत्युत उसमें एक अनोखी उज्वलता आवेगी। इस विषय पर भारत में विद्यमान सभी धर्मों के धर्माध्यक्षों को मिल-जुल कर विचार करना चाहिए। समालोचना का उत्तर बिना आक्रोश में आये सोच-समझ कर दिया जाय, इसीमें विश्व का, भारत का और उनका भी हित है।

प्राचीन भारत में परस्पर-विरोधी भावों और विचारों में सामंजस्य बैठाने के लिए, उनमें आपात रूप से दिखाई पड़नेवाले विरोध के परिहार के लिए प्रयत्न किया गया था। उदाहरण के रूप में महर्षि बादरायण के ब्रह्मसूत्र के प्रथम और द्वितीय अध्यायों के नाम प्रस्तुत किए जा सकते हैं। इनके नाम हैं—समन्वयाध्याय और अविरोधाध्याय। आयुर्वेद की संहिताओं में विद्वत्परिषदों का उल्लेख मिलता है, जिनमें शास्त्र और समाज के सामने उपस्थित समस्याओं का समाधान खोजा जाता था। आज इस प्राचीन देश में धर्मनिरपेक्ष और साम्प्रदायिक, प्रगतिशील और प्रतिगामी जैसे शब्दों का प्रयोग क्या सही परिप्रेक्ष्य हो रहा है? क्या ब्राह्मणवाद, मनुवाद, वर्णाश्रमव्यवस्था जैसे कालातीत शब्दों को पुन: जिलाने का निरर्थक प्रयास नहीं हो रहा है? क्या पाँच हजार वर्ष ही सही, समस्त भारतीय अवदानों को भगवाकरण के नाम पर कलंकित करने की प्रवृत्ति काम नहीं कर रही है? क्या समस्त भारतीय धर्मों की अवहेलना कर धर्मान्तरण के माध्यम से अराष्ट्रीयता को बढ़ावा नहीं दिया जा रहा है? इन प्रश्नों का समाधान अपेक्षित है।

भारत की जिन समस्याओं को आज बढ़ा-चढ़ा कर प्रस्तुत किया जाता है, उसका समाधान यहाँ बहुत पहले खोज लिया गया था। ''दुराग्रह से मुक्ति'' (पृ० ३८-४२) प्रकरण में इसको देखा जा सकता है। इस पूरी सामग्री के परिप्रेक्ष्य में हम भारतीय समाज में घुसी ऊँच-नीच की दृष्टि का परिष्कार कर सकते हैं। हमें तान्त्रिक रहस्यवाद की मृगतृष्णा में न भटक कर आगम-तन्त्रशास्त्र के उस सामाजिक परिवेश, परहित-कातरता और विश्वजनीन दृष्टिकोण को अपनाना चाहिए, जिसका अनुसरण इतिहास-

पुराण के ग्रन्थों में तथा पूरे भारत में फैले सन्त-साहित्य में भी हुआ है। सूफी सन्तों की भी गणना हम इनमें कर सकते हैं।

वर्तमान समय में यह कार्य संस्कृति के माध्यम से हो सकता है। इसके लिए हमें वेदों से लेकर सन्तों एवं महात्मा गाँधी तक की पूरी भारतीय उदार-परम्परा को मान्यता देनी होगी, जिसकी इस ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर चर्चा की गई है। भारतीय संस्कृति के समग्र स्वरूप की चर्चा करते हुए यहाँ (पृ० ९२) हमने इसकी वैदिक, औपनिषद, जैन, बौद्ध, पौराणिक (वर्तमान सनातन धर्म), सन्त और इस्लाम-ईसाइयत नाम की सात धाराओं की चर्चा की है। इन सभी धाराओं में सहिष्णुता और समन्वय के आधार पर सामंजस्य स्थापित कर हम पहले एक समग्र भारतीय संस्कृति के और तदुपरान्त एक विश्व संस्कृति के निर्माण का पथ प्रशस्त कर सकते हैं। सभी धर्मों के अनुयायी भारत में बसते हैं। सांस्कृतिक आधार पर ये सब यदि मिल-जुल कर रहना सीख जाँय, तो अनायास ही यह कार्य पूरा हो सकता है।

भारत में तो धर्मों के माध्यम से भी यह कार्य हुआ है। स्मार्त-धर्म के नाम से वह जाना जाता है। पाँचवीं-छठी शताब्दी के विष्णुधर्मोत्तरपुराण में इसकी एक झलक हमें देखने को मिलती है। आज भी यह कार्य हो सकता है। इसके लिए हमें ईमानदारी से धर्म के आध्यात्मिक स्वरूप को समझना होगा, सभी मतों के विरोधी कर्मकाण्डों को छोड़ कर राम-कृष्ण, बुद्ध-महावीर, जरथुष्ट्र, सुकरात, ईसामसीह, हजरत मुहम्मद के साथ सन्तों और गुरुओं के उन उपदेशों का सार संगृहीत करना होगा, जो मानव-मन का विस्तार कर उसे महात्मा बना सकते हैं, सभी धर्मों के प्रति समादरभाव जगा सकते हैं। भारत में पंचायतन, षडायतन, षड्दर्शन आदि के रूप में इसको मान्यता मिली थी। आगम-तन्त्रशास्त्र, पुराण और सन्त साहित्य के माध्यम से यह कार्य हुआ था। ''तन्त्रागमीय धर्म-दर्शन'' में हमने वैष्णव, शैव, शाक्त, बौद्ध, जैन और स्मार्त धर्मों की तुलनात्मक समीक्षा की है। उससे प्रतीत होता है कि इन सभी धर्मों में परस्पर कितना सामंजस्य स्थापित हो गया था। महान् कश्मीरी विद्वान् अभिनवगुप्त की निगम और आगम की परिभाषा में तो हम विश्व के सभी धर्मों और धार्मिक ग्रन्थों को आदरणीय स्थान दे सकते हैं। संक्षेप में हम इतना ही कहना चाहते हैं कि एक विश्व और एक संस्कृति की सिद्धि के लिए जो कुछ भी संभव हो सकता है, उस पर यहाँ हमने यथामति प्रकाश डालने का प्रयास किया है, साथ ही समस्त राष्ट्रीय ज्वलन्त समस्याओं के ऊपर भी।

आभार प्रदर्शन

इस ग्रन्थ की रचना के लिए प्रेरित करने वाले तथा अन्य प्रकार की सहायता करने वाले महानुभावों की चर्चा इस प्रस्तावना अथवा ग्रन्थ के उपसंहार में भी की गई है।

हम उन सभी नवीन एवं प्राचीन आचार्यों के प्रति भी नतमस्तक हैं, जिनकी रचनाओं की सहायता से इस ग्रन्थ के निर्माण में सहायता मिली। मूलत: इस ग्रन्थ को यह वर्तमान स्वरूप देहरादून में दिया जा सका, जहाँ मई-जून मास की गर्मी के त्रास से बचने के लिए मेरे निवास की व्यवस्था हो सकी। इस व्यवस्था के नियामक सारनाथ के केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान के प्राध्यापक-द्वय डॉ० वाङ्चुग् दोंजे नेगी तथा डॉ० टशी सम्फेल थे। इन्हीं की प्रेरणा से इस अवधि में मैं वहाँ के त्रिकुङ् कार्ग्युद इंस्टीट्यूट में रहा। वहाँ के प्रिंसिपल श्री खेम्पो कोनचुक रागडोल, जनरल सेक्रेटरी लामा छोननिट और कोषाध्यक्ष एवं व्यवस्थापक कान्छोक दोर्जे की देखरेख में मैंने यह लेखन-कार्य पूरा किया। किन शब्दों में मैं इनके प्रति अपना आभार प्रकट करूँ। काकासाहब कालेलकर की पुस्तक "समन्वय संस्कृति की ओर" को सुलभ कराने और समय-समय पर समुचित सलाह देने वाले सुहृत्प्रवर श्री सत्यप्रकाश मित्तल जी के प्रति और इस ग्रन्थ के सभी महत्त्वपूर्ण अंशों को लगातार पाँच दिनों तक धैर्यपूर्वक सुनकर प्राचीन पांचरात्र धर्म के पांचरात्र सत्र की नई आवृत्ति करनेवाले एवं अनेक उपयोगी सुझाव देने वाले प्रसिद्ध नृवंशशास्त्री डॉ० वैद्यनाथ सरस्वती जी के प्रति भी मैं अपना आभार प्रकट करता हूँ।

वाराणसी विद्वद्वशंवद

तुलसीदास जयन्ती, २०५९ वि० *व्रजवल्लभ द्विवेदी*

स्वतन्त्रता दिवस, २००२ ई० **राष्ट्रिय पंडित**

एक विश्व
एक संस्कृति

एक विश्व : एक संस्कृति

प्रथम अधिकार

साधक-बाधक तत्त्व

सभ्यता, संस्कृति और साहित्य

आजकल इन शब्दों की प्रवृत्ति जिन अर्थों में की जाती है, वे नवीन ही माने जाते हैं। प्राचीन भारतीय वाङ्मय में *"साहित्यसंगीतकलाविहीन:"* जैसे स्थलों पर साहित्य शब्द प्रयुक्त हुआ है, किन्तु यह शब्द यहां शास्त्रविशेष में रूढ़ है। इसी तरह संस्कृति शब्द का प्रयोग संस्कार के अर्थ में किया जाता है। अब पाश्चात्य समाज के लिटरेचर और कल्चर शब्दों के अनुवाद के रूप में इनका प्रयोग होने लगा है। इसी तरह साहित्य शब्द अपने पुराने अर्थ को छोड़कर सम्पूर्ण वाङ्मय के लिए तथा संस्कृति शब्द मानव जीवन की विशेषताओं, उनके आधार पर निर्मित वंश-परम्पराओं की विशिष्ट जीवन-प्रणालियों एवं विभिन्न प्रकार के आचार-विचारों को सूचित करता है।

मानव की सृष्टि के साथ ही सभ्यता और संस्कृति का भी विकास होने लगता है। किसी विद्वान् की यह उक्ति ठीक ही है कि अर्थ से सभ्यता का और धर्म से संस्कृति का निर्माण होता है। साहित्य इसका वाहक एवं स्थापक माना जाता है। इसीलिए भिन्न-भिन्न देशों में विभिन्न धार्मिक एवं दार्शनिक पृष्ठभूमि में विकसित हुईं प्राचीन सभ्यताओं एवं संस्कृतियों का परिचय हमें प्राचीन साहित्य से ही मिल पाता है। प्राचीन ईजिप्ट, ग्रीक, रोम आदि देशों की समृद्ध संस्कृति से और वहाँ की सभ्यता से हम वहाँ के पुरावशेषों की सहायता से ही परिचित हो पाते हैं। मानवीय युद्धोन्माद अथवा अपनी उपेक्षा के कारण अधिकांश प्राचीन साहित्य नष्ट हो गया है। अनेक देशों ने और वहाँ रहने वाली मानव-जातियों ने आक्रामक देशों की साहित्य-संस्कृति से प्रभावित होकर उनको स्वीकार कर लिया और अपना सब कुछ भुला बैठे। बहुत थोड़े से ही ऐसे देश हैं, जो अपने साहित्य और संस्कृति की रक्षा करते हुए दूसरों के साहित्य और संस्कृति से भी लाभान्वित हुए। ऐसे देशों में हम भारत और चीन का नाम गौरव के साथ ले सकते हैं।

संस्कृति नदी के जल के समान सतत गतिशील रहती है। निरन्तरता और गतिशीलता इसके स्वाभाविक गुण हैं। सभी देशों की सभ्यताओं एवं संस्कृतियों में

इनको देखा जा सकता है। आप भारतवर्ष को ही लीजिए। सर्वप्रथम यहाँ वैदिक[१] वाङ्मय का विस्तार हुआ। बाद में जैन एवं बौद्ध धर्म के विकास के साथ इनके साहित्य का भी विस्तार हुआ। पाश्चात्य विद्वानों ने और उनका अनुसरण करने वाले भारतीय विद्वानों ने भी इसे श्रमण-साहित्य नाम दिया। इन्हीं के आधार पर वैदिक (ब्राह्मण) संस्कृति और श्रमण संस्कृति नाम चल पड़ा[२]। अनेक भारतीय विद्वान् भी इस विभाग से सहमत लगते हैं। इसके औचित्य पर विचार करना पड़ेगा। हिमालय, गंगोत्री से निकल कर भगवती गंगा की पावन धारा हजारों वर्षों से निरन्तर बहती हुई भारत-भूमि को और भारती प्रजा को तन और मन से पवित्र करती रही है। स्थान-स्थान पर छोटी अथवा बड़ी नदियाँ इसमें मिलती हैं। इसके कारण इसके नाम में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। अतिपवित्र त्रिवेणी-संगम पर कुछ दूरी तक गंगा और यमुना की धाराएँ अलग-अलग बहती हुई लगती हैं, किन्तु अन्ततः वे भी एकाकार हो जाती हैं। इसी तरह हमारी यह भारतीय संस्कृति है। समय-समय पर बाहरी या भीतरी संस्कृतियाँ इसमें आकर मिल गई हैं। इतने मात्र से नाम में परिवर्तन कर देना कहाँ तक उचित माना जायगा। अनेक नदियों का गंगा के साथ संगम होने पर भी उसके नाम में कोई परिवर्तन नहीं हुआ, तो भी उन-उन कुछ विशिष्ट नदियों का संगम होने पर उनकी क्षणिक विशेषताओं का आभास होने ही लगता है। वन, पर्वत आदि स्थानों का प्रभाव भी पड़ता ही है। गंगोत्री, हृषीकेश, हरिद्वार आदि पर्वतीय स्थानों में तथा प्रयाग, वाराणसी, पटना जैसे मैदानी स्थानों में बह रही भगवती गंगा की विशेषताओं में स्पष्ट अन्तर देखने को मिलता है। यही स्थिति संस्कृति-गंगा की भी है। नाम में परिवर्तन न होने पर भी उसके स्वरूप में कुछ न कुछ परिवर्तन आ ही जाता है।

इसी तरह वैदिक साहित्य के आधार पर विकसित भारतीय संस्कृति में जैन और बौद्ध साहित्य से विकसित श्रमण-संस्कृति नाम की धारा कुछ समय तक अपना स्वतन्त्र स्वरूप दिखा कर अन्त में उसीमें विलीन हो गई। अब वैदिक (ब्राह्मण) संस्कृति अथवा श्रमण संस्कृति की पृथक् चर्चा छल-छद्म से भरी कपटनीति का खेल खेलने वाले पाश्चात्यों का प्रचारमात्र है। आज उनकी कोई वास्तविक स्थिति नहीं रह गई है। तन्त्रागमीय एवं पौराणिक धारा में वे एकाकार हो चुकी हैं। वैदिक संस्कृति के

१. आजकल वैदिक वाङ्मय के लिए ब्राह्मण-साहित्य शब्द प्रयुक्त हो रहा है। प्रारंभिक बौद्ध वाङ्मय में यह शब्द प्रयुक्त हुआ है। ब्रिटिश कुटिलनीति ने संपूर्ण बौद्ध जगत् से भारत को अलग-थलग कर देने के लिए इस शब्द को अपना लिया। आजकल ब्राह्मणवाद के रूप में इस शब्द को जिलाया जा रहा है। ध्यान देने की बात यह है कि जैन साहित्य में वैदिक शब्द ही प्रयुक्त है, ब्राह्मण शब्द नहीं। आगे पृ० ५५ भी देखिए।

२. ब्राह्मण और श्रमण शब्दों के स्थान पर हमें ऋषि और मुनि शब्द अधिक सौम्य लगते हैं। इन शब्दों पर हमने आगे (पृ० ४५) विचार किया है।

साथ मिलकर श्रमण संस्कृति में धीरे-धीरे जो परिवर्तन आया, उसे हम भारतीय संस्कृति से कभी भी जुदा नहीं कर सकते।

कालक्रम से न्याय-वैशेषिक आदि विविध दर्शनों का, भागवत-पाशुपत आदि सम्प्रदायों का, विभिन्न तन्त्रागमीय शाखाओं तथा विशाल पुराण-उपपुराण वाङ्मय का यहाँ प्रादुर्भाव हुआ। इसी तरह से यवन (यूनानी), शक, हूण जैसी जातियाँ बाहर से आकर यहाँ बस गईं। इन सबका थोड़ा-बहुत प्रभाव भारतीय संस्कृति पर पड़ा ही है, किन्तु इसके कारण संस्कृति-गंगा के पावन प्रवाह में कोई व्यवधान नहीं आया। सहसा एक प्रबल झंझावात ने इसको झकझोर दिया।

× × × ×

विदेशों में प्रायः देखा गया है कि परस्परविरोधी संस्कृतियों का संघर्ष हुआ। इनमें से एक पराजित हुई। पराजित संस्कृति के स्थान पर नूतन विजयिनी संस्कृति का वर्चस्व स्थापित हुआ। परस्परविरोधी संस्कृतियों और उनके अनुयायियों के बीच युद्ध होते रहते थे और विजयी पक्ष पराजित पक्ष की साहित्य-संस्कृति को पूरी तरह से नष्ट कर देता था। धीरे-धीरे प्राचीन संस्कृति के स्थान पर नई संस्कृति अपना अधिकार जमा लेती थी। मिस्र, यूनान, रोम आदि की संस्कृति-सभ्यता का हम यह हश्र देख चुके हैं। जेन्द-अवेस्ता के आधार पर विकसित प्राचीन पारसीक संस्कृति की रक्षा भारत में ही हो सकी। यहूदियों और ईसाइयों का एक प्रताड़ित वर्ग भी भारत में ही शरण पा सका। भारतीय संस्कृति ने भारत के बाहर भी दुनिया के विस्तृत क्षेत्र में परमपावन ज्ञान के आलोक को फैलाया, किन्तु उसमें हठवाद का कोई स्थान नहीं था। शान्ति और प्रेम के सहारे ही उसने यह कार्य किया।

अन्य विदेशी, प्राचीन अथवा अर्वाचीन संस्कृतियों में यह विशेषता नहीं थी। पुरानी संस्कृति को जड़-मूल से उखाड़-फेंक कर उसके स्थान पर अपना साम्राज्य स्थापित करना इनका पवित्र उद्देश्य था। इनमें से ही एक ने एशिया के विशाल क्षेत्र के और यूरोप के भी कुछ हिस्सों में तलवार के बल से अपना विस्तार किया। इसी अभिप्राय से इसने भारत में भी प्रवेश किया। इससे पहले भी भारत पर इस तरह के अनेक आक्रमण हुए थे, किन्तु वे सब अन्ततः भारतीय संस्कारों के साथ एकाकार हो गये। नई आक्रामकता इतनी सहिष्णु नहीं थी, अपने राजनीतिक प्रभाव और स्वभाव की उग्रता के कारण इसने भारतीय साहित्य, संस्कृति और सभ्यता के मूल सिद्धान्तों को उखाड़-फेकने का प्रयत्न किया, किन्तु भारतीय संस्कार इतने कमजोर नहीं थे। लंबे समय तक यह द्वन्द्व चलता रहा। अन्ततः आक्रामक संस्कृति को यह आभास हो गया कि हम इस संस्कृति पर भारी नहीं पड़ सकते। परिणामतः परस्पर का विरोध शिथिल पड़ता गया। सन्त-साहित्य और सूफी-साहित्य ने इसमें अपनी महती भूमिका निभाई

है। यद्यपि बीच-बीच में आक्रामकता ने अपना सिर उठाया, किन्तु आगे चलकर यह ज्यादा पनप न सकी। अब सहिष्णुता की हवा बहने लगी थी। आपस की कटुता भी कालक्रम से कम होती जा रही थी। वह समय बहुत दूर नहीं रह गया था, जब परस्पर विपरीत स्वभाव वाली ये संस्कृतियाँ घुलमिल कर एकाकार हो जातीं। उसी समय इस पवित्र कार्य में विघ्न डालने के लिए ही मानों यूरोपीय शक्तियों का भारत में प्रवेश हुआ।

भारत पर विजय प्राप्त करने के लिए यूरोपीय शक्तियों में जो संघर्ष हुआ, उसमें अन्तत: ब्रिटिश जनों की विजय हुई। अपने साम्राज्य को स्थिर रखने के लिए उन्होंने हिन्दू[३] और मुसलमानों को आपस में लड़ाते रहने में ही अपनी भलाई समझी। इन दोनों को उन्होंने आपस के कलह में ही नहीं फँसाया, वे यहाँ अपनी सभ्यता, संस्कृति और साहित्य के प्रसार में भी लग गये। विशेष कर आदिवासी, पर्वतीय और वनवासी जनों में तथा हिन्दू समाज की दृष्टि से निम्न स्तर की जातियों[४] में प्राचीन संस्कृति के प्रति विराग पैदा कर अपनी भौतिक संस्कृति के प्रचार में ये सफल होने लगे। इस प्रचार से निम्न स्तर की जातियाँ ही क्यों? अंग्रेजी भाषा के माध्यम से उच्च शिक्षा प्राप्त कुलीन व्यक्ति भी इस नवीन भौतिकवादी संस्कृति की चकाचौंध में फँसकर विपथगामी बन बैठे। भारत के सौभाग्य से इसी समय यहाँ सुधारवादी आन्दोलन चल पड़ा और इसके कारण चिरपुरातन अथ च चिरनवीन भारतीय संस्कृति अपनी स्वभाव-गंभीरता को छोड़कर भटक नहीं पायी।

इस तरह से हम देखते हैं कि इतिहास के प्रारम्भिक काल से लेकर आज तक भारतीय संस्कृति ने अनेक तरह के झंझावातों का सामना किया है। अन्य देशों का इतिहास भी इससे अछूता नहीं रहा। प्रारम्भ में हम देखते हैं कि अनेक प्रकार की संस्कृतियाँ प्रचलित रही हैं, किन्तु आज तीन ही प्रमुख संस्कृतियाँ हमारे सामने बची हैं। अन्य संस्कृतियाँ इन्हींमें घुलमिल गई हैं। ये हैं—प्राच्य संस्कृति, पाश्चात्य संस्कृति और मध्यपूर्व की संस्कृति। यद्यपि आधुनिक राजनीति में प्रकट रूप से धर्म का कोई विशेष स्थान नहीं माना जाता, तो भी इन संस्कृतियों पर धर्मों की स्पष्ट पकड़ देखने को मिलती है। जब राजनीति में सम्प्रदायवाद पूरी तरह से समाप्त हो जायगा, तभी विश्वनैतिकता और विश्वसंस्कृति की कल्पना साकार हो सकेगी।

---

३. हिन्दू शब्द हमारा अपना नहीं है। मुसलमान शब्द के साथ मिलकर इसकी भी स्थिति श्रमण-ब्राह्मण जैसी हो गई है। भारतीय मनीषा को इसके स्थान पर नये शब्द की तलाश करनी चाहिए। पृ० ५३-५७ भी देखिए।

४. वर्णाश्रम धर्म एक प्राचीन व्यवस्था है। अब उसका वही स्वरूप नहीं रह गया है। ब्राह्मणवाद के समान मनुवाद के नाम पर समाज में परस्पर घृणा फैलाने की अपेक्षा इनमें फैली हुई ऊँच-नीच की दृष्टि का उपचार अपेक्षित है। धीरे-धीरे यह हो भी रहा है।

सभी सम्प्रदायों और धर्मों में मानव-मन के परिष्कार के लिए उपयोगी सिद्धान्तों को मान्यता मिली है और इनमें कोई मौलिक अन्तर देखने को नहीं मिलता। विश्व के सभी धर्मों की मान्य पुस्तकों में जनजीवन की उन्नति और समाज में सुव्यवस्था की स्थापना में सहायक आध्यात्मिक मूल्यों को विशेष रूप से मान्यता दी गई है। भारतीय दार्शनिकों ने इस तरह के विचारों में परस्पर समन्वय स्थापित करने का स्तुत्य प्रयास किया है। इसी पद्धति से विश्व के सभी धर्मों के आध्यात्मिक तत्त्वों में सामंजस्य स्थापित कर विश्वसंस्कृति के उन्मेष के लिए उपयोगी साहित्य का निर्माण किया जा सकता है। महात्मा गाँधी ने यह कार्य किया। वेदोपनिषद् से लेकर आगम-तन्त्रशास्त्र, सन्त-साहित्य और महात्मा गाँधी तक के भारतीय साहित्य में और पूरे विश्व में विकसित इस तरह की आध्यात्मिक विचार-धाराओं में सामंजस्य बैठाना युग की माँग है। समस्त विश्व के मनीषी मिलकर यह कार्य कर सकते हैं, जिससे यह विश्वमानवता सुख-शान्ति से जी सके।

भारतीय संस्कृति को आज संगीत, नृत्य आदि तक ही सीमित कर दिया गया है, जब कि भारतीय शास्त्रों के अनुसार इनका कला में समावेश माना जाता है। देश की भौतिक समृद्धि को सभ्यता और आध्यात्मिक समृद्धि को संस्कृति कहा जा सकता है। संस्कृति की गलत अवधारणा के ही कारण आज भारतीय संस्कृति विकृति की ओर पर्याप्त आगे बढ़ चुकी है और पूरे भारतीय समाज को हीनग्रन्थि से जकड़ती जा रही है। इसी हीनग्रन्थि के कारण यह अपने ऊपर लगाये जा रहे गलत आक्षेपों का भी सही उत्तर देने में असमर्थ-सा हो गया है। अल्पसंख्यक आयोग या मानवाधिकार आयोग जैसी संस्थाएँ भी संस्कृति की इस विकृति के चंगुल में फँस गई हैं। अल्पसंख्यकों और तथाकथित प्रताड़ित जातियों के प्रतिनिधियों से पूछा जाना चाहिए कि वे अपने मानसिक विकास में किन बाधाओं को देखते हैं? क्या इनको सभ्य आचरण करने से कोई रोकता है? क्या कुछ विधानसभाओं और लोकसभा के कुछ सदस्यों का आचरण भारतीय सभ्यता और संस्कृति के अनुरूप माना जाएगा?

प्रो० राजाराम शास्त्री[५] जी ने भी संस्कृति के भौतिक और आध्यात्मिक विभाग करके बताया है कि भौतिक संस्कृति को सभ्यता भी कहते हैं। वस्तुतः देखा जाय तो सभ्य समाज की आध्यात्मिक उन्नति संस्कृति के और भौतिक उन्नति सभ्यता के नाम से जानी जाती है। इसीलिए संस्कृति को धर्म से और सभ्यता को अर्थ से जोड़ा जाता है।

आजकल आध्यात्मिक संस्कृति उपेक्षित होती जा रही है और भौतिक सभ्यता (कला) के प्रतीक संगीत, नृत्य आदि के लिए सांस्कृतिक कार्यक्रम आदि शब्दों का प्रयोग होने लगा है। सभ्यता शब्द का प्रयोग आज नहीं के बराबर हो रहा है। इस विकृति से मुक्त भारत ही संस्कृति के सही स्वरूप को दुनिया के सामने रख सकता है।

---

५. ''दर्शन, धर्म तथा समाज'' शीर्षक ग्रन्थ (पृ० २१६) देखिए।

एक विश्वसंस्कृति के निर्माण में भारत का सर्वाधिक सहयोग रहेगा, हमें अपने स्वरूप में थोड़ा-बहुत परिवर्तन भले ही करना पड़े। भारतीय संस्कृति में विश्वसंस्कृति के बीज स्वभावत: विद्यमान हैं। *"ईशावास्यमिदं सर्वम्"* ईशावास्योपनिषद् के इस वचन को और *"सर्वेऽत्र सुखिन: सन्तु"* जैसे सुभाषित वाक्यों को हम प्रमाण के रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं। हमें अन्यत्र से उपलब्ध ज्ञान को ग्रहण करने में कभी कोई संकोच नहीं रहा है। महान् ज्योतिर्विद् वराहमिहिर कहते हैं— *"म्लेच्छा हि यवनास्तेषु सम्यक् शास्त्रमिदं स्थितम्। ऋषिवत् तेऽपि पूज्यन्ते"* पूर्वमीमांसा के पिकनेमाधिकरण में भाष्यकार शबर स्वामी कहते हैं— *"अभियुक्ततरा: पक्षिणां पोषणे बन्धने च म्लेच्छा:"* यहाँ स्पष्ट रूप से म्लेच्छों द्वारा प्रयुक्त शब्दों को भी प्रमाण माना गया है, अर्थात् उन शब्दों को और उनके अर्थों को मान लिया गया है।

हमारी संस्कृति में यत: विश्वसंस्कृति के बीज स्वभावत: विद्यमान हैं, अत: हमें ही उसकी स्थापना के लिए सर्वप्रथम आगे जाना चाहिए। वर्तमान में वैदिक अथवा अन्य प्राचीन संस्कृति की पुनरावृत्ति संभव नहीं है। आज हम भारतीय सेना में प्राचीन शस्त्रास्त्रों का उपयोग नहीं करते, प्राचीन भाषा या लिपि आज व्यवहार से बाहर हो गई है, प्राचीन वेषभूषा हम धारण नहीं करते, सामवेद की नारदीय शिक्षा में निर्दिष्ट गानपद्धति को हम भूल बैठे हैं। इन सब परिवर्तनों के साथ सांस्कृतिक दृष्टि में भी अन्तर आवेगा ही। इतनी सावधानी हमें अवश्य रखनी पड़ेगी कि हम भारतीय संस्कृति के सार्वभौम उपादानों को कहीं भूल न जाय, हम उलटी गंगा बहाने में न लग जाय। समस्त नदियों के जल का जैसे सागर में समावेश हो जाता है, उसी तरह विश्व की समस्त संस्कृतियों का विश्वसंस्कृति रूपी सागर में समावेश हो जाय, इसके लिए प्रयास किया जा सकता है।

नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते, पुराणमित्येव न साधु सर्वम्, उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत, कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविशेच्छतं समा:, कर्मण्येवाधिकारस्ते— जैसे उपदेशों से प्रेरणा पाकर हमें एक विश्वसंस्कृति के निर्माण के लिए कटिबद्ध हो जाना चाहिये। भारतीय संस्कृति का इससे अच्छा दूसरा कोई उपयोग हो नहीं सकता। विश्वसंस्कृति की स्थापना हो जाने के बाद ही संयुक्त राष्ट्रसंघ का सही स्वरूप निखर सकेगा। अन्यथा इस तरह की संस्थाएँ भी आपस में कलहग्रस्त होकर राष्ट्रों के वाग्युद्ध की स्थलीमात्र बनकर रह जायेंगी।

इस प्रकार हमने यहाँ सभ्यता, संस्कृति और साहित्य की सामान्य चर्चा कर उनका विनियोग विश्वसंस्कृति के विकास में किया जा सकता है, इसकी संक्षेप में चर्चा की है। इस प्रसंग में हमें यह स्मरण रखना है कि धर्मों के परस्पर के संघर्ष के चलते विश्वसंस्कृति का निर्माण कल्पनामात्र रहेगा और इसीके कारण एक दुनिया की कल्पना भी साकार न हो

सकेगी। यह कैसे संभव हो? इसके लिए पहले हम यहाँ उन साधक-बाधक तत्त्वों की समीक्षा करना चाहते हैं, जिनके वर्जन एवं स्वीकरण से एक विश्व और एक संस्कृति को स्वरूप-लाभ मिल सके। हमारा यह निश्चित मत है कि भारत की संपूर्ण प्रजा में यदि वास्तविक सौहार्द स्थापित हो जाय, तो इस लक्ष्य की प्राप्ति अधिक सरलता से हो सकती है। हमारा आगे का विश्लेषण इसी दृष्टिकोण पर आधृत है।

पहले हम अगले १२ शीर्षकों में उन बाधक तत्त्वों की चर्चा करना चाहेंगे, जिनके कारण यह देश सांस्कृतिक धरातल पर आगे नहीं बढ़ पा रहा है। इस क्रम में धर्मों और संस्कृतियों का संघर्ष पहला बाधक तत्त्व है।

●

धर्मों और संस्कृतियों का संघर्ष

तीव्रतर यातायात और प्रचार-माध्यमों की सुविधा तथा आकाशवाणी-दूरदर्शन जैसे साधनों के विकास के कारण यह पृथिवी सिमट-सी गई है। इसीके कारण धर्मों और संस्कृतियों के संघर्ष ने भी एक नया रूप ले लिया है। धर्म शब्द की दो तरह की व्याख्या हम प्रस्तावना में कर चुके हैं। भौतिक एवं आध्यात्मिक समृद्धि के रूप में हम सभ्यता और संस्कृति को भी परिभाषित कर चुके हैं। नैतिकता-प्रधान धर्म और आध्यात्मिक संस्कृति का परस्पर कोई विरोध नहीं है। विरोध तब पैदा होता है, जब विभिन्न देशों और कालों में विभिन्न देवताओं की उपासना के लिए विहित कर्मकाण्डों (धार्मिक पूजापद्धति) की बाढ़ सी आ जाती है। विभिन्न धर्मों के इस बहुरंगी देश में इसको आसानी से देखा जा सकता है। ऐसी स्थिति में विभिन्न धर्मों और संस्कृतियों के साथ इनका संघर्ष होना ही है। भारत की वर्तमान स्थिति को हम उदाहरण के रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं।

आज की पूरी मानवजाति धर्म की संकीर्ण (कर्मकाण्डीय) व्याख्या से पीड़ित है। मनु-प्रदर्शित धर्म की व्याख्या के स्थान पर आज का मानव अपने-अपने संप्रदाय के प्रति अति आग्रहशील है। भारतीय परम्परा में संप्रदाय शब्द अत्यन्त पवित्र माना जाता है। गुरु-परम्परा से प्राप्त उत्कृष्ट ज्ञान के लिए इस शब्द का प्रयोग किया जाता था, किन्तु आजकल परस्पर किसी न किसी छोटी-बड़ी बात पर आपस में झगड़ा लगाये रखने वाले मानव-समुदाय के लिए इसका प्रयोग होने लगा है। आजकल तो इससे और भी विद्रूपता आ गई है। आजकल भारत में संकीर्ण सांप्रदायिकता को छोड़कर उदारवादी विचार रखने वाले मानवसमूह को ही इस नाम से पुकारा जाता है। वहीं तक इसको सीमित कर दिया गया है और असली सांप्रदायिक अब सेक्युलरिस्ट हो गये हैं।

प्राचीन काल में राजनीति को नियंत्रित करने वाला धर्म अब राजनेताओं का अनुचर बन गया है। स्वतंत्र भारत-राष्ट्र के उत्कर्ष को न सह सकने वाले राष्ट्र, भले ही

वे पास के हों या दूर के, इसकी उन्नति में नित्य नई बाधाओं को पैदा करने में लगे हुए हैं और वे परतन्त्रता काल में यहाँ आई विकृतियों के कारण वर्तमान में पैदा हुई धर्मों और संस्कृतियों की संकुचित दृष्टियों का सहारा लेकर परस्पर के विरोध को बढ़ाने में लगे हुए हैं। प्रकट रूप से अपने को धर्मनिरपेक्ष घोषित करने वाली नैतिकताविहीन यह भ्रष्ट राजनीति भारतीय प्रजा में बचे-खुचे स्नेह-संबन्ध को भी नष्ट कर देने के लिए देश के कोने-कोने में फैल गई है। भारत की शिष्यता को सैकड़ों वर्षों तक शिरोधार्य करने वाला महान् देश चीन भी आज भारत के सामने आँखे तरेरने से बाज नहीं आता। ऐसी विषम स्थिति में पूरी तरह छल-छद्म से भरी आजकल की यह राजनीति प्राणपण से धर्मों और संस्कृतियों के परस्पर के कलह को बढ़ाने में लगी हुई है।

यह बहुधार्मिक देश यदि इस कुत्सित राजनीति में पूरी तरह से फँस जायगा, तो इसके छिन्न-भिन्न हो जाने में कोई समय नहीं लगेगा। विश्व के किसी भी देश की इसके प्रति कोई सद्भावना नहीं है, इसे पूरी तरह से समझ कर हमें अपने बल-बूते पर आगे बढ़ना होगा। इसे भी हमें ध्यान में रखना होगा कि चाहते हुए भी कोई देश हमारी कोई सहायता नहीं कर पावेगा और हमारे विरोधी अतिमुखर होकर क्रूरतापूर्वक हमें पद-दलित कर देने के लिए सदा सचेष्ट रहेंगे। दूसरों के दोषों को मात्र देखने से हमारा कोई कल्याण होने वाला नहीं है। हमें अपनी अन्तरात्मा को टटोलना होगा कि वह आज कितनी कमजोर हो गई है। इस विश्व की उत्कृष्टतम संस्कृति को अंगीकार करने में आज हमारी प्रजा ही क्यों कतरा रही है? हमारा बुद्धिजीवी वर्ग हमारे वास्तविक स्वरूप को क्यों नहीं पहचान पा रहा है? इसके लिए अपेक्षित है कि हम अपने प्राचीन एवं नवीन ज्ञान-विज्ञान एवं धर्म, संस्कृति और दर्शन के वास्तविक स्वरूप को समझने-समझाने का प्रयत्न कर सके। अपसंस्कृतियों की आँधियों से ओझल हुए उनके स्वरूप को पुनः परिशुद्ध कर सकें।

धर्मों और संस्कृतियों के संघर्ष में उलझे इस विश्व की रक्षा एकमात्र सहिष्णुता ही कर सकती है। उस सहिष्णुता का मजबूती से प्रदर्शन जनाब सलमान रुश्दी और डॉ० तसलीमा नसरीन के प्रकरण में यूरोप के राजनीतिज्ञों ने किया है। इसीका प्रभाव है कि ईरान के खुमैनी जैसे कट्टर मुस्लिम राजनेता के प्रस्ताव को दुनिया की मुसलिम मजलिस ने भी स्वीकार नहीं किया। इसके विपरीत भारत सरकार ने अपने अनेक गलत निर्णयों के कारण इस असहिष्णुता को ही घी की आहुति देकर बढ़ाया है। असहिष्णुता-पिशाची से ग्रस्त कुछ इस्लामपरस्त भारतीय नेताओं की राम-जन्मभूमि के विवाद पर कुदृष्टि को देखकर कुछ मुसलिम नेता अपने धर्मस्थलों की स्वतन्त्रताप्राप्ति के समय की स्थिति को बरकरार रखवाना चाहते हैं। ये राजनीतिज्ञ क्या पाकिस्तान अथवा बंगलादेश में इस स्थिति को बरकरार रखवा सकते हैं। वहाँ तो अपने सजातीय

विरोधियों को मृत्युदण्ड देने में भी कोई संकोच नहीं है। कश्मीर तो भारत का ही अंग है। पिछले कुछ वर्षों से वहाँ क्या हो रहा है? असहिष्णुता-पिशाची के चलते ऐसा होता ही रहेगा।

भारत के प्रथम गृहमंत्री लोहपुरुष सरदार पटेल की दृढ इच्छाशक्ति ने सोमनाथ मन्दिर का पुनरुद्धार कराया। इसी तरह से उन सभी देशी-विदेशी अतिक्रमणों को पुनः अपना मूल स्वरूप मिलना चाहिये, जिनको मध्यकालीन बर्बर आक्रान्ताओं ने बर्बाद कर दिया था। असहिष्णुता के रहते यह सब कैसे होगा? सर्वसहमति या कुछ असहमति के रहते हुए भी यह कार्य होना चाहिये। तभी भारत में बसने वाले मुसलमानों में सहिष्णुता के बीज बोये जा सकते हैं। भारतीय मुसलमानों को यह समझ लेना चाहिए कि महान् सन्तों का चरित्र इतना दुर्बल नहीं होता कि वह छुई-मुई की लतर के जैसे छूने मात्र से मुरझा जाय। किसी भी प्रकार की समालोचना से धर्म और संस्कृति में भी निखार ही आता है। हमें भी इस पर विचार करना है कि इस्लाम धर्म और चीनी विस्तारवाद की असहिष्णुता से इस पूरे विश्व को खतरा है। इनमें सहिष्णुता का संचार करने के लिए हमें सदा प्रयत्नशील रहना पड़ेगा। असहिष्णुता-पिशाची के नग्न तांडव के चलते एक विश्व की कल्पना कैसे आकार ग्रहण कर सकती है?

जनाब सलमान रुश्दी की अभी चर्चा आई है। भारतीय मूल का यह मुसलमान लेखक अभी हाल में इंग्लैण्ड में बस गया है। इन्होंने *सेनेटिक वर्सेज* क्या लिख दिया, पूरी दुनिया में भूचाल-सा आ गया। इस लेखक ने इसलाम का उपहास कर अक्षम्य अपराध किया है, अतः इसे सार्वजनिक रूप से मृत्युदण्ड दिया जाना चाहिये। रुश्दी को मार डालने के लिए पुरस्कार के रूप में भारी धनराशि की भी घोषणा कर दी गई। भाषण और लेखन की स्वतन्त्रता के पोषक देश एवं समस्त विश्व के बुद्धिजीवी इस मानवताविरोधी फतबे के खिलाफ उठ खड़े हुए। दुनिया के लिए यह एक शुभ संकेत था। आज से चौदह सौ वर्ष पहले अरब भूमि पर एक नये धर्म ने पदार्पण किया। आगे चलकर यह एक हाथ में कुरान और दूसरे में तलवार लेकर विश्वविजय के लिए निकल पड़ा। लगभग आधी धरती को इसने रौंद डाला। प्राचीन देशों की सभ्यता, संस्कृति और साहित्य के साथ इसने धर्मस्थलों को भी नष्ट-भ्रष्ट कर दिया, विश्व के महान् पुस्तकालयों को आग के सिपुर्द कर दिया। उसकी यह बीभत्स पैशाचिकता आज भी शान्त नहीं हुई है।

भारत की प्रवृत्ति ठीक इसके विपरीत है। वैदिक, जैन, बौद्ध, चार्वाक आदि ३६३ मतवादों के अनुयायियों ने अपने-अपने मत की स्थापना के लिए शास्त्रार्थ की पद्धति और खण्डन-मण्डन की प्रक्रिया को अपनाया। सैकड़ों वर्षों तक यह प्रक्रिया यहाँ चलती रही है। अपने-अपने मत की स्थापना में लगे विद्वानों ने अन्य मत के

आचार्यों एवं महापुरुषों की ही नहीं, राम-कृष्ण, बुद्ध-महावीर एवं वेद आदि शास्त्रों की भी आलोचना में कोई परहेज नहीं दिखाया। महाकवि भवभूति ने वैदिकी हिंसा की एवं मर्यादापुरुषोत्तम रामभद्र की भी समालोचना की है। इस तरह की सहिष्णुता का जनक यह देश रुश्दी के ग्रन्थ पर प्रतिबन्ध लगाने वाले देशों में पहला था। आक्रामकता के आगे घुटने टेकने की यह पहली घटना नहीं है। शाहबानों के प्रसंग में भी प्रशासन ने यही दुर्बलता दिखाई। भारत का यह सांस्कृतिक अध:पतन बेरोकटोक चल रहा है। सहिष्णुता का जनक यह देश स्वयं भी असहिष्णुता में डूबता जा रहा है। एक हजार वर्ष तक साथ रहते हुए भी हम इस्लाम में सहिष्णुता का संचार न कर सके। दु:ख की बात यह है कि इसके विपरीत इस देश की महान् धरोहरों के प्रति ही हम असहिष्णु बन बैठे। आज इस देश के बड़े से बड़े अधिकांश राजनीतिज्ञ गुणों और दोषों का विवेक करने में असमर्थ हो चुके हैं। महाकवि बाण ने अपने निम्न श्लोक में इसी स्थिति को उजागर किया है—

नीरक्षीरविवेके हंसाऽऽलस्यं त्वमेव तनुषे चेत्।
विश्वस्मिन्नधुनाऽन्य: कुलव्रतं पालयिष्यति क: ॥

धर्मों और संस्कृतियों की आपस की असहिष्णुता के कारण तथा राजनीतिज्ञों की सही और गलत की सही पहिचान की मानसिकता के न पनप पाने के कारण विलगाव की प्रवृत्ति बढ़ रही है। सांस्कृतिक विकास में यह दूसरी बाधा है। इससे हम कैसे बच सकते हैं? इसीको आगे बताया जा रहा है।

●

विलगाव की प्रवृत्ति

बृहत्तर भारत की संस्कृति कभी पूर्व दिशा में कोरिया और जापान तक फैली हुई थी। दक्षिण-पूर्व एशिया के अनेक देशों में आज भी बौद्ध धर्म जीवित है। इण्डोनेशिया, कम्बोडिया जैसे देशों में अतिविशाल बौद्ध, वैष्णव एवं शैव मन्दिर आज भी अपना सिर ऊँचा किये खड़े हैं। उत्तर दिशा में तिब्बत, मंगोलिया, चीन आदि में इसका विस्तार हुआ और लगभग एक हजार वर्षों तक भारतीय वाङ्मय की विविध विधाओं का वहाँ की भाषाओं में अनुवाद होता रहा है। इस अनुवाद साहित्य में तिब्बती अनुवादों का अपना स्थान है। यह अनुवाद इतना सही है कि महापंडित राहुल सांकृत्यायन[६] ने जिस ग्रन्थ का तिब्बती (भोट) भाषा से संस्कृत में अनुवाद किया, बाद में मूल रूप से उसके उपलब्ध हो जाने पर इनमें आश्चर्यजनक समानता थी।

६. सांकृत्यायन जी के द्वारा संपादित अभिधर्मकोश काशी विद्यापीठ से छपा था। उसके खंडित अंशों का उद्धार उन्होंने भोट अनुवाद की सहायता से किया था। बाद में संपूर्ण ग्रन्थ उपलब्ध हो गया।

पश्चिम दिशा में ऋग्वेद के सहोदर जेन्दावेस्ता की रचना ईरान में हुई। प्राचीन देश मेसोपोटामिया आज ईराक के नाम से जाना जाता है। खुदाई में वहाँ इष्टका-लेख मिले हैं। इनमें मित्रावरुण, नासत्य आदि वैदिक देवताओं के नाम मिलते हैं। यहाँ के उर नामक स्थान की और भारत के मोहेंजोदड़ो स्थान की खुदाई में उपलब्ध सामग्री में अद्भुत समानता मिलती है।

व्याकरण अष्टाध्यायी के रचयिता पाणिनि शालातुरीय कहलाते थे। गान्धार देश में इनका जन्म हुआ था। वहाँ का तक्षशिला विश्वविद्यालय विश्वविश्रुत था। आचार्य कौटिल्य भी यहीं के स्नातक थे। पाणिनि की अष्टाध्यायी के आधार पर डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने इस समृद्ध प्रदेश की सभ्यता-संस्कृति का अच्छा परिचय दिया है। शक्तिसंगमतन्त्र में भारत को ५६ विभागों में बाँटा गया है। वहाँ इन सब प्रदेशों के नाम भी गिनाये गये हैं। यह समृद्ध विशाल सांस्कृतिक एकता वाली स्थली इस्लाम के प्रबल आक्रमण से छिन्न-भिन्न हो गई। अभी हाल में चीन ने जब भारत पर आक्रमण किया, तब भारत के पक्ष में एक भी देश खड़ा नहीं हुआ। हमारा पड़ोसी सधर्मा देश नेपाल भी हमसे विमुख है। तिब्बत को तो भारतीय पत्रकार भी चीन का ही अंग मानते हैं। अधिक क्या? आज तो भारत की मुख्य भूमि भी तीन टुकड़ों में बँट गई है।

अपरिग्रह आदि महाव्रतों के उपदेष्टा पार्श्वनाथ, महावीर आदि और करुणामूर्ति भगवान् बुद्ध आदि का प्रादुर्भाव इसी भारत-भूमि में हुआ, किन्तु *'श्रमण-ब्राह्मणम्'* जैसे उदाहरणों के माध्यम से इनको और ब्राह्मणों को परस्पर जन्मजात शत्रु मान लिया गया। श्रीलंका में इसके बुरे प्रभाव को आज भी देखा जा सकता है। इतिहास-प्रसिद्ध बौद्ध सम्राट् अशोक की उपाधि के अर्थ को विकृत कर दिया गया था। भट्ट कुमारिल ने अहिंसा की परिभाषा को ही बदल दिया था। *''हस्तिना ताड्यमानोऽपि''* जैसे आभाणक भी प्रसिद्ध हो गये थे। विष्णु के अवतारों में महात्मा बुद्ध का तथा जैन धर्म के प्रतिष्ठापक आद्य तीर्थंकर ऋषभदेव का नाम भी आता है, किन्तु प्रजा में भ्रम फैलाने के लिए ये मोहक अवतार हैं, ऐसा कह कर इनके उपदेश को अग्राह्य मान लिया गया। आचार्य शंकर ब्रह्मसूत्र की व्याख्या के प्रसंग में बौद्धों और जैनों को ही नहीं, सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक, बौद्ध-जैन और पाशुपत-पांचरात्र मतों को भी अवैदिक मानते हैं। वैदिक धर्म के पुनः प्रतिष्ठापक स्वामी दयानन्द ने भी सत्यार्थप्रकाश के दशम समुल्लास में यही सब कुछ किया है।

इस्लाम के आक्रमण से अपने मूल देश से निकाल दिये गये पारसीक जन सैकड़ों वर्षों से भारत में रहते हैं, किन्तु यह आश्चर्य की ही बात है कि भारत के मूल निवासियों की अपेक्षा उनकी घनिष्ठता उस मुस्लिम समुदाय के साथ है, जिसने उन्हें

घर-बाहर कर दिया था। अधिकांश भारतीय मुसलमानों के पूर्वज भारतीय ही थे, किन्तु इन्होंने इस देश का ही विभाजन करा दिया। भारत की सहायता से स्वतन्त्र हुए बंगलादेश का इस देश के प्रति कोई कृतज्ञता का भाव नहीं है। भारत के विभाजन के समय सिक्ख बन्धु सर्वाधिक प्रताड़ित हुए थे, किन्तु ऐसी भी एक स्थिति आयी, जब वे इस्लाम के बहकावे में भटक गये। भारत में आज भी धर्मान्तरण की गति रुक नहीं रही है। यह इस राष्ट्र के सामने एक यक्ष-प्रश्न उपस्थित है। क्या भारत की आज की दुर्गति के लिए हम अपनी ऊपर प्रदर्शित मनोवृत्ति को दोषी मानें? आज तो यही प्रचारित किया जा रहा है।

भारत में दो तरह की दृष्टियों का विकास हुआ है। उनमें से पहली दृष्टि की चर्चा अभी हमने ऊपर की है। दूसरी दृष्टि भी यहाँ बहुत पहले ही विकसित हो चुकी थी। इसकी हम आगे (पृ० ९८) चर्चा करेंगे। संक्षेप में लोकायत (चार्वाक) दर्शन के प्रवक्ता देवगुरु बृहस्पति माने जाते हैं। आस्तिक दर्शनों की और वेदों की भी यहाँ जम कर समीक्षा की गई है। महाभारतकार ने वेदारण्यक के साथ अन्य मतों के प्रामाण्य को भी स्वीकार किया है। पुराणों, स्मृतियों और आगमों की भी यही मान्यता है। पूरी महाभारत में और उसके उज्ज्वलतम भाग भगवद्गीता और नारायणीयोपाख्यान में भी इसी दृष्टि को मान्यता मिली है। वसु उपरिचर के उपाख्यान में अहिंसा धर्म की प्रतिष्ठा हुई है। महाभारत में हमें धम्मपद की गाथाओं की झलक मिलती है। इस प्रकार इस प्राचीन साहित्य में हम कृतान्तपंचक (वेद, सांख्य, योग, पांचरात्र और पाशुपत मत) के साथ बौद्ध और जैन धर्म के उत्कृष्ट अवदानों को भी देख पाते हैं।

न चाहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्॥

इस श्लोक में भगवान् बुद्ध की महाकरुणा ही प्रतिध्वनित हो रही है। "*पुराणमित्येव न साधु सर्वम्*" महाकवि कालिदास की इस उक्ति ने तो इस प्रक्रिया को बहुत ऊँचा स्थान दे दिया है। प्राचीनतम पांचरात्र संहिताओं में विभवावतारों में शान्तात्मा लोकनाथ के रूप में बुद्धावतार को मान्यता मिली है। मायावामनिका नाम की वैष्णवसंहिता का कहना है कि शिव, विष्णु, बुद्ध आदि के रूप में एक ही भगवान् स्थित हैं। कश्मीर के नेत्रतन्त्र में इन सबकी उपासनापद्धति भी अलग-अलग वर्णित है। यहाँ स्पष्ट रूप से बताया गया है कि अपने-अपने शास्त्रों में वर्णित पद्धति से ही इनकी उपासना करनी चाहिए। वराहमिहिर की इस अभिप्राय की उक्ति की चर्चा हम आगे (पृ० ९९) करेंगे। दक्षिणभारत के आलवारों (वैष्णव सन्त) और शैव सन्तों ने तथा उत्तरभारत के सिद्धों, नाथों और सन्तों ने वर्ण, लिंग, जाति आदि की संकीर्ण दृष्टि का परित्याग कर पूरी भारतीय प्रजा में इस उदारदृष्टि का संचार किया

है। रामानन्द, कबीर, रविदास जैसे सन्तों के उपदेश इस उदारदृष्टि के पोषक हैं। सिक्ख गुरुओं और सूफी सन्तों का प्रेरणास्रोत भी तो इनके बहुत निकट से बहा है। इस उदार दृष्टि के सहारे ही हम पूर्वोक्त अनुदार दृष्टि में ही नहीं, असहिष्णु धर्मों में भी परिष्कार प्रस्तुत कर सकते हैं।

हमें सर्वत्र दोषों और गुणों का घालमेल देखने को मिल जाएगा। वैदिक, जैन, बौद्ध, वैष्णव, शैव, शाक्त और पौराणिक वाङ्मय में ऐसे विशिष्ट गुण थे, जिनसे अनुप्राणित होकर यह भारतीय संस्कृति-गंगा अपने पावन रूप में निरन्तर बह रही थी। अभी वह प्रदूषित हुई-सी लगती है। तान्त्रिक-वाङ्मय में इन्द्रियप्रीणन द्रव्यों का विधान मिलता है। आज धर्म और राजनीति के क्षेत्र में भी इन मोहक शास्त्रों ने बाह्य कौलोपासना के रूप में अपना स्थान बना लिया है। इस प्रकार यह आज की भारतीय दृष्टि वैदिक और तान्त्रिक विकृतियों से ग्रस्त होने के कारण दूषित हो गई है। इस संस्कृति-गंगा को निर्मल करने की आवश्यकता है। दोषों के परिहार एवं गुणों के आधान की प्रक्रिया से ही यह संभव हो सकता है। तभी हम भारत में विलगाव की मानसिकता को रोकने में समर्थ हो सकते हैं।

अभी हमने यहाँ एकताबद्ध भारत की चर्चा कर उसमें अपनी विलगाव की मानसिकता का खाका खींचा है। इसमें मुख्य भूमिका उस संकीर्ण मनोवृत्ति की है, जिसे आजकल साम्प्रदायिकता के नाम से पुकारते हैं। समग्र भारतीय संस्कृति के निर्माण में यह साम्प्रदायिकता भी एक बाधक तत्त्व है। इसीका अब परिचय दिया जा रहा है।

●

साम्प्रदायिकता

आजकल भारत में बहुप्रचारित साम्प्रदायिकता क्या है? इस पर हमें विचार करना चाहिए। अपने-अपने सम्प्रदाय के अनुसार प्रत्येक भारतीय अपने-अपने आराध्य देव की उपासना करे, इसमें किसे आपत्ति हो सकती है? किन्तु ये जब परस्पर कलह पर उतर आते हैं, तो इसी प्रवृत्ति के लिए आजकल इस शब्द का प्रयोग होने लगा है। शब्दों का अर्थ बदलता ही रहता है। इसमें किसको आपत्ति हो सकती है? देखने की बात यह है कि यह प्रवृत्ति संप्रदायों की स्वाभाविक है अथवा पीठ के पीछे से इसका संचालन किया जाता है। हमारा मत है कि इस शब्द के अर्थ के परिवर्तन में पहले ब्रिटिश कुटिलनीति की और अब द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के वाहक कम्युनिस्टों की कुटिल भूमिका है। भारतीय प्रजा में परस्पर की द्वेषभावना को हवा देने के लिए साम्यवाद से अनुप्राणित बुद्धिजीवियों ने धर्मनिरपेक्ष और साम्प्रदायिक के रूप में उसे बाँट दिया है। ईमानदारी से यह विभाजन किया गया होता, तो आपस के विग्रह को

बल नहीं मिलता। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को जीवित रखने के लिए इनको उलटा काम करना पड़ा कि जो घोर सांप्रदायिक हैं, आज की पूरी दुनिया जिनसे आतंकित है, उनको धर्मनिरपेक्ष और जो पूरी दुनिया में सुख-शान्ति चाहते हैं, उनको साम्प्रदायिक घोषित कर दिया गया। यह संप्रदाय शब्द के अर्थ का परिवर्तन मात्र नहीं है।

आज जिस वर्ग ने वैदिक, बौद्ध, जैन, शैव, वैष्णव आदि सभी धर्मों अथवा मतवादों को; रामानुज, रामानन्द, चैतन्यदेव आदि के द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदायों को; आलवारों (वैष्णव सन्त), नायनारों (शैव सन्त), सूफी सन्तों, गुरुओं और कबीर, रविदास आदि के द्वारा प्रवर्तित पन्थों को बिना किसी हस्तक्षेप के भलमनसाहत के एक साथ जीना सिखाया, वह *साम्प्रदायिक* है। वह स्वयं भी इस शब्द को बहुत पवित्र मानता है, क्योंकि सम्प्रदाय[७], अर्थात् अपनी लम्बी गुरु-परम्परा से प्राप्त पवित्र ज्ञान को अपनी भावी सन्तति में संक्रान्त कर देना ही इसके जीवन का पवित्र लक्ष्य होता है। यह किसी दूसरे के जीवन में हस्तक्षेप नहीं करता। यहाँ तक कि दो भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों[८] का अनुसरण करने वाले पति-पत्नी भी यावज्जीवन सुख-शान्तिपूर्वक एक साथ रह सकते हैं। आज यह भारतीय संस्कृति की उदारता और सहिष्णुता को उजागर करने वाला पवित्र शब्द गाली के रूप में, संकीर्ण दृष्टि वाले मानव समुदाय के लिए प्रयुक्त होने लगा है।

पाश्चात्य जगत् में राज्य और जनता के पारस्परिक संबन्ध को कलहहीन बनाने के लिए *सेक्युलर स्टेट* की उद्भावना हुई थी कि राज्य जनता के ऐहिक जीवन की सुख-सुविधा के लिए ही प्रवृत्त होगा, वह उसके पारलौकिक जीवन में, उसके लिए किये जाने वाले धार्मिक कर्मकाण्ड में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करेगा। यद्यपि इस शब्द का संबन्ध राज्य से है, किन्तु आजकल भारत के सभी राजनीतिक दल मिल कर भारतीय जनता पार्टी को साम्प्रदायिक और अपने को *सेक्युलर* बताने में जुटे हुए हैं। संक्षेप में इसका यह अर्थ निकाला जा सकता है कि भारत का हिन्दू साम्प्रदायिक है और बाकी सब सेक्युलर। अब इससे अधिक क्या विडम्बना हो सकती है? समग्र भारतीय संस्कृति के निर्माण में साम्प्रदायिक शब्द की यह छीछालेदर हमारी क्या सहायता कर सकती है?

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि सांप्रदायिकता की गलत अवधारणा ने हमारे सामने समस्याएँ खड़ी कर दी हैं। सेमेटिक धर्मों की इसमें मुख्य भूमिका है और इन्हींके कारण आज यह देश संघबद्ध नहीं हो पा रहा है। इसीको अब आगे दिखाया जा रहा है।

●

७. संप्रदाय शब्द का पारम्परिक अर्थ (पृ० ७) पर देखिए।

८. वीरशैवमत का पारमेश्वरागम (१७. २०-२१) देखिए। मतंगपारमेश्वरागम से यह भिन्न है।

सेमेटिक धर्म

अमेरिका के शिकागो शहर में धर्म सम्मेलन को संबोधित करते हुए स्वामी विवेकानन्द ने कहा था कि मुझे एक ऐसे देश का व्यक्ति होने का अभिमान है, जिसने इस पृथ्वी की समस्त पीड़ित शरणागत जातियों को तथा विभिन्न धर्मों के बहिष्कृत मतावलंबियों को आश्रय दिया था। मुझे यह बताने में गर्व होता है कि जिस वर्ष यहूदियों का पवित्र मन्दिर रोमन जाति के अत्याचार से धूल में मिला दिया गया था, उसी वर्ष कुछ अभिजात यहूदी आश्रय लेने दक्षिणभारत में आये और हमारी जाति ने उन्हें छाती से लगाकर शरण दी। ऐसे धर्म में जन्म लेने का मुझे अभिमान है, जिसमें इस्लाम के आक्रमण से पारसीक जाति की अपने यहाँ शरण देकर रक्षा की। स्वामी विवेकानन्द की इस सत्योक्ति का क्या सेमेटिक धर्मों पर प्रभाव पड़ा? स्वयं सबल ईसाई-संप्रदाय से प्रताड़ित उस संप्रदाय का दुर्बल वर्ग भी कभी यहाँ शरण लेने आया था और चीनी तानाशाहों से प्रताड़ित तिब्बती जाति को यहाँ शरण मिली, यह तो अभी हाल की बात है। इसी भारत को बर्बाद करने का षड्यन्त्र आजकल चल रहा है।

इस्लाम के इतिहास पर आप नजर डालिए। ख्रीष्ट धर्म के मिशनरी भी यह सब करते आ रहे हैं। धर्म के नाम पर विभिन्न जातियों का उन्मूलन, प्रताड़न करना इनके धर्म का अंग है। कुछ जातियों पर किये गये अत्याचारों पर भारत आने से पहले अभी हाल में ख्रीष्ट धर्म के सर्वोच्च धर्मगुरु ने खेद प्रकाशित किया, क्षमायाचना की। गोवा के मूल निवासियों पर किये गये ऐसे ही अत्याचारों के लिए भारत के प्रबुद्ध चिन्तकों के द्वारा आग्रह करने पर भी ऐसा उन्होंने नहीं किया। ऐसा क्यों? अपराध-बोध होने पर व्यक्ति क्षमायाचना करता है और कभी-कभी अपनी स्वार्थ की सिद्ध के लिए भी। २००१ ई० से आरम्भ हुई, २१वीं शताब्दी में बची हुई पूरी दुनिया को ख्रीष्ट धर्म में दीक्षित कर देने का संकल्प व्यक्त करने वाला व्यक्ति क्या ऐसे आग्रहों को स्वीकार कर सकता है? जबकि उनके घोषित संकल्प में बाधा पहुँचाने वाला देश यही है।

भारतीय दर्शन के ग्रन्थों में प्रत्येक दर्शन के तरतमभाव की, विचारों की दृष्टि से उनकी ज्येष्ठता और कनिष्ठता की परीक्षा गुण-दोष के आधार पर की गई है। श्रद्धेय कविराज जी ने इस क्रम में कुछ संशोधन उपस्थित कर इसे अधिक तर्कसंगत बना दिया है। भारतीय वाङ्मय में विशेष कर आगम-तन्त्रशास्त्र में तर्क की श्रेष्ठता को स्वीकार किया गया है। इसी तर्क की कसौटी पर हमें सभी धर्मों की परीक्षा करनी होगी। सर्वधर्म-समभाव वाली मनोवृत्ति यह कार्य नहीं कर सकती। पूरी मानवता का कल्याण धर्म का उद्देश्य है। क्या सेमेटिक धर्म इस कसौटी पर खरे उतरते हैं? वे तो दूसरों को मिटा कर अपना वर्चस्व स्थापित करना चाहते हैं। इस्लाम का भाईचारा व्यक्ति के मुसलमान बन जाने पर चालू होता है और ख्रीष्ट धर्म के सेवाभाव की

अन्तिम परिणति भी व्यक्ति को ईसाई बना लेने में ही होती है। क्या ये धर्म इस संकीर्णता को छोड़ सकेंगे? सहिष्णुता के अभाव में यह सब असंभव है। सभी धर्मों को मान्यता देने पर ही यह संभव हो सकता है। इसके लिए हमें सर्वधर्म-समभाव के स्थान पर सर्वधर्म-समादर शब्द को स्वीकार करना होगा। इन शब्दों पर हम आगे (पृ० ५६-५८) विचार करेंगे। कोई भी व्यक्ति अपने धर्म की श्रेष्ठता को भले ही मानता रहे, उसे दूसरे धर्म के प्रति भी आदरभाव तो रखना ही चाहिये। भारत में बहुत पहले यह कार्य हो चुका है। इसका कारण यह है कि भारत में धर्म के क्षेत्र में भी परिवर्तन और नैरन्तर्य के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया गया था।

भारत में प्रथमतः वैदिक एवं वैदिकेतर धर्मों में तथा बाद में बौद्ध, जैन, वैष्णव, शैव और शाक्त धर्मों में स्मार्त धर्म के रूप में सामंजस्य स्थापित करने का सार्थक प्रयास हुआ था। अपने धर्म की श्रेष्ठता को कायम रखते हुए यहाँ अन्य धर्मों के प्रति पूरी-पूरी सहिष्णुता को जगाने की पद्धति विकसित हुई थी। आगम-तन्त्रशास्त्र की विभिन्न शाखाओं में इसे देखा जा सकता है। सूफी और ईसाई सन्तों के माध्यम से इस सहिष्णुता का विकास अन्य वर्गों में भी हुआ, किन्तु ब्रिटिश कुटिलनीति ने उस पर पानी फेर दिया। स्वामी विवेकानन्द के उपदेशों से क्रुद्ध ईसाई मिशनरी ने उस आन्दोलन को विपथगामी बना दिया और आज ये सब मिलकर बया पक्षी के उपदेश से क्रुद्ध वानर की तरह भारतीयता को ही नष्ट कर देने के लिए जुट गये हैं।

आज पूरा विश्व धर्म से ही संचालित है और पूरे विश्व को एक धर्म की काली छाया से ढक देने की, साथ ही धर्मनिरपेक्षता को मोहक जाल में सारी दुनिया को फँसा लेने की दुरभिसन्धि भी चल रही है और उसीके माध्यम से भारतीय धर्मों के उन्मूलन का षड्यन्त्र भी। आज भारतीयों में ही भारतीय मूल्यों के प्रति विद्वेष फैलाया जा रहा है। वर्णाश्रमधर्म, ब्राह्मणवाद, मनुवाद जैसे कालातीत शब्दों के माध्यम से भारतीयता के प्रति नफरत बढ़ाई जा रही है। आश्चर्य की बात यह है कि भारतीय संस्कृति के समग्र स्वरूप को बिना जाने अनेक भारतीय प्रबुद्ध चिन्तक भी उन्हींका साथ देने में लगे हुए हैं।

धर्मनिरपेक्ष और साम्प्रदायिक शब्दों का मकड़जाल इतना घना हो गया है कि कश्मीर घाटी में भारतीयता के पक्षपातियों को निकाल बाहर करने के बाद अब जम्मू और लद्दाख की जनसंख्या के साथ छेड़छाड़ होने लगी है। कश्मीर घाटी के समान इन दोनों क्षेत्रों में भी इस्लाम का वर्चस्व स्थापित होने पर क्या यह क्षेत्र भारत का अंग बना रह सकेगा? इस्लामिक आतंकवाद के विरुद्ध कोई भी देश भारत की तरफदारी नहीं करेगा। भारतीयता को नष्ट कर देने का यह सेमेटिक धर्मों का संमिलित षड्यन्त्र है और भारत में पनप रहा कम्युनिज्म ईसाई मत से न सही, इस्लाम से समरस है। विश्व हिन्दू परिषद् के एक प्रभावी सज्जन ने ख्रीष्ट धर्म की सहायता से इस्लाम के आतंकवाद से

निपटने का मन्तव्य प्रकट किया था। अभी हाल में अमेरिका में सम्पन्न विश्व धर्म सम्मेलन ने और पाकिस्तानी आतंकवाद के प्रति अमेरिकी रुख ने उनकी आँखें खोल दी होंगी। ऐसे लाल-बुझक्कड़ी सुझावों के स्थान पर उनको समस्त भारतीयता को एक जुट करने का प्रयत्न अपने-अपने दुराग्रहों को छोड़कर करना चाहिये।

अभी हाल की अपनी भारतयात्रा के समय माननीय पोप जान पाल द्वितीय ने २१वीं शताब्दी में बची हुई दुनिया को ख्रीष्ट धर्म में दीक्षित कर लेने की अपने अनुयायियों को नेक सलाह दी थी! पोप साहब की चर्चा अभी ऊपर आ चुकी है। इस्लाम के कुछ सिरफिरे अलमदार भी जेहाद के नाम पर पूरी दुनिया में आतंकवाद को फैलाने में लगे हुए हैं। ईसाई मिशनरियों के द्वारा की जा रही कोढ़ियों की सेवा जैसे भले कार्यों की हम प्रशंसा करें, यह तो उचित ही है, किन्तु इसके साथ ही भारतीय प्रजा में परस्पर विद्वेष की भावना भरना, आदिवासी जनों में भारतीय मूल के धर्मों के प्रति अनर्गल प्रचार कर घृणा फैलाना कहाँ तक उचित माना जा सकता है।? मौलाना वहीदुद्दीन खाँ साहब एक सुलझे हुए इस्लामिक विद्वान् है। सन् १९९६ में पूना में सम्पन्न हुई विश्व दर्शन परिषद् में हमने उनके विचार सुने थे। वे भी शिक्षा-संस्थानों में प्रविष्ट अवांछनीय तत्त्वों के खिलाफ की गई कार्यवाही को सहन नहीं कर पाये और भारतीय संस्कृति में आई अच्छाइयों का श्रेय पारसियों और ईसाइयों को देना चाहते हैं। कुछ प्रसिद्ध भारतीय स्तंभकारों और राजनीतिज्ञों को इस्लाम में तो अच्छाइयाँ दिखाई भी पड़ती हैं, किन्तु भारतीय धर्म उनकी दृष्टि में घृणा के ही पात्र हैं। अंग्रेजी अखबारों की तो भारतीयता के तिरस्कार में अग्रणी भूमिका रही ही है।

पूना नगरी लोकमान्य तिलक की तपोभूमि रही है। ऊपर चर्चित विश्व दर्शन परिषद् के अवसर पर हमने देखा कि फूलमाला और गुलदस्ता को तिलांजलि देकर पूना के प्रबुद्ध विद्वानों की उपस्थिति में *बुके* को पूरी तन्मयता के साथ स्वीकार कर लिय गया था। आज परस्पर आदरभाव को प्रदर्शित करने के लिए प्रणाम का स्थान *हेंड सेक* ने ले लिया है। यह प्रक्रिया इतनी आगे बढ़ चुकी है कि अब स्त्रियों से हाथ मिलाने में कोई संकोच नहीं रह गया है। बाहरी संमान्य अतिथियों के आने पर उनके स्वागत की प्रक्रिया में पत्नियों की स्थिति बदल जाती है। भारतीय तिथि के अनुसार आज विरले ही अपना जन्मदिन मनाते हैं। बच्चों के *बर्थ डे* के पूरे कर्मकाण्ड में भारतीयता सिसकती रहती है। आश्चर्य इस बात का है कि महाराष्ट्र में शिवाजी महाराज की जन्मतिथि अंग्रेजी तारीख से मनाने के लिए आयोग बनाया गया था। भारत की राजनीतिक पार्टियों का परस्पर का व्यवहार मध्यकालीन कबीलाई संस्कृति की याद दिलाता है। भारत के अनेक क्षेत्रों में हम इस अपसंस्कृति का साक्षात् दर्शन आज भी कर सकते हैं। भारतीय संस्कृति में बालक, वृद्ध और स्त्रियों पर आक्रमण वर्जित था।

आत्महत्या जघन्य कृत्य माना जाता था। आत्मदाह के रूप में आज इसको बढ़ावा मिल रहा है। इस कुकृत्य के अभिनव जनक अब भी कुछ न कुछ खुराफात करते रहते हैं। भारत में आज इनकी निन्दा करने वाले भी नहीं रह गये हैं। ऐसी स्थिति में इस देश में सेमेटिक धर्मों का वर्चस्व स्थापित हो जाय, तो इसमें आश्चर्य की क्या बात होगी?

भारत में ऐसा क्यों हो रहा है? दुनिया की उदारतम संस्कृति और सभ्यता के धनी इस देश पर यह किसकी काली छाया पड़ रही है? इस पर हमें गंभीरता से विचार करना होगा। यह भी हमें सोचना है कि आज की काशी डॉ० भगवान् दास, पं० गोपीनाथ कविराज, आचार्य नरेन्द्रदेव, डॉ० सम्पूर्णानन्द जैसी विभूतियों को देने में क्यों असमर्थ है? *''माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः''* यह अथर्ववेद के पृथ्वीसूक्त का वचन है, ऋग्वेद का नहीं। यहाँ तक तो गनीमत है। भारतीय संस्कार किस तरह से सिमटते जा रहे हैं, इसका अच्छा उदाहरण आकाशवाणी के टिप्पणीकार की यह उक्ति है कि भारतीय संस्कृति में ६० वर्ष में संन्यास लेने का और ७५ वर्ष पर वानप्रस्थी बन जाने का विधान है। इस परिस्थिति में इस पवित्र भूमि को माता और अपने को उसका पुत्र मानने वाले संस्कार कैसे पनप सकते हैं? महात्मा गाँधी के प्रिय भजन को हमने सांप्रदायिक घोषित कर दिया है। *''वन्दे मातरम्''* पर किसकी कुदृष्टि पड़ी है?

दुनिया में सेमेटिक धर्मों की धाक जमाने वाली हस्तियों ने भारत सरकार को धर्मनिरपेक्षता का छुनछुना पकड़ा दिया है। जब वह इसको बजाती है, तो इसे यह होश नहीं रहता कि हजयात्रियों की सुख-सुविधा के लिए किया गया करोड़ों रुपये का खर्च धर्मनिरपेक्षता की परिधि में आता है या नहीं? ईसाई मिशनरियाँ इस देश के साथ जो विश्वासघात कर रही हैं, उसे देखने-सुनने वाला तो कोई नहीं है, किन्तु इनके विरुद्ध जब कोई छोटी-मोटी भी प्रतिक्रिया हो जाती है, तो उसे निमक-मिर्च लगाकर पूरी दुनिया के सामने परोस दिया जाता है। इस कार्य में भी विदेशी समाचार माध्यमों की अपेक्षा अंग्रेजी भाषा के भारतीय पत्र बाजी मार ले जाने में सदा *''मोस्ट ओबिएन्ट सर्वेन्ट''* की भूमिका अदा करते हैं। अंग्रेजी वेष-भूषा और भाषा के गुलाम भारतीय प्रशासन-सेवा के अधिकांश सदस्य और स्तंभलेखक भी उनसे पीछे नहीं रहते। इसका क्या कारण है?

इस देश में अपराधी मनोवृत्ति को किसने बढ़ावा दिया है? सामूहिक रूप में अपराधियों को छुड़ा लेने वाले कौन हैं? मुंबई के बड़े-बड़े अपराधी कहाँ दुबके हुए हैं? अल्पसंख्यक आयोग और मानवाधिकार आयोग की कृपादृष्टि किस पर अधिक पड़ती है? देश के भीतर जामा मस्जिद से, उत्तर में कश्मीर से और पूर्वोत्तर भारत से किस तरह के सुर फूट रहे हैं? दुनिया को यह सब भी बताया जाय, इसके लिए कोई फुरसत में नहीं है। चालाकी से भरे धर्मान्तरण और जेहाद की ओट में हो रहे

आतंकवाद से जब तक दुनिया छुटकारा नहीं पावेगी, मानवजाति सुख-शान्ति से नहीं जी सकेगी। मानवाधिकारों की डुग्गी पीटने वालों को पहले इस पर विचार करना चाहिये। यरूशलम पर पहला अधिकार किसका है? इस पर गंभीरता से विचार अपेक्षित है। विगत दो सौ वर्षों में यूरोप में भारतीय शास्त्रों का अनुवाद हुआ। उसका वहाँ की प्रबुद्ध जनता पर प्रभाव पड़ा, विशेष कर आध्यात्मिक क्षेत्र में, किन्तु उससे लाभ उठाने के बजाय ईसाई मिशनरियों ने उसका मजाक ही उड़ाया है। इसीसे स्पष्ट हो जाता है कि दुनिया के इस उत्कृष्ट अवदान को दुनिया के सामने रखने की उनकी कोई मंशा नहीं है। यह कार्य तो हमें स्वयं ही करना पड़ेगा।

आज से लगभग दो हजार वर्ष पहले सांख्यकारिका के लेखक ईश्वरकृष्ण ने वैदिक कर्मकाण्ड स्वर्ग तक ही सीमित है, यह कह कर उसकी समालोचना की थी। चार्वाक दर्शन तो इससे भी बहुत आगे बढ़ गया था। आज के सेमेटिक धर्म भी स्वर्ग-नरक से ऊपर नहीं उठ पाये हैं। इन धर्मों के अनुयायी आज भी इतना साहस नहीं जुटा सके हैं कि वे इसकी समालोचना कर सकें। हमने अपने ग्रन्थ "तन्त्रागमीय धर्म-दर्शन" के प्रथम खण्ड की प्रस्तावना (पृ० १३) में इस विषय पर विचार किया है। सेमेटिक धर्मों के अनुयायियों को उस पर गंभीरता से विचार कर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करनी चाहिये।

प्रसंगवश सुधारवादी आन्दोलन की एक गलत प्रवृत्ति की हम चर्चा करना चाहते हैं। यह प्रचारित किया जाता है कि इधर ढाई हजार वर्षों में भारत ने कोई नया अवदान नहीं दिया। पश्चिम पयोधि (अरब सागर), पूर्व सागर (बंगाल की खाड़ी), दक्षिण जलनिधि (हिन्द महासागर) जैसे शब्दों की ये चर्चा करते हैं। उनकी जानकारी के लिए हम यह सूचना देना चाहते हैं कि रामेश्वर की यात्रा पर गया प्रत्येक श्रद्धालु भारतीय समुद्र-स्नान करते समय संकल्प वाक्य में *'रत्नाकर-महोदधिसंगमे'* पढ़ता है। विशेष जानकारी के लिए स्व० डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल का "सारस्वती सुषमा" (व० ६, पृ० ३३९-३४३) में प्रकाशित "अत्र ते कीर्तयिष्यामि वर्षं भारत! भारतम्" शीर्षक संस्कृत निबन्ध देखा जा सकता है।

दूसरी तरफ कुछ यूरोपीय विद्वान् ढाई हजार वर्ष पहले भारत ने दुनिया को कोई अवदान दिया हो, ऐसा मानने को तैयार नहीं हैं। मिशनरियों को हम इनमें शामिल कर सकते हैं। इन दोनों दृष्टियों से हमें ऊपर उठना होगा। पूर्ववर्ती अवदानों को अब विश्व की मान्यता मिल चुकी है और उत्तरवर्ती अवदानों को उजागर करने के लिए इस बीसवीं सदी में अनेक पुस्तकें लिखी गई हैं। इसमें हमने भी अपना कुछ सहयोग किया है।

इसी प्रसंग में संघ परिवार से भी हम कुछ निवेदन करना चाहते हैं। अभी उनकी तरफ से भारतीयकरण की बात उठाई गई है। बहुत पहले डॉ० बलराज मधोक ने इस प्रश्न को

छेड़ा था। उस समय हमने लिखा था कि इस प्रक्रिया से हम सभी को गुजरना पड़ेगा। डॉ० मधोक के साथ संघ परिवार का व्यवहार समालोचनीय रहा है और अभी श्री गोविन्दाचार्य के साथ उनके आपसी संबन्धों में कड़ुवाहट आई लगती है। यह असहिष्णुता का एक प्रकार है, जो इस्लामिक संस्कृति से जुड़ा है। इससे मुक्त होना जरूरी है। यही कारण है कि जब संघ-परिवार की तरफ से भारतीयकरण की चर्चा की जाती है, तब उसका अर्थ हिन्दूकरण हो जाता है। अधिकांश भारतीय मुसलमानों के पुरखे हिन्दू थे, इस उक्ति से यदि उनको संतोष नहीं मिलता, तो व्यर्थ में इस बात को दुहराते रहने से क्या लाभ मिलने वाला है ? यह आश्चर्य की ही बात है कि भारतवर्ष की भारती प्रजा को हिन्दू नाम मुसलमानों ने दिया और ईसाइयों ने उसे प्रचारित किया। इस नाम में तो भारत में रहने वाले मुसलमानों और ईसाइयों का भी समावेश होना चाहिए था। अब यह नाम देने वाले अपने तो इससे दूर भाग ही रहे हैं, बौद्ध, जैन, सिक्ख जैसे धर्मानुयायियों को भी इस नाम से दूर रखने का षड्यन्त्र रच चुके हैं। दूसरी तरफ संघ-परिवार इससे पूरी तरह जुड़ गया है। इससे भारत में *'श्रमण-ब्राह्मणम्'* जैसी स्थिति पुनः उभड़ आई है। संघ-परिवार से हमारा अभिप्राय राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, विश्व हिन्दू परिषद्, शिवसेना, बजरंग दल जैसे सभी संघटनों से है। आजकल अभारतीय तत्त्व इन सब पर हावी है। सांस्कृतिक लिहाज से यह स्थिति उचित नहीं है।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के अध्यक्ष जब भारतीयकरण की चर्चा उठाते हैं, तो *"नाम्ना तु भारतं वर्षं भारती यत्र सन्ततिः"* महाभारत के इस वचन के अनुसार हमें सर्वप्रथम 'भारती प्रजा' शब्द पर ध्यान देना चाहिये। यह भारत का दुर्भाग्य है कि ज्वलन्त राष्ट्रीय समस्याओं पर भी हम मिल-बैठ कर विचार नहीं कर सकते। उपनिषदों में और चरक-सुश्रुत जैसे चिकित्साशास्त्र के ग्रन्थों में विभिन्न समस्याओं के समाधान के लिए परिषदों के आयोजन की चर्चा मिलती है। नैमिषारण्य में शौनक आदि ऋषियों के संवाद से अधिसंख्य प्रजा परिचित है। चीन और जापान राष्ट्रीय आम सहमति के आधार पर ही आगे बढ़ रहे हैं। भारतीय जनतन्त्र का भी यही तकाजा है कि पूरे राष्ट्र में भावनात्मक एकता की स्थापना के लिए कुछ राष्ट्रीय प्रश्नों पर हमें सर्वसंमत निर्णय करने के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए। संकीर्ण सेमेटिक संस्कृति से प्रभावित रहने तक यह प्रक्रिया प्रारम्भ नहीं हो सकती। इसके लिए हमें सबसे पहले भारतीय संस्कृति के उत्कृष्टतम अवदानों को दुनिया के सामने उजागर करना होगा।

मजहबी कर्मकाण्ड की सरलता ने भारतीय धर्मों के कठोर नियन्त्रण को झकझोर दिया है। सामान्य जनता के लिए कीर्तन जैसे कर्मकाण्डों को अवश्य मान्यता दी गई, किन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं है। इस ओर आगे बढ़ने से पहले परस्पर के सन्देहों को मिटाना आवश्यक है। इस प्रसंग में हमें भट्ट कुमारिल की एक उक्ति याद आती है— *"दोषो ह्यविद्यमानोऽपि तच्चित्तानां प्रकाशते"*। कभी कभी कहीं कोई बुराई के न रहने

पर भी मनुष्य उसकी कल्पना कर लेता है। आज भारत में यह मनोवृत्ति बहुत प्रबल हो उठी है। इसके निराकरण का प्रयत्न अपेक्षित है।

आज पूरा विश्व धर्मों के मकड़जाल में फँसा हुआ है, इस बात को विस्तार से प्रस्तुत करते हुए हमने यहाँ कहा है कि धर्मों के आगोश में समाये धार्मिक कर्मकाण्ड को ही मान्यता देने वाले देश और विदेश के विद्वानों ने भारतीय इतिहास को भी विकृत करने की कोशिश की है। इसीसे यह देश सांस्कृतिक अवसाद से घिर गया है। इस सांस्कृतिक अवसाद का स्वरूप क्या है ? इसको बताते हुए आगे हम यह भी बताने जा रहे है कि इस सांस्कृतिक अवसाद से हम तब तक नहीं निकल सकते, जब तक इस देश में चतुष्कोणीय संघर्ष चलता रहेगा।

●

सांस्कृतिक अवसाद

''यूनान मिस्र रोमा सब मिट गये जहाँ से'' इस कड़ी में अब भारत का नंबर आने वाला है। यों ईरान को भी इसमें शामिल करना चाहिए था, क्योंकि ऋग्वेद के सहोदर जेन्दावेस्ता के प्राकट्य की भूमि में रहने वाले पारसीक जन अब भारत की प्रजा बन गये हैं। यूनान, मिस्र, रोम, ईरान—ये सब मिटे नहीं हैं, विश्व के भूगोल में ये आज भी बने हुए हैं, किन्तु ये सब देश सांस्कृतिक अवसाद से ग्रस्त हो अपना वर्चस्व गँवा बैठे हैं। अब भारत के साथ भी वही होने जा रहा है। अलग सिक्खिस्तान की माँग करने वाले हमारे सिक्ख बन्धु तो अपने सभी गुरुओं की जयन्ती भारतीय पंचांग के अनुसार मनाते हैं, किन्तु कुछ पत्रकार-बन्धुओं की दृष्टि में संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय में हिन्दू तिथियों के अनुसार अष्टमी और प्रतिपदा को छुट्टी होती है। भारतीय पंचांग के अनुसार कहने में उन्हें शर्म आती है।

जब लोकमान्य तिलक, महात्मा गाँधी, महामना मदनमोहन मालवीय जैसे महानुभावों का जन्मदिन अंग्रेजी तारीख के अनुसार मनाया जाय, देश का स्वतन्त्रता दिवस अंग्रेजी तारीख का मुहताज हो और अब बाबरी ढाँचे की वर्षी भी अंग्रेजी तारीख के अनुसार मनाई जाती हो, प्रत्येक परिवार में बच्चों का *'बर्थ डे'* मनाया जाने लगा हो और मोमबत्ती को जलाने के बाद फूँक देकर बुझाया जाता हो, उस देश का पत्रकार इसके सिवाय लिख भी क्या सकता है ? धर्मनिरपेक्षता जैसे असांस्कृतिक शब्द के खिलाफ लिखने का साहस उसमें कहाँ से आ सकता है ? हिन्दू शब्द के नाम पर पुराना सब कुछ उसे हेय दिखाई पड़ता हो, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? इस सांस्कृतिक अवसाद में आकंठ डूब जाने पर भारत की भी वैसे ही स्थिति होने वाली है। क्या यह हमें स्वीकार है ?

हिन्दू और धर्मनिरपेक्षता—इन दोनों शब्दों पर आगे (पृ० ५३-५६, ६७-७४) विस्तार से विचार किया जाएगा। ८०० वर्ष की इस्लाम की और २०० वर्ष की अंग्रेजियत की गुलामी ने आम भारतीय को दब्बू बना दिया है। हिन्दू शब्द से जुड़ी हुई प्रत्येक वस्तु से आज की दुनिया को नफरत करना सिखाया जा रहा है। इस्लामिक कालगणना भारतीय पंचांग की चान्द्र पद्धति पर तथा ईशवीय कालगणना सौर पद्धति पर टिकी हुई है। चान्द्र और सौर दोनों पद्धतियाँ भारत में प्राचीन काल से प्रचलित हैं। दोनों कालगणनाओं में सामंजस्य बैठाने के लिए भारत में अधिकमास और क्षयमास की व्यवस्था की गई है। इस्लाम ने इसे स्वीकार नहीं किया। प्रत्येक तीन वर्ष के बाद उसकी कालगणना में विकृति आ जाती है। उसने तो अपनी इस गलती को सुधारने का आज तक भी कोई प्रयत्न नहीं किया, किन्तु हीनभावना से ग्रस्त भारतीय प्रजा उस प्रत्येक वस्तु को छोड़ने को तैयार हो जाती है, जिसका संबन्ध उसको भरमाने के लिए ही सही, हिन्दुत्व से जोड़ दिया जाता है। शायद हम यह भी भूल गये हैं कि एक से दस तक की संख्या के परिँचायक अंक विश्व को भारत की देन हैं। *'हिन्दस्का'* के नाम से ये प्रसिद्ध हैं। आज पूरे विश्व में रोमन अंकों का ये स्थान ले चुके हैं। आश्चर्य तब होता है, जब इसी अंकपद्धति के आधार पर विश्व को एक वर्ष पहले ही २१वीं शदी में पहुँचा दिया गया था। वस्तुस्थिति यह है कि २००१ से ही २१वीं शदी का प्रारंभ हुआ है। पूरा भारतीय प्रबुद्ध समाज भी हीनभावना से ग्रस्त है, इसका इससे बड़ा दूसरा कौन-सा उदाहरण मिलेगा? कुतर्कों के सहारे राष्ट्र जीवित नहीं रह सकता।

अंकगणित के साथ रेखागणित और खगोलविद्या विश्व को वैदिक यज्ञीय कर्मकाण्ड की देन है। विविध हवन-कुण्डों के निर्माण के समय और शुभ नक्षत्र में कार्य आरंभ करने के लिए इनकी अपेक्षा थी। शुल्बसूत्रों की रचना इसीलिए हुई थी। ऊपर हमने जेन्दावेस्ता की चर्चा की है। पूना के वैदिक शोध संस्थान ने अब इसका देवनागरी संस्करण निकाल दिया है। इसकी आप ऋग्वेद से तुलना कर सकते हैं। भारत में मोहेंजोदड़ो-हड़प्पा की तरह पश्चिम एशिया में 'उर' नाम की एक पुरानी बस्ती मिली है। वहाँ के इष्टका-लेखों पर इन्द्र, वरुण, नासत्य जैसे वैदिक देवताओं के नाम अंकित हैं। हमें यह भूलना नहीं चाहिए कि ईसा-पूर्व की शताब्दियों में यूनान से भारत का भृगुकच्छ (भड़ौच) से सीधा जलमार्ग से व्यापार होता था। छठी-सातवीं शती में हुए पंचतन्त्र के पारसी अनुवाद ने विश्व को सर्वप्रथम बालसाहित्य से परिचित कराया था। अरबयात्री अलबेरुनी ने १८ पुराणों का अरबी भाषा में अनुवाद किया था और पतंजलि के योगसूत्र पर लिखी गयी किसी व्याख्या का भी अरबी में अनुवाद हुआ था। कंबोडिया में मिले संस्कृत शिलालेखों में ८वीं से १०वीं शताब्दी तक के भारतीय राजाओं और भारतीय शास्त्रों की चर्चा मिलती है और अंकोरवाट-बोरोबुदुर जैसे शैवों और वैष्णवों के विशाल मन्दिर आज भी उनकी साक्षी दे रहे हैं। दक्षिण-पूर्व एशिया के चीन,

जापान, तिब्बत, मंगोलिया जैसे देशों में सुरक्षित भारतीय वाङ्मय के विशाल अनुवाद-साहित्य की चर्चा आ चुकी है। आजकल के प्रबुद्ध विद्वानों ने बौद्ध[९] धर्म से इनको जोड़ दिया है और श्रीलंका जैसे देशों के बौद्धों ने भारतीयता से अपना नाता तोड़ लिया है, यद्यपि यह एक प्रकार की बकवास ही है। इसीके कारण वह देश समस्या-ग्रस्त है।

कश्मीर घाटी से अल्पसंख्यकों को निकाल दिया गया है। इनके लिए अल्पसंख्यक शब्द का प्रयोग मानवीय विद्रूपता का ही उदाहरण माना जायगा। इनकी संरक्षा के लिए भारतीय प्रशासन क्या कर रहा है? वह तो कश्मीर घाटी से आ रही नई-नई समस्याओं से परेशान है। वह धारा ३७० को हटाने के अपने वादे से मुकर गया है। अशोक महान् बनने के पं० जवाहरलाल नेहरू के सपने ने कश्मीर और तिब्बत की दुर्दशा की। मनुष्य की लोकैषणा उसके पतन का सबसे बड़ा कारण बनती है। शीर्ष पुरुषों को इससे सावधान रहना होगा। द्विराष्ट्रवाद का सिद्धान्त इस्लाम की नहीं, ब्रिटिश कुटिलनीति की उपज है और इसके साथ अब अमेरिका भी जुड़ गया है। कश्मीर की समस्या का सही समाधान न होने पर यह देश भी सोवियत संघ की तरह बिखर जायगा, जो ब्रिटिश और अमेरिकी राजनीतिज्ञों का अन्तिम लक्ष्य है। इसके साथ ही यह देश सांस्कृतिक अवसाद में डूब जाएगा।

विश्व-समुदाय के समक्ष भारत में ईसाइयों पर आक्रमण का एक नया शिगूफा छोड़ा गया है। इस विषय में नये-नये तथ्य प्रकाश में आ रहे हैं। इतना स्पष्ट है कि इधर एक-दो वर्षों में जो भी घटनाएँ हुई हैं, इनकी वास्तविकता यह है कि ये सब धर्मान्तरण-व्यापार में लगे चर्च के इर्दगिर्द घटी हैं, इसका ईसाई प्रजा से नाम-मात्र का भी संबन्ध नहीं है। तब इस मिथ्या प्रचार का पर्दाफाश क्यों नहीं किया गया? पत्रकार जगत् अपने को राष्ट्र की रक्षा का चतुर्थ स्तंभ मानता है। वह अनायास ऐसे मिथ्या दुष्प्रचारों से कैसे प्रभावित हो जाता है? थोड़ा ठहर कर उसको आत्मनिरीक्षण करना चाहिए। अतिथि के रूप में आये धर्मगुरु के उस वक्तव्य का भी विरोध होना चाहिए था कि अब तीसरी सहस्राब्दी में सारी दुनिया को ईसाई बनाया जायगा। अतिथि-धर्म के साथ किया गया यह विश्वासघात स्वयं उस धर्म की असलियत को उजागर कर देता है। मौनावलंबन ही नहीं, ऐसे व्यक्तियों के सामने हमारा अपराधी के समान नतमस्तक होना शिष्टाचार नहीं, कायरता है। एक हजार वर्ष के परतन्त्रता काल में यह हमारी नस-नस में भर गई है। यह आचरण राष्ट्र के द्वारा स्वीकृत *सेक्युलर* सिद्धान्त के भी विपरीत है। *"वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि"* इस भारतीय शिक्षा को हम भूल बैठे हैं।

---

९. सांस्कृतिक कार्य को भी धर्म से जोड़ देना विलगाववादी मनोवृत्ति का ही कार्य है। इस मनोवृत्ति की चर्चा पहले (पृ० १०-१३) हो चुकी है।

ग्यारहवीं शताब्दी के पहले के भारत के ओजस्वी उद्बोधन के अभाव में ही आज अरब जगत् इस दुनिया को अपना कोई उल्लेखनीय योगदान नहीं दे पा रहा है। सांस्कृतिक अवसाद से मुक्त भारत ही यूनान, मिस्त्र, रोम और ईरान को ही नहीं, उस देश को भी सांस्कृतिक अवसाद से मुक्ति दिला सकता है, जो आज *'ईराक'* कहलाता है और पहले *मेसोपोटामिया* और *बेबीलोनिया* के नाम से जाना जाता था, जिसने दुनियाँ में सबसे पहले आकाशीय उद्यानों को साकार रूप दिया था और जिसने ज्योतिष विद्या के क्षेत्र में विश्व को अपना महनीय योगदान किया था। इन सब देशों का रचनात्मक सहयोग ही विश्वमानवता का कल्याण कर सकता है। अपने सही स्वरूप को भुला बैठा, सांस्कृतिक अवसाद में डूबा भारत क्या इस कार्य को करने में समर्थ हो सकेगा?

चतुष्कोणीय संघर्ष

हमारा मत है कि चतुष्कोणीय संघर्ष में उलझा भारत यह कार्य नहीं कर सकता। भारत की आज अपनी कोई राष्ट्रीयता नहीं है। एक विदेशी भाषा के चंगुल में वह फँसा है और इसका फन्दा दिन-प्रतिदिन कसता चला जा रहा है। पं० जवाहरलाल नेहरू के मानसपुत्र यहाँ की संस्कृति को गंगा-जमुनी संस्कृति नाम देना पसंद करते हैं। ऐसी स्थिति में भारत में कभी एक राष्ट्रीयता, एक भाषा और एक संस्कृति पनप पावेगी, इस पर विचार करने की भी फुरसत किसी को नहीं है। बहुत से प्रगतिशील महानुभाव! तो इसकी आवश्यकता भी नहीं मानते। चतुष्कोणीय संघर्ष के चलते यह हो भी कैसे सकता है?

चतुष्कोणीय संघर्ष के ये चार कोण हैं—हिन्दू, मुस्लिम, ख्रीष्ट धर्म और कम्युनिज्म। कल्पित धर्मनिरपेक्षता के नाम पर ये दो वर्गों में बाँट दिये गये हैं। हिन्दू वर्ग को छोड़कर बाकी तीन वर्गों ने मिलकर अपने को धर्मनिरपेक्ष और हिन्दू वर्ग को सांप्रदायिक घोषित कर दिया है। ये अंग्रेजी भाषा और गंगा-जमुनी संस्कृति के पक्षपाती हैं। यों इन तीनों वर्गों का भी अपना-अपना लक्ष्य अलग-अलग है, किन्तु इस देश की मूल मान्यताओं को तहस-नहस कर देने में ये सब एकमत हैं। आश्चर्य यह है कि वर्तमान हिन्दू समाज ने इन वर्गों की मंशा के अनुसार अपने को एक अलग कौम मान लिया है और यह बेचारा भारत देश चतुष्कोणीय संघर्ष में उलझ गया है।

''गर्व से कहो हम हिन्दू हैं'' इस गर्व को छोड़े बिना यह देश इस उलझन से निकलने वाला भी नहीं है। भारतीय संविधान में इस देश का नाम मूलत: *'इण्डिया'* है और दिखावे के लिए *भारत*। जब तक भारत भारत नहीं बनेगा और यहाँ रहने वाली सारी जनता ''भारतीय प्रजा'' नहीं कहलायेगी, तब तक यह देश इस संघर्ष से बाहर नहीं निकल पावेगा। इससे निकलने का सबसे सरल उपाय यह है कि यहाँ एक स्वर

से *"हम सब भारतीय हैं"* यह नारा बुलन्द हो और ऊपर चर्चित सभी वर्ग इस नारे को तहेदिल से आत्मसात् कर सकें। भारत में रहने वाला प्रत्येक व्यक्ति भारतीय है, यह कहना तो सही है, किन्तु भारतीयता क्या है? इसकी जानकारी होना और तदनुसार आचरण भी करना इसके लिए जरूरी है।

एक हजार वर्ष से यहीं रहता हुआ मुसलमान इसको समझ न सका और न हम उसको समझा सके। इस्लाम के आने से पहले भी यहाँ अनेक धर्म-संप्रदाय, मत-वर्ग प्रचलित थे। इनमें हम बाहर से शरण लेने आए धर्मों और संप्रदायों की भी गिनती कर सकते हैं, जिनकी चर्चा भारतीय उदारवाद को उजागर करने के लिए स्वामी विवेकानन्द ने महिम्नस्तोत्र का गान करते हुए की थी। वीरशैव मत के पारमेश्वरागम में बताया गया है कि शैव मत का पालन करने वाली स्त्री वैष्णव पति के साथ और वैष्णव स्त्री शैव पति के साथ यावज्जीवन अपने-अपने धर्म का पालन करते हुए सुखपूर्वक रह सकती है। इसके साथ आप सेमेटिक धर्मों की तुलना कीजिए, जहाँ अपने धर्म में आये बिना व्यक्ति की मुक्ति को असंभव मान लिया गया है। पूरी दुनिया को इस्लाम या ख्रीष्ट धर्म में दीक्षित करने को धार्मिक आदेश मानने वाले ये धर्म इस देश को छोड़िये, पूरी दुनिया को क्या कभी सुख-शान्ति से रहने देने के लिए तैयार हो सकेंगे? धर्म-परिवर्तन के बीज अपने धर्म के प्रति अहंकार में छिपे हुए हैं और एक अहंकार से दूसरे अहंकार की टकराहट अशान्ति को ही पैदा करेगी।

हमारे एक शुभचिंतक का मानना है कि विगत एक हजार वर्षों में हिन्दू समाज इस्लाम और ख्रीष्ट धर्म के अनुयायियों से शासित रहा है, अतः इनकी मानसिकता शासकों की और हिन्दुओं की शासितों की बन गई है। इस मानसिकता में आज भी परिवर्तन नहीं आया है। थानों पर हमला करके अपराधियों को छुड़ा लेने की मनोवृत्ति उसीकी सूचना देती है और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से अनुप्राणित साम्यवाद ने इस मनोवृत्ति को बढ़ावा ही दिया है। धर्मान्तरण जैसे इस्लाम और ख्रीष्ट धर्म की कमजोरी है, उसी तरह सबको आपस में लड़ाना साम्यवाद की कमजोरी है। रूस में तो यह साम्यवाद पराजित हो चुका है, किन्तु कम्युनिज्म के झंडे को अब चीन ने थाम लिया है। अब दुनिया में धर्म की कोई भूमिका नहीं है, इस बात की कलई तो पोप साहब और खुमानी साहब के फरमानों से ही खुल जाती है। इसके विपरीत हिन्दू सिर उठाकर देखना चाहता है, तो विश्वव्यापी प्रचारतन्त्र उसको कुचल देने के लिए तो तैयार बैठा ही रहना है, हमारे प्रबुद्ध चिन्तक और राजनीतिज्ञ भी, जिन्होंने अंग्रेजी भाषा के माध्यम से भारतीय इतिहास को पढ़ा है, इस प्रचार में बह जाते हैं।

हालैण्ड के भारतीय विद्या के विद्वान् डॉ० जे० गोण्डा ने एक पुस्तक लिखी है—"चेंज एण्ड कंटीन्युइटी इन इण्डियन रिलीजन" इनके मत से भारतीय धर्म की

यह विशेषता रही है कि इसमें निरन्तरता के साथ परिवर्तन भी होता रहा है। ध्यान देने की बात है *'रिलीजन'* का एक वचन। यह वास्तविकता है कि *'सनातन धर्म'* में यह शीर्षक पूरी तरह से घटता है और बहुत पहले महाकवि कालिदास ने *"पुराणमित्येव न साधु सर्वम्"* का उद्घोष कर इस बात की पुष्टि की है। आचार्य नरेन्द्रदेव ने भी भारतीय संस्कृति को इसी रूप में परिभाषित किया है। भारत में वैदिक, बौद्ध, जैन, वैष्णव, शैव आदि धर्मों, स्मृति-पुराण, आगम-तन्त्रशास्त्र और भक्त-सन्त साहित्य के माध्यम से भारतीय संस्कृति-गंगा का पावन प्रवाह अबाध रूप में आज भी प्रवाहित है। भक्तों और सन्तों की वाणी को तो हम सुन सके हैं, किन्तु आगम-तन्त्रशास्त्र को हम भुला बैठे हैं, जो भक्तों और सन्तों की वाणी का प्रेरणास्रोत रहा है।

इस प्रसंग में हमें यह याद रखना है कि महाकवि कालिदास के समय में संगम-स्थल पर गंगा और यमुना का नजारा आज के जैसा ही था। ध्यान देने की बात यह है कि इन दोनों नदियों की धाराएँ कुछ दूरी तक अलग-अलग दिखाई देने पर भी आगे चलकर एकाकार हो जाती हैं। नाना नदियों के प्रवाह से समृद्ध भगवती गंगा अन्त में गंगासागर में विलीन हो जाती है। वहाँ भी वह अपना नाम नहीं छोड़ती, किन्तु काशी की गंगा में यमुना अन्तर्भूत है। भारतीय संस्कृति के इसी स्वरूप को हमें मान्यता देनी चाहिए।

किस आधार पर यह संस्कृति परिपुष्ट हो सकती है? इसके उत्तर में हमारा निवेदन है कि आज से ११ सौ वर्ष पहले कश्मीर में आगम-तन्त्रशास्त्र के महान् विद्वान् अभिनवगुप्त का प्रादुर्भाव हुआ था। इनके मत की विशद चर्चा हम आगे (पृ० ९८-९९) में करेंगे। प्राचीन शास्त्रों के प्रमाण से इनके द्वारा बताई गई पद्धति से ही पंचायतन पूजा के माध्यम से भारत में इस व्यवस्था को मूर्त रूप भी दे दिया गया था। वैदिक, जैन, बौद्ध, वैष्णव सभी अपनी-अपनी पद्धति से अपने इष्टदेव की आराधना के लिए स्वतन्त्र थे। उसी पद्धति से आज अपने धर्म की श्रेष्ठता और धर्म-परिवर्तन जैसे दुराग्रहों को छोड़कर, धर्मों के कालातीत तत्त्वों से छुटकारा पाकर सेमेटिक धर्म भी भारत में सुख-शान्ति से रह सकते हैं। इसके लिए हम सभी धर्मों के पूज्य गुरुओं, उन भटके बुद्धिजीवियों और राजनीतिज्ञों को भी पूरे भारतीय वाङ्मय के अध्ययन का सुझाव देते हैं कि भारतीय संस्कृति में परिवर्तन के साथ निरन्तरता को बनाये रखने वाले तत्त्वों की पहचान कर वे अपने चिन्तन में उनका समावेश कर सकें।

आज का बुद्धिजीवी वर्ग और कुछ राजनीतिज्ञ ब्राह्मणवाद और मनुवाद के नाम पर जिन सामाजिक समस्याओं को बढ़ा-चढ़ा कर परोस रहे हैं, उनका समाधान आगम-तन्त्रशास्त्र ने आज से एक हजार वर्ष पहले ही खोज लिया था। वहाँ जाति की श्रेष्ठता को नकार कर चरित्र को वरीयता दी गई है। पुराण-इतिहास साहित्य को तथा

भक्तों और सन्तों की लम्बी परम्परा को भी हम इसके उदाहरण के रूप में पेश कर सकते हैं, जिसमें वर्ण और लिंग के भेद को भूलकर पूरी मानवता को संमान मिला है, चरित्र के आधार पर व्यक्ति को समाज में ऊँचा स्थान मिला है। एक हजार वर्ष के परतन्त्रता काल ने हमारी इस विशेषता को धूमिल कर दिया। संपूर्ण भारत में विभिन्न भारतीय भाषाओं के माध्यम से सन्तों और भक्तों के उपदेशों से अनुप्राणित भारती प्रजा को इस ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। तभी यह चतुष्कोणीय संघर्ष समाप्त हो सकेगा।

सांस्कृतिक अवसाद के स्वरूप को और उसके प्रमुख कारण के रूप भारत में चल रहे चतुष्कोणीय संघर्ष के हानिकारक प्रभाव को दिखाते हुए उसको कैसे रोका जा सकता है यह भी यहाँ प्रदर्शित है। आगे यह दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि हम अपने स्वरूप को भूलकर आत्मघात के लिए क्यों उतारू हो गये हैं। आगे के प्रगतिशील और प्रतिगामी शीर्षक में यह बताने की कोशिश की गई है कि कम्युनिस्टों के द्वारा प्रचारित इन दोनों शब्दों की भ्रामकता को बिना समझे हम प्रगतिशील बनने के चक्कर में भारतीयता के शाश्वत मूल्यों को भी नकारते जा रहे हैं। भारतीयता की, भारतीय संस्कृति के चिरंतन और चिरनवीन तत्त्वों की सही जानकारी न हो पाने के कारण यह सब हो रहा है।

●

यह आत्मघात क्यों?

तरह-तरह की विचारधाराओं और उन पर आग्रहशील बुद्धिजीवियों के कारण यह देश आज जल रहा है। इसका दुष्प्रभाव राजनीति पर भी पड़ रहा है। आधुनिक लोकतन्त्र में बहुमत के आधार पर दलीय शासन को मान्यता मिली हुई है। इसमें पक्ष और विपक्ष की अपनी-अपनी भूमिका रहती है। यहाँ दुराग्रह का कोई स्थान नहीं है, किन्तु इस देश की राजनीति में पक्ष-विपक्ष का स्थान शत्रुभाव और मित्रभाव ने ले लिया है। इसके कारणों की खोज हमें करनी होगी।

प्राचीन भारत में परस्पर-विरोधी भावों और विचारों में सामंजस्य बैठाने के लिए, उनमें आपात रूप में दिखाई पड़ने वाले विरोध के परिहार के लिए प्रयत्न किया गया था। उदाहरण के रूप में महर्षि बादरायण के ब्रह्मसूत्र के प्रथम और द्वितीय अध्यायों के नामों को प्रस्तुत किया जा सकता है। इनके समन्वयाध्याय और अविरोधाध्याय शीर्षकों से ही विषयवस्तु का ज्ञान हो जाता है। वर्तमान में भारत में चल रहे चतुष्कोणीय संघर्ष के अभी ऊपर चर्चा हुई है। इनमें परस्पर के विरोध को दूर कर सामंजस्य बैठाने की आवश्यकता है। यही आज नहीं हो रहा है। यह इसलिए नहीं हो रहा है कि आज हम भटक गये हैं।

मौलाना वहीदुद्दीन खाँ साहब की हम चर्चा कर चुके हैं (पृ० १७)। इनकी दृष्टि सांस्कृतिक एकता की ओर अग्रसर है, किन्तु इस एकता का श्रेय जब वे पारसियों और ईसाइयों को देते हैं, तो हमारी समझ में यह नहीं आता कि भारत में इनके आने से पहले ही प्रचलित हुई ब्रह्मसूत्र की विचारसरणि उनकी आँखों से कैसे ओझल हो गई? पारसियों और ईसाईयों ने ही क्यों? सूफी सन्तों के माध्यम से इस्लाम ने भी इस ओर डग भरे थे। यह भारतीय संस्कृति और साहित्य का प्रभाव था। आज हम देखते हैं कि इतिहास की इस दिशा को उलटा मोड़ देने की कोशिशें चल रही हैं।

इस्लाम के आतंकवाद और जेहादी नारों की तथा कम्युनिज्म के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की इसमें बड़ी शोचनीय भूमिका है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद तो अपने आप अपनी मौत मर रहा है, किन्तु इस्लामी जेहादी नारों से उत्प्रेरित आतंकवाद पूरी मानवता के विनाश का कारण बन सकता है, यदि समय रहते उसे रोका न गया। इस प्रसंग में हमें भागवत महापुराण का एक श्लोक (१.५.१५) याद आता है। उसमें बताया गया है कि धर्म के नाम पर घिनौनी बातों का प्रचार करने वाला यह समझ नहीं पाता कि मैं कितना अनर्थ करने जा रहा हूँ। किसी समय भारत में कौल मत की उच्छृंखल प्रवृत्तियों को देखकर भागवतकार ने यह लिखा लगता है। वह पूरी तरह से आज के इस्लाम की वर्तमान गतिविधियों पर भी लागू होता है। धर्म के नाम पर प्रचारित किये जाने वाले इस तरह के कार्यकलापों की आज का प्रगतिशील बुद्धिजीवी-वर्ग आलोचना नहीं करता। इसके स्थान पर वह अपनी सारी बुद्धि का उपयोग भारतीय वर्णव्यवस्था को कोसने में करता है, जिसकी समालोचना उसमें विद्यमान ऊँच-नीच की भावना के कारण होनी चाहिए।

हम बता चुके हैं कि आज से एक हजार वर्ष पहले के भारतीय शास्त्रों में इसकी पर्याप्त समालोचना हो चुकी है। इस समस्या का समाधान महात्मा गाँधी और आचार्य नरेन्द्रदेव की दृष्टि का अनुसरण कर किया जाना चाहिए। हमें यह स्मरण रखना है कि डॉ० राममनोहर लोहिया की दृष्टि वर्गसंघर्ष के, पार्थक्यवाद और परस्पर की घृणा के साम्यवादी सिद्धान्त पर टिकी हुई है। वह समाज में वर्गविद्वेष को ही फैला सकती है। परस्पर में सामंजस्य की स्थापना में इसका कोई उपयोग नहीं हो सकता। यह अनपेक्षित चर्चा हमें इसलिए करनी पड़ी कि कुछ समाचार-पत्र और बुद्धिजीवी प्रयत्नपूर्वक इस दृष्टि को आगे बढ़ाने के लिए निरन्तर सचेष्ट दिखाई पड़ते हैं। वर्णों का ज्येष्ठ-कनिष्ठ भाव समय के साथ शिथिल होता जा रहा है। भारतीय सन्तों की लंबी परम्परा ने अधिसंख्य भारतीय प्रजा को सुशिक्षित कर दिया है। इसके लिए अब भारतीय परम्परा से अनभिज्ञ बुद्धजीवियों के उपदेश अनपेक्षित हैं।

अफगानिस्तान, अमेरिका, भारत जैसे देशों में इधर घटी-घटनाओं ने मानव जाति को चेताया है कि आज का जेहादी आतंकवाद मानवता का सबसे बड़ा शत्रु है। पूरी

दुनिया को मिलकर इसका सामना करना चाहिए। यह भी भारत की ही विशेषता है कि इस तरह की जनूनी हरकतों के खिलाफ उठ खड़े होने वाले यहूदियों की समालोचना में यहाँ के अधिसंख्य बुद्धिजीवी अपनी लेखनी का उपयोग करते हैं, किन्तु सम्पूर्ण मानवता के विपरीत हो रहे आचरणों की अनदेखी कर देते हैं। क्या इसे हम आत्मघाती मनोवृत्ति न कहें। कुछ बुद्धिजीवी वामियान की दुर्घटना की तुलना बाबरी ढाँचे को ढहाये जाने से करते हैं। हम उनका ध्यान १५ नवम्बर, १९९७ के दैनिक जागरण में प्रकाशित इमाम मुहम्मद बिन अब्दुल्लाह अल हुसैन के वक्तव्य की ओर दिलाना चाहते हैं। तदनुसार तो ऐसे स्थानों को अपने मूल रूप में बहुत पहले ही आ जाना चाहिए था। इसके लिए किसी आग्रही को बहुत खुला प्रमाण देखना हो, तो वह सिद्धपुर (गुजरात) के रुद्रमहालय को देख सकता है।

हमें इतना तो अवश्य ही सोचना पड़ेगा कि फिलिस्तीनियों का पक्ष लेकर कहीं हम जेहादी आतंकवाद को बढ़ावा देने तो नहीं जा रहे हैं? संघ-परिवार की आलोचना करते समय जब हम इस्लामिक आतंकवाद की अनदेखी करते हैं, उस समय हमारी आत्मघाती मनोवृत्ति ही काम कर रही होती है। बात-बात पर अल्पसंख्यकों की धार्मिक भावनाओं के आहत होने और फिर उन घावों पर मरहम लगाने की बात तो इन बुद्धिजीवियों और उन तथाकथित राजनेताओं को भी समझ में आती है, किन्तु इस पर वे विचार नहीं करते कि इनमें इतनी असहिष्णुता कहाँ से आ गई है कि रह-रह कर छुई-मुई की तरह इनकी ये धार्मिक भावनाएँ और विचार-शक्ति भी सकुचाने लगती है। इस्लाम की इस असहिष्णुता में परिष्कार अपेक्षित है।

बृहत्तर भारत की सांस्कृतिक पहिचान के भीतर हमें भारत में बस रहे सभी धर्मों के अनुयायियों को लाना होगा। श्रीलंका और बर्मा भी इसके अभाव में भटक रहे हैं और भारत पर भी इसकी काली छाया पड़ रही है। *'श्रमण-ब्राह्मणम्'* की कल्पना श्रीलंका के बौद्धों की देन लगती है। महायानी और मन्त्रयानी बौद्ध धर्म ने इसको बहुत पीछे छोड़ दिया है। नेपाल में इसका समन्वित स्वरूप देखने को मिलता है। इधर भारत में बौद्ध धर्म का प्रचार श्रीलंका के माध्यम से हुआ है, जहाँ ईसा-पूर्व पहली शताब्दी के महाकवि अश्वघोष का बुद्धचरित भी नहीं पढ़ाया जाता। क्यों? इसी प्रश्न के उत्तर में श्रीलंका की अशान्ति के बीज छिपे हुए हैं। बर्मा भी बहुत कुछ इसी व्याधि का शिकार है।

भारत का सुधारवादी आन्दोलन प्रायः ढाई हजार वर्ष पहिले की विचार-सरणि से जुड़ा हुआ है। विगत ढाई हजार वर्षों में हुए उन धार्मिक एवं सांस्कृतिक अवदानों की उसने उपेक्षा-सी कर दी है, जिनके कारण इस कालावधि में कभी बृहत्तर भारत की कल्पना साकार हुई थी। इस उपेक्षा का फल यह हुआ कि ब्राह्मणवाद और मनुवाद

जैसे मिथ्या आक्षेप भारतीय प्रजा को विचलित करने में समर्थ हो रहे हैं। अब महायानी और मन्त्रयानी बौद्ध धर्म भी कम्युनिस्टों की प्रेरणा लेने लगा है। भोट देश (तिब्बत) का भी भारत के जैसे अपना पंचांग है, किन्तु भोट प्रजा भी भारत के जैसे ही अब अंग्रेजी तिथिक्रम का अनुसरण करने को उद्यत है। बाबरी ढाँचे को ढहाये जाने के दिन भारतीय तिथि क्या थी, इसका संघ के कार्यकर्ताओं को भी ज्ञान नहीं है। 'कल्याण' जैसी धार्मिक मासिक पत्रिका में श्राद्ध की तिथि के रूप में अंग्रेजी तारीख मान्य होने जा रही है। भारत के पूर्व प्रधानमंत्री मुरारजी भाई देसाई की जन्मतिथि चार वर्ष बाद आती थी। यहाँ आकर भारतीय पंचांग की उपेक्षा शोचनीय स्थिति तक पहुँच गई है।

भारतीय प्रबुद्धवर्ग भारतीयता की उपेक्षा कर इतने मात्र से सन्तुष्ट नहीं हो गया है। भारतीय शास्त्रों में एक से परार्ध पर्यन्त दश-गुणित बीस संख्याओं की नामावली मिलती है। आज हम करोड़ की संख्या से आगे अरब या खरब तक मुश्किल से पहुँच पाते हैं। पाश्चात्य देशों की तरह दस हजार करोड़, दस लाख करोड़ जैसे वाक्यों का प्रयोग हमारी नियति बन गई है। भगवद्गीता के इस देश में धर्मान्तरण को पूरी मान्यता मिली हुई है। भारतीय पंचांग के अनुसार तिथि-परिवर्तन सूर्योदय से होता है, मध्यरात्रि से नहीं। स्त्रियों, वृद्धों और बालकों की हत्या विश्व को सेमेटिक धर्मों की देन है। अपने स्वरूप को पूरी तरह से भुला देने के लिए क्यों हम इतने उतावले हो उठे हैं? अंग्रेजियत का व्यामोह क्यों हमारे ऊपर इतना हावी होता जा रहा है? ऐसा करते हुए क्या हम आत्मघात की ओर नहीं बढ़ रहे हैं?

●

प्रगतिशील और प्रतिगामी

अधिसंख्य भारतीय प्रजा को उपदेश देने में आज आत्मघात की ओर बढ़ रहे ये लोग भी पीछे नहीं हैं, जिनकी जड़े भारतवर्ष में हैं ही नहीं। ऐसे ही लोग प्रगतिशीलता का बाना भी पहन लेते हैं। प्रतिगामियों के चंगुल से भारतीय प्रजा का उद्धार करना ये अपना कर्तव्य समझने लगे हैं। आजकल इस देश में प्रगतिशील कहलाने की इच्छा इतनी प्रबल हो उठी है कि गांधीवादी संस्थानों में आर्थिक घोटालों को सरंजाम देने वाले भी अपने को प्रगतिशील मानकर भारतीय प्रजा को प्रतिगामिता से ऊपर उठाने के लिए तथाकथित सन्त-वचनों का भी सहारा लेने में नहीं चूकते। महात्मा गाँधी के हत्यारे नाथूराम गोडसे के उदाहरण से ये अधिसंख्य भारतीय प्रजा को प्रतिगामी मानते हैं और यह भूल जाते हैं कि प्रतिस्पर्धी की हत्या कर देता सेमेटिक धर्मों से आये कुसंस्कार हैं? भारतीय संस्कृति में इस तरह के उदाहरण बिरले ही मिलेंगे। ऐसे व्यक्तियों की दृष्टि में शिवसेना के प्रमुख बाल ठाकरे प्रतिगामी हैं और दिल्ली की जामा मस्जिद के इमाम बुखारी, जनाब शहाबुद्दीन जैसे व्यक्ति प्रगतिशील। ये लोग हिन्दुवादी संगठनों को सांप्रदायिक और अपने को धर्मनिरपेक्ष बताने में

कोई संकोच नहीं करते। आज का धर्मनिरपेक्ष व्यक्ति प्रगतिशील और सांप्रदायिक व्यक्ति प्रतिगामी माना जाने लगा है। कम्युनिस्ट विचारधारा से ये दोनों शब्द पनपे हैं, ऐसा हम मान सकते हैं।

धर्मनिरपेक्ष और सांप्रदायिक शब्दों की तरह प्रगतिशील और प्रतिगामी शब्दों की भी समीक्षा हमें करनी होगी, एक विश्लेषण प्रस्तुत करना होगा कि इन दोनों शब्दों का भी सही अर्थों में प्रयोग होता है या नहीं? कम्युनिस्ट परिभाषा में प्रगतिशील वह है, जो प्राचीनता को पूरी तरह से नकार चुका हो और प्रतिगामी वे कहलाते हैं, जो प्राचीनता से पूरी तरह से चिपके हों। क्या यह सोच सही है? भारतीय दृष्टि ने इस सोच को बहुत पहले नकार दिया है। महाकवि कालिदास के अनुसार ये दोनों ही दृष्टियाँ सही नहीं हैं। उनके अनुसार तो किसी भी समझदार व्यक्ति को किसी बात को उसकी परीक्षा के उपरान्त ही मानना चाहिए। अपने श्लोक के चौथे चरण में उन्होंने कहा कि नासमझ आदमी जल्दी दूसरे के बहकावे में आ जाता है। इस पर टिप्पणी अपेक्षित नहीं है।

आज का बुद्धिजीवी-वर्ग कम्युनिस्टों के द्वारा परिभाषित प्रगतिशीलता की मृगमरीचिका में फँसकर समस्त पुरातन दृष्टि को नकार देने में लगा हुआ है। इनकी कमजोर पड़ी संकीर्ण दृष्टि पाश्चात्य चश्मे के सहारे ही भारतीयता को देख पाती है। यह पाश्चात्य चश्मा उनके सामने इसके दुर्गुणों को ही उजागर कर पाता है। यह उन शाश्वत मूल्यों को नहीं देख पाता, जिनका प्रतिपादन उपनिषदों से लेकर भारत के समस्त भाषाओं में निबद्ध सन्त साहित्य में निरन्तरता से हुआ है। वे समय-समय पर हुए उन परिवर्तनों को भी नहीं देख पाते, जिनको भारतीय संस्कारों ने सहर्ष स्वीकार किया है। कुछ चुने हुए गांधीवादी विचारकों और आचार्य नरेन्द्रदेव के गिने-चुने समाजवादी अनुयायियों के अतिरिक्त आजकल भारत में प्रचारित अन्य समस्त विचारधाराओं के बुद्धिजीवी सेमेटिक धर्माध्यक्षों के द्वारा निर्धारित भारतीय संस्कृति के अधकचरे स्वरूप से परिचित होकर उसे प्रतिगामी तथा अपनी दृष्टि को प्रगतिशील सिद्ध करने में लगे रहते हैं। इनके पोषक राजनीतिज्ञों और इनके सामने तो अनेक प्रलोभन हो सकते हैं, किन्तु गाँधीवादी विचारधारा से जुड़े समझदार व्यक्ति जब जामा मस्जिद के इमाम के सुर में सुर मिला कर सारी परिस्थितियों को जानते हुए भी वामियान की बुद्धमूर्ति के विध्वंस की तुलना बाबरी ढाँचे के विध्वंस से करते हैं, तब समझ में आता है कि आज गाँधीजी का प्रिय भजन कैसे सांप्रदायिक बन गया।

काशी के जंगमवाड़ी मठ के शैवभारती शोध प्रतिष्ठान से इधर दो पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। इनमें से पहली पुस्तक में भारतीय संस्कृति के स्वरूप पर किये गये, ब्राह्मणवाद और मनुवाद से प्रभावित होने जैसे समस्त मिथ्या आक्षेपों का समाधान कर

उसके परिष्कृत स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। आचार्य नरेन्द्रदेव के निकट सहयोगी प्रो० मुकुटबिहारीलाल की *'साम्ययोगमीमांसा'* नाम की द्वितीय पुस्तक में विविध आयामों से समाजवादी भारतीय संस्कृति की व्याख्या प्रस्तुत की गई है। उन्होंने पुस्तक की प्रस्तावना में लिखा है—''आचार्य नरेन्द्रदेव के शब्दों में हमें एक ऐसी संस्कृति का विकास करना है, जिसका मूल प्राचीन सभ्यता में हो, जिसका रूप-रंग देशी हो, जिससे पुरातन संस्कृति के उत्कृष्ट अंग सुरक्षित हों और साथ-साथ उसमें ऐसे नवीन अंशों का भी समावेश हो, जो आज जगत् में प्रगतिशील हैं और संसार के सामने नवीन आदर्श उपस्थित करते हैं। प्राचीन विद्वानों के द्वारा प्रतिपादित समत्व, कर्मयोग, विश्वभावना, निष्काम सेवा, शील और संयम तथा अर्वाचीन विद्वानों के द्वारा प्रतिपादित राष्ट्रीयता, अन्तर्राष्ट्रीयता, लोकतन्त्र, समाजवाद एवं इतिहास की वैज्ञानिक व्याख्या ही इस पुस्तक में प्रतिपादित विचारों के मूल आधार हैं। मानवता का समुचित आदर और उसका सर्वांगीण विकास ही पुस्तक का मूल मन्त्र है, मानवमात्र का अभ्युदय इसका लक्ष्य है''। वास्तव में प्रगतिशील शब्द का प्रयोग ऐसे ही महानुभावों के लिए होना चाहिए, जिनका आचरण इसके अनुकूल हो।

इन विचारों की आप आधुनिक प्रगतिशील बुद्धिजीवियों के द्वारा प्रतिपादित द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से तुलना कीजिए। सर्वत्र कलह के बीज बोने वाले साम्यवादी प्रगतिशील और मानवमात्र की समृद्धि और सुख-शान्ति की खोज में निरन्तर सचेष्ट भारतीय विचारधारा इनके लिए प्रतिगामी है। इनको मुम्बई के बाल ठाकरे के रूप में हिन्दुवादी दृष्टि में तो दोष दिखाई पड़ता है, जो बड़बोला है; किन्तु पूरे देश में सेमेटिक धर्मों के अनुयायियों के द्वारा फैलाई जा रही है क्रूर हिंसा उन्हें नहीं दिखाई पड़ती। असम और उसके आसपास के क्षेत्रों में अनेक पीढ़ियों से रह रहे बिहार आदि राज्यों के गरीब कामगारों को तथा राजस्थान आदि से आये व्यापारियों को, सामूहिक हत्या, उत्पीड़न आदि के माध्यम से निकाल बाहर करने की कुचेष्टा उनको दिखाई नहीं पड़ती। कश्मीरी पंडितों की बात तो अब पुरानी पड़ चुकी है। प्रत्येक भारतीय को भारत के किसी भी कोने में बसने का अधिकार क्या अब मुम्बई तक ही सीमित रह जायगा? यह आश्चर्य की ही बात है कि हिंसा में लिप्त मानवता को कलंकित करने वाले ये व्यक्ति अपने को धर्मनिरपेक्ष तो मानते ही हैं, अधिसंख्य भारतीय बुद्धिजीवियों की दृष्टि में भी ये प्रगतिशील हैं और वाक्शूर ठाकरे प्रतिगामी। यह शब्दों का उपहास ही तो हैं! साहस और दृढ़ संकल्प के अभाव में इस तरह की परिस्थितियों को पनपने से कैसे रोका जा सकता है? भारत में इन दोनों तरह की दृष्टियों का विरोध होना चाहिए।

यदि हमें दुनिया में अपना स्वतन्त्र अस्तित्व कायम रखते हुए दुनिया को कुछ अपना अवदान देना है, तो हमें भारतीय सनातन मूल्यों को पूरी दुनिया के सामने लाना

होगा। इन मूल्यों की विशद व्याख्या हमने एक हजार पृष्ठ के अपने ग्रन्थ ''तन्त्रागमीय धर्म-दर्शन'' में की है। हीनभावना से ग्रस्त भारतीय समाज क्या इस कार्य को आगे बढ़ा सकेगा? महात्मा गाँधी और समाजवादी आचार्य नरेन्द्रदेव के शब्दों में भारतीय सनातन धर्म ने सभी भारतीय धर्मों (बौद्धों और जैनों के साथ)की उत्कृष्ट मान्यताओं और संस्कारों के उदात्त तत्त्वों को सहर्ष स्वीकार कर लिया है। इसको आजकल के तथाकथित बुद्धिजीवियों के सस्ते और भ्रामक उपदेशों की जरूरत नहीं है। ऐसे लोगों को भारतीय सनातन दृष्टि का अनुसरण कर सेमेटिक धर्मों की रूढ़िवादिता और हठधर्मिता को हटाने में अपनी बुद्धि का सही उपयोग करना चाहिए। भारतीय दृष्टि संस्कृति-संगम में, विचारों के आदान-प्रदान में विश्वास रखती है। महात्मा गाँधी के बताये मार्ग से हम इस ओर आगे बढ़ सकते हैं। प्रगतिशील और प्रतिगामी जैसे शब्दों का प्रयोग करने मात्र से हमारा या समाज का कुछ भला होने वाला नहीं है। इसके विपरीत ये शब्द समाज में विग्रह फैलाने के ही कारण बन सकते हैं। इतना हमें अवश्य समझ लेना चाहिए कि सन्तधारा भारतीय उत्कृष्ट विचारों की चरम परिणति है, प्रथम नहीं। प्रथम स्थान तो हमें उपनिषदों को ही देना होगा।

हमारा दृढ़ विश्वास है कि प्रबल झंझावातों के थपेड़े खाता हुआ भी यह भारत और यहाँ की भारती प्रजा अपनी संस्कृति की समन्वयात्मकता और सहिष्णुता के आधार पर एक दिन पूरे विश्व को *''यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्''* इस उपदेश को हृदयंगम कराने में समर्थ होगी। आर्य-द्रविड़, बौद्ध-जैन जैसे शब्दों के माध्यम से भारती प्रजा में अवसाद के बीज बोने वाले तथाकथित प्रगतिशीलों का षड्यन्त्र एक दिन बेनकाब होकर रहेगा। प्रतिगामी जैसे शब्दों को सुनकर हमें हताश होने की आवश्यकता नहीं है। शर्त यह है कि भारतीय सहिष्णुता का बिना वजह का गुणगान कहीं हमें भ्रम में न डाल दे, यह हमें कायरता के किनारे ले जाकर न छोड़ दे। इसके लिए यह आवश्यक है कि भारतीय मुसलमानों में सहिष्णुता का संचार हो, इसके लिए हम आवश्यक साहस जुटा सकें।

●

भारतीय मुसलमान किधर?

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के बंगलोर अधिवेशन में एक प्रस्ताव पास हुआ— ''मुसलमानों को यह समझना चाहिए कि अल्पसंख्यकों की वास्तविक सुरक्षा बहुसंख्यकों की सद्भावना में निहित है''। इस प्रस्ताव को रचनात्मक रूप में भी ग्रहण किया जा सकता था, लेकिन *''सीख न दीजे बानरा घर भी बया का जाय''* वाली कहावत यहाँ चरितार्थ हो उठी और देश में एक राष्ट्र, एक भाषा और एक संस्कृति की स्थापना में रोड़े अटकाने वालों को यह रास नहीं आया। आज पूरा राष्ट्र देशतोड़क और देशजोड़क

नाम के दो वर्गों में बँट गया है। देशतोड़क वर्ग गोधरा काण्ड की और संसद में दिये गये देशविभाजन की धमकी की पूरी तरह से उपेक्षा करना चाहता है। गोधरा काण्ड की साजिश रचने वालों को यह कल्पना ही नहीं थी कि गुजरात में इसकी इतनी गहरी प्रतिक्रिया होगी। देशी आतंकवादियों के द्वारा कहीं अन्यत्र इसी प्रकार के पैशाचिक कृत्य की पुनरावृत्ति किये जाने पर पुन: गुजरात काण्ड की आवृत्ति को रोकने के अभी से प्रयत्न किये जा रहे हैं और पूरा देशतोड़क खेमा इसमें अपनी-अपनी कुटिल भूमिका निभाने में लगा हुआ है। अंग्रेजी पत्रकारिता भी प्राय: राष्ट्रतोड़कों का ही साथ दे रही है।

इस्लाम शान्ति का नहीं, स्वाभाविक रूप से आतंकवाद का पोषक धर्म है। भारतीय मनीषा के सम्पर्क में आने पर अनलहक का संदेश देने वाले सूफी सन्तों का प्रभाव पाकिस्तान बनने के बाद पूरी तरह से सिमट गया है। यही कारण है कि अब इसमें आतंकवाद के बीज गहरे पनपने लगे हैं। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद घूम-फिर कर अन्तत: आतंकवाद की ही शरण में जाता है। आश्चर्य इसमें होता है कि एक हजार वर्ष तक बुद्ध के उपदेशों से सिंचित चीन की भूमि पर भी अब इसके प्रभाव में आकर विश्वासघात और हिंसा के बीज बोये जा रहे हैं और उसकी भारत के कुछ भागों पर वक्रदृष्टि पड़ चुकी है। मिशनरी स्पिरिट भी शान्ति का छलावा मात्र है। इनका कहना है कि आर्य भी बाहर से आये और इस्लाम और ख्रीष्ट धर्म भी बाहर से आये। पहले आये आर्यों को इस देश पर अधिकार जमाने का कोई हक नहीं है। इसी तर्क-पद्धति पर चलते हुए ये सब चाहते हैं कि इस्लाम के आक्रमण से पहले की भारत की सारी उपलब्धियों को पूरा विश्व भूल जाय। वोट-बैंक की राजनीति यह सब करवा रही है, यह सोच भी छलावा मात्र है। सामान्यत: आज का भारतीय मुसलमान राष्ट्रतोड़कों के साथ मिल गया है। इसको उलट कर भी कह सकते हैं कि आज के इस्लामिक नेतृत्व ने इन सबको अपने प्रभामण्डल में समेट लिया है। इन सबका अब एकसूत्री कार्यक्रम यह बन गया है कि प्राचीन भारतीय संस्कारों को मटियामेट कर दिया जाय। इसके लिए भगवाकरण जैसे शब्दों के बाण छोड़े जा रहे हैं। भारतीय संस्कृति के समग्र स्वरूप से सही तरीके से परिचित न हो पाने के कारण मानवाधिकार आयोग, अल्पसंख्यक आयोग जैसी भारतीय संस्थाएँ भी प्राय: भ्रम की स्थिति पाल रही हैं। बौद्ध दार्शनिकों ने भ्रम के बारह प्रकार गिनाये हैं।

छुरेबाजी में अल्पसंख्यक वर्ग का व्यक्ति ही आगे रहता है। गुजरात में इतने दिन बीत जाने पर भी प्रतिदिन छुरेबाजी की घटनाएँ हो रही हैं। काशी के अलईपुर स्टेशन से दो घंटों की जद्दोजहद के बाद अकेला अदना मुसलमान अपने बकरे को सवारियों से भरे डिब्बे में ले जा सकता है और दूसरी तरफ अभिनेता आमिर खाँ अपनी फिल्म

लगान को आस्कर पुरस्कार दिलाने के लिए पूरी दुनियाँ को सिर पर उठाये हुए है। इन दोनों उदाहरणों की पृष्ठभूमि में आप देखिए कि यह वर्ग गुजरात में अपने को तमाशबीन क्यों बनाए हुए है? इस तमाशे को देखकर हमारे प्रधानमंत्री कहते हैं कि क्या मुँह लेकर मैं बाहर जाऊँगा। हल्लाबोल आन्दोलन के प्रवर्तक का कहना है कि आप देश में ही कहाँ मुँह दिखाने लायक रह गये हैं? हमारा आपसे निवेदन है कि यह यात्रा आप राष्ट्र की उन्नति के लिए करने जा रहे हैं या केवल अपनी वाहवाही लूटने के लिए। पं० नेहरू के दृष्टान्त से समझ लीजिए कि इस पूरी दुनियाँ में भारत को फूटी आँखों से भी देखने वाला कोई देश नहीं है।

आज कवीन्द्र रवीन्द्र के *"एकला चलो रे"* सुभाषित का अनुसरण कर राष्ट्र की और भारतीय संस्कृति की भलाई के लिए गजगति से बढ़ते रहना आवश्यक है। जिस विश्वास के साथ पं० नेहरू कश्मीर के प्रश्न को संयुक्त राष्ट्रसंघ में ले गये थे, अमेरिका और ब्रिटेन जैसी विश्वशक्तियों ने उनके साथ धोखा ही किया है। पाकिस्तानी आतंकवाद को प्रश्रय देकर अमेरिका फिर अपनी गलती को दुहरा रहा है। चीन से बादुंग सम्मेलन में जाते समय संयोगवश यदि जहाज बदला न गया होता, तो पं० नेहरू वहाँ तक पहुँच ही नहीं पाते। एक भद्र राष्ट्रपुरुष दूसरे राष्ट्र के लिए जो कुछ कर सकता है, पं० नेहरू ने वह सब चीन के लिए किया। पं० नेहरू को चीन से इसका क्या प्रत्युत्तर मिला? अहिंसा के पुजारी बुद्ध के उपदेशों को यह देश इतनी जल्दी कैसे भूल गया, इसकी परीक्षा अपेक्षित है।

हमें अभी यह निश्चित करना है कि पूरी दुनिया के लिए भारत सामूहिक रूप से अपनी कोई निश्चित दृष्टि बना सकेगा या नहीं? अतिमहत्त्व के प्रश्नों पर भी हम दलबन्दी से ऊपर उठ सकेंगे या नहीं? विभिन्न राजनीतिक दलों की मानसिकता भारतीय आध्यात्मिकता से रंचमात्र भी अनुप्राणित है या नहीं? इन सबका उत्तर नहीं में होगा। इसके लिए तो भारत को अमेरिका के आत्मविश्वास को आत्मसात् करना होगा। भारत के प्रति ब्रिटेन और अमेरिका की मानसिकता पाकिस्तान की मानसिकता से भिन्न नहीं है। अमेरिका पर हुए आतंकवादी आक्रमण के बाद इनकी यह दोहरी मानसिकता पुनः स्पष्ट हो गई है।

इस्लाम का छिपा आतंकी स्वरूप अमेरिका पर ११ सितम्बर को हुए आक्रमण से प्रकट हो गया है। इस्लाम के समर्थक इस घटना की भी उसी तरह की व्याख्या करने में लग गये हैं, जैसी कुछ इतिहासज्ञों ने आधुनिक पाठ्यपुस्तकों में इस्लामिक आक्रान्ताओं के विषय में की है। इससे आतंकवाद को बढ़ावा ही मिलेगा। कम्युनिस्ट विचारधारा से अनुप्राणित बुद्धिजीवियों की इस मनोवृत्ति की तह में हमें पहुँचना पड़ेगा।

इस्लामिक पाकिस्तानी आतंकवाद से ध्यान बटाने के लिए उसको परिभाषित करने की भी मुहिम चलाई जाती है। बहुत संक्षेप में हम इसको इस प्रकार परिभाषित कर सकते हैं कि गलत बात को गलत तरीके से मान्यता दिलाने की कोशिश ही आतंकवाद है। आज इस मानसिकता का सर्वाधिक विस्तार इस्लाम धर्म में हुआ है। इसके उपचार के लिए यह आवश्यक है कि मध्यकालीन बर्बरता के पूरे विश्व में फैले चिह्नों को मिटा दिया जाय। यह भी आवश्यक है कि भारत यदि वास्तव में अपने को 'सेक्युलर स्टेट' मानता है, तो उसे हजयात्रा जैसे धार्मिक कृत्यों के लिए सभी प्रकार की राजकीय सहायता पर रोक लगा देनी चाहिए।

आतंकवाद विरोधी बिल (पोटो) का विरोध मुस्लिम समुदाय और उनका समर्थन करने वाले दल जिस तरह से कर रहे हैं, वह *"चोर की दाढ़ी में तिनका"* वाली कहावत को चरितार्थ कर रहा है। क्या यह उचित है? इस मुस्लिम मानसिकता में बदलाव आज की प्रमुख आवश्यकता है। इसके लिए राष्ट्रभक्त मुसलमानों को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। इस शुभ कार्य में पाकिस्तान को छोड़कर अन्य शान्तिप्रिय मुस्लिम देश भी हमारी सहायता कर सकते हैं। इसके लिए जयचन्दी मनोवृत्ति से हमें बचना पड़ेगा। इस्लामिक समाज में प्रसिद्ध सूफी सन्तों के मकबरों को सद्भावना स्थल के रूप में मान्यता मिली हुई है। इसी तरह से अन्य सन्तों एवं भक्तों के स्मारकों को भी मान्यता मिलनी चाहिए। इसके लिए यह आवश्यक है कि देशभक्त मुसलमानों को कट्टरपंथी मुल्ला-मौलवियों से, देशतोड़क तथाकथित सेक्युलरों से और नेटकाई बाँधे अंग्रेजों के मानसपुत्रों से सुरक्षा प्राप्त कराई जाय। इनके द्वारा फैलाये जा रहे सुनियोजित एवं भयभीत कर देने वाले मिथ्याप्रसार से इनको ही नहीं, पूरी भारतीय प्रजा को भयमुक्त किया जाय। आगम-तन्त्रशास्त्र की पद्धति से पूरे भारत में फैली हुई सन्तों, गुरुओं एवं सूफियों की वाणियाँ भारत में केवल मुसलमानों के ही नहीं, आदिवासी जनों और जनजातियों के लिए भी एक समरस समाज की स्थापना में समर्थ हो सकती हैं।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के प्रस्ताव में अल्पसंख्यक शब्द को देखकर कुछ सिक्ख बन्धु नाराज हैं। श्री खुशवन्त सिंह जैसे व्यक्ति ने यह किया होता, तो हमारे लिए ज्यादा चिन्ता की बात नहीं थी, किन्तु यह नाराजगी प्रकट की है प्रसिद्ध खेल-समीक्षक श्री जसदेवसिंह ने। उन्हें हम याद दिलाना चाहते हैं कि उस प्रस्ताव में अल्पसंख्यक के रूप में केवल मुसलमानों को संबोधित किया गया है, समस्त अल्पसंख्यकों को नहीं। इस विषय में हम अन्यत्र बहुत-कुछ लिख चुके हैं।

महाराजा रणजीतसिंह के पुत्र दिलीपसिंह ने बचपन में अंग्रेजों के बहकावे में आकर ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया था, किन्तु गुरुओं के सच्चे उपदेश से जब उन्हें

परिचित कराया गया, तो वे पुनः सिक्ख धर्म में प्रविष्ट हो गये। अन्तिम उपाय के रूप में भद्र भारतीय मुसलमानों के सामने भी यह रास्ता खुला हुआ है।

विश्व संस्कृति के निर्माण के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं है। हमें चीन के साथ चल रहे अवांछनीय संबन्धों की भी दृढ़ इच्छाशक्ति और साहस के साथ समीक्षा करनी होगी। तिब्बत की पूर्ण स्वतन्त्रता इसकी पहली कसौटी होगी।

●

भारत और चीन

भारत और चीन दोनों प्राचीन सभ्यता-संस्कृति वाले देश हैं। इनका सांस्कृतिक एवं व्यापारिक संबन्ध बहुत पुराना है। विश्व के प्राचीन इतिहास के अध्येताओं का मानना है कि इन दोनों देशों में सांस्कृतिक आदान-प्रदान ईसा-पूर्व शताब्दियों में भी उत्साही एवं दृढ़ संकल्प वाले यात्रियों के माध्यम से होता रहा है। वाल्मीकि, व्यास, कौटिल्य, चरक, कालिदास आदि महनीय भारतीय मनीषियों से चीन चिरपरिचित रहा है। इसी तरह इत्सिग, शुआन-चाङ्, फाहियान जैसे चीनी यात्रियों और काश्यपमातंग, कुमारजीव, परमार्थ जैसे बौद्ध दर्शन के प्राचीन भारतीय आचार्यों के परिश्रम से चीनी भाषा के अनुवाद के रूप में भारतीय धर्म, दर्शन, आयुर्वेद आदि के ग्रन्थों का महान् संग्रह उपलब्ध है। अनेक ग्रन्थ तो वहाँ मूल रूप से आज भी मिल जाते हैं। विक्रम की पूरी पहली सहस्राब्दी में यह सांस्कृतिक आदान-प्रदान अबाध रूप से निरन्तर चलता रहा है।

इस्लाम के आक्रमण से त्रस्त बौद्ध भिक्षुगण अपने धर्म और साहित्य की रक्षा के लिए भारत से बाहर नेपाल, तिब्बत, चीन आदि देशों में चले गये। ये अपने साथ सैकड़ों ग्रन्थों को इन आक्रमणकारियों से बचा कर ले गये। ये ग्रन्थ मूल रूप में अथवा उन-उन देशों की भाषाओं में अनूदित होकर तिब्बती कंग्युर-तंग्युर जैसे संग्रहों में आज भी सुरक्षित हैं। इस सुरक्षित महत्त्वपूर्ण निधि को आज पुनः भारत में ले आने की आवश्यकता है, जिससे प्राचीन भारतीय साहित्य और संस्कृति का सर्वांगपूर्ण अध्ययन एवं अनुसन्धान संभव हो सके। इन्हींके आधार पर हम इन देशों के साथ अपने भूले-बिसरे रिश्तों को नया रूप दे सकते हैं। पुराने मैत्री-सम्बन्धों को पुनः जिलाने की आज आवश्यकता है। भारत के प्रथम प्रधानमंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू ने इसके लिए पर्याप्त प्रयत्न किये थे। सांस्कृतिक प्रतिनिधिमंडलों के आदान-प्रदान की भी व्यवस्था की गई थी। चीन गये भारतीय प्रतिनिधि मंडल में आचार्य नरेन्द्रदेव, डॉ० अमरनाथ झा, डॉ० प्रबोधचन्द्र बागची जैसे मनीषियों के नाम थे। दुर्भाग्य से यह प्रयत्न बहुत कारगर न हो सका। अन्ततः तिब्बत की राजधानी ल्हासा से, चीन से सद्भाव संबन्ध बनाये रखने के नाम पर, सरदार वल्लभभाई पटेल की नाराजगी के बावजूद, सेना के हटा लेने पर भी

महामहिम दलाई लामा को अपने अनुयायियों के साथ भारत में शरण लेनी पड़ी। इस स्थिति में आज भी कोई उल्लेखनीय सुधार नहीं हुआ है। वह भारत के विशाल भूमिखण्ड को दबाये हुए है।

आचार्य नरेन्द्रदेव के नेतृत्व में जो प्रतिनिधिमंडल चीन गया था, उसने अपनी संस्तुतियाँ शासन के सामने अवश्य प्रस्तुत की होंगी। आचार्य जी की बातों से पता चलता था कि इस यात्रा से वे बहुत सन्तुष्ट या आश्वस्त नहीं थे, तो भी चीन के द्वारा एकतरफा बिगाड़े गये संबन्धों में सुधार की गुंजाइश दिखायी पड़ती हो, तो इसके लिए भारत को एकतरफा प्रयत्नशील होना चाहिए, धर्म के आधार पर नहीं, समग्र भारतीय संस्कृति के आधार पर। यह कार्य महापंडित राहुल सांकृत्यायन, डॉ० रघुवीर जैसे विद्वानों के द्वारा की गई पद्धति से आगे बढ़ाया जा सकता है। इसके लिए यह आवश्यक है कि प्रतिभाशाली छात्रों को ही नहीं, साहसी विद्वानों को भी इन देशों में भेजकर वहाँ की भाषा, साहित्य और संस्कृति के संवर्धन में हम पूर्ववत् दत्तचित्त हों। ऐसा होने पर ही हम चीन, मंगोलिया, कोरिया, जापान आदि देशों में सुरक्षित साहित्य का पुनः उद्धार कर सकेंगे और इन देशों की वर्तमान मानसिकता को समझकर अपने पुराने संबन्धों को भी प्रगाढ़ कर सकेंगे, नया रूप दे सकेंगे। दक्षिण-पूर्व एशिया के सभी देशों से हमारे धार्मिक एवं सांस्कृतिक संबन्ध बहुत घने रहे हैं। इनको पुनः जगाने और सुदृढ़ करने की आवश्यकता है। एक विश्व और एक संस्कृति की स्थापना में इसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका होगी। उसी स्थिति में हम धार्मिक दुराग्रहों एवं राजनीतिक हठवादों को भी दूर कर सकने में समर्थ हो सकेंगे।

●

दुराग्रह (असहिष्णुता) से मुक्ति

तन्त्रालोक (१५.५९५-५९६) में कुलगुह्वर[१०] और निशिसंचारशास्त्र के प्रमाण से जाति, विद्या, कुल, आचार, देह, देश, गुण और अर्थ से पैदा होने वाले आठ प्रकार के आग्रहों (दुराग्रहों) की चर्चा कर बताया गया है कि इनके कारण व्यक्ति अपने वास्तविक स्वरूप को पहिचान नहीं पाता, अतः ये सर्वथा त्याज्य हैं। कुलार्णवतन्त्र (१३.९०) में घृणा, शंका, भय, लज्जा, जुगुप्सा, कुल, जाति और शील नामक आठ पाश वर्णित हैं। इनमें से जातिग्रह का शैवशास्त्रों में विशेष रूप से वर्णन मिलता है।

तन्त्रालोक (१५.५९७-६०४) में ही निशिसंचार, कुलगुह्वर, स्वच्छन्दतन्त्र, आनन्दशासन और नकुलेश (लकुलीश) के प्रमाण से जातिग्रह की हेयता को दिखाया

---

१०. आबू के पास गुजरात में तीर्थस्थल अंबाजी मन्दिर के सामने की पहाड़ियों पर गब्बर माता का मन्दिर है। गुह्वर शब्द का ऐसे स्थानों से कोई संबन्ध है या नहीं? परीक्षा अपेक्षित है।

गया है। परात्रीशिका की व्याख्या (पृ० २३७) में अभिनवगुप्त का कहना है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि जातियाँ कल्पित हैं, इनकी कोई वास्तविक सत्ता नहीं है। अपनी इस उक्ति के समर्थन में उन्होंने मुकुटसंहिता को उद्धृत किया है। तन्त्रालोक (१५.५१३-५१७) में भी मोक्षधर्म (महाभारत शान्तिपर्व) और मुकुटसंहिता को उद्धृत कर यही बात कही गई है। तन्त्रालोक के टीकाकार जयरथ ने उन वचनों का संग्रह किया है। उनका सार यह है—"शीलसम्पन्न शूद्र गुणवान् ब्राह्मण बन जाता है। अन्त्यज हो या विकलांग, सभी मोक्ष के अधिकारी हैं। शील आदि गुणों से रहित ब्राह्मण को मोक्ष की प्राप्ति नहीं होगी। मायावी ब्राह्मण त्याज्य और निष्कपट म्लेच्छ संग्राह्य है। यह म्लेच्छ भगवान् शिव को प्रिय है, चारों वेदों का ज्ञाता दंभी ब्राह्मण नहीं। ब्राह्मण पाप में लिप्त है और शूद्र सुकृत करता है। इस तरह से धर्म और अधर्म में जाति की कोई भूमिका नहीं हो सकती।"

स्वच्छन्दतन्त्र (४.५४०-५४६) के अनुसार भी शैव धर्म में जाति की भूमिका को नकार दिया गया है। महेश्वरानन्द ने महार्थमंजरीपरिमल (पृ० १४५) में ब्राह्मण, चाण्डाल आदि की व्यवस्था को त्याज्य माना है। कालपादा(कालोत्तर)संहिता(आगम) शिवदृष्टि में स्मृत है। क्षेमराज ने नेत्रतन्त्रोद्योत (१०.१०) में इसका एक वचन उद्धृत किया है, जिसके अनुसार श्वपचों (चाण्डालों) को भी दीक्षा का अधिकारी माना गया है। इन सब प्रमाणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस शास्त्र में जाति के अभिमान को दुराग्रह मानकर इसको हेय माना है। भारत हो या अन्य देश, आज जाति का यह दुराग्रह सर्वत्र विकट समस्या बनकर उपस्थित है। इसका निराकरण हम इस आगमीय दृष्टि के आधार पर कर सकते हैं। भगवद्गीता (४.१३) में जन्म की जाति की अपेक्षा गुण और कर्म को वरीयता दी गई है। बौद्ध धर्म में तो जाति को प्रारंभ से ही अधिक महत्त्व नहीं दिया गया। भगवान् बुद्ध का नापित जाति का सेवक विनयधर उपालि उनके निर्वाण के बाद बुद्धवचनों का संग्रह करने में प्रमुख भाग लेता है। जातिग्रह के समान ही आज का भारतीय समाज पेयापेय, भक्ष्याभक्ष्य, विधिनिषेध, शुद्धि-अशुद्धि आदि के द्वन्द्वों में फँसा हुआ है। आगम-तन्त्रशास्त्र में इनसे छुटकारा पाने के उपाय बताए गए हैं। उदाहरण के लिए हम विधि-निषेध की व्यवस्था को देखते हैं।

महेश्वरानन्द ने उक्त ग्रन्थ (पृ० २१-२२) में विधि और निषेध की तन्त्रशास्त्र-सम्मत व्याख्या संवित्प्रकाश और संविदुल्लास को उद्धृत करते हुए दी है। यहाँ बताया गया है कि जिस वस्तु को हम छोड़ सकते हैं, वही हमारे लिए हेय और जिसको नहीं छोड़ सकते, वह उपादेय है। यहाँ शैवागमों को ही परम प्रमाण माना गया है और कहा गया है कि वह प्रभु निषेध में भी विधि और विधि में भी निषेध की भावना को भरने में समर्थ है। विधि-निषेध की यह व्याख्या तन्त्रालोक (४.२५६-२७४, १२. १४-

३०) में भी देखी जा सकती है। मालिनीविजयतन्त्र (१८.७४-८१) में बताया गया है कि शुद्धि और अशुद्धि का विधान, भक्ष्य और अभक्ष्य का निरूपण, द्वैत या अद्वैत का उपदेश, लिंगपूजा आदि का विधान या निषेध, निष्परिग्रह रहने या सपरिग्रह बनने का आदेश, जटा-भस्म आदि का स्वीकार या परित्याग, व्रत आदि का आचरण करना या न करना, तिलक आदि चिह्न, नाम-गोत्र आदि को रखना या न रखना जैसी बातों के बारे में पक्ष या विपक्ष में यहाँ कुछ भी नहीं कहा जाता। ये सभी वस्तुएँ विहित भी मानी जा सकती हैं और निषिद्ध भी। इसमें साधक की इच्छा ही प्रमाण है कि वह इनका आचरण करे या न करे। वस्तुत: तत्त्वज्ञान में इनकी कोई उपयोगिता नहीं है। नियम के नाम पर शास्त्र में केवल इतना ही विधान है कि योगी को प्रयत्नपूर्वक परम तत्त्व में अपने चित्त को स्थिर करना चाहिए। चित्त की यह स्थिरता जैसे भी हो, योगी को तदनुसार अपनी चर्या बना लेनी चाहिए। चित्त की यह स्थिरता ही चित्त-प्रभास्वरता के रूप में बौद्ध शास्त्रों में वर्णित है।

महाभारत के कुछ उपाख्यानों से भी हम इस विषय को पुष्ट कर सकते हैं। शान्तिपर्व में तुलाधार और जाजलि की कथा वर्णित है। जाजलि ब्राह्मण ऋषि हैं और तुलाधार किराना माल को बेचने वाल वैश्य। यह कथा वहाँ (गीता प्रेस संस्करण) २६१-२६४ अध्यायों में दी गई है। जाजलि ने घोर तपस्या की थी। तपस्या करते समय इनकी जटा में गौरैया ने घोसला बना लिया था। इस तपस्या के प्रभाव से इनको जल और आकाश में भी अबाधगमन की सिद्धि प्राप्त हुई थी। इससे इनका अहंभाव जाग उठा। इनकी गर्वोक्ति को सुनकर अपरिज्ञात राक्षसों और पिशाचों ने उनसे कहा कि ऐसी गर्वोक्ति तो वाराणसी का धार्मिक तुलाधार भी नहीं कर सकता। थोड़ी देर बाद इसी सूचना को आकाशवाणी ने भी दुहराया। इससे कुढ़ कर यह ऋषि तुलाधार से मिलने वाराणसी की ओर चल पड़े। वार्तालाप के प्रसंग में तुलाधार ने जाजलि से कहा कि धन कमाने के लोभी नास्तिक पुरुषों ने वैदिक वचनों का तात्पर्य न समझ कर सत्य-सरीखे प्रतीत होने वाले मिथ्या यज्ञों का प्रचार किया है। वस्तुत: मनुष्य को आत्मयज्ञ का अनुष्ठान करना चाहिए। २६४वें अध्याय में उसी ऋषि की जटा में पले हुए पक्षी भी जाजलि को श्रद्धा का महत्त्व समझाते हैं।

इस कथा में अहंकारी ब्राह्मण से विनयशील वैश्य की श्रेष्ठता बताई गई है। महाभारत के वनपर्व में इसी प्रकार के अहंकारी ब्राह्मण से स्त्री और शूद्र की भी श्रेष्ठता प्रदर्शित है। यह उपाख्यान वहाँ २०६-२१६ अध्यायों में देखा जा सकता है। इसमें बताया गया है कि एक वेदाध्यायी कौशिक नाम का ब्राह्मण वृक्ष की छाया में बैठ कर वेदपाठ कर रहा था। पेड़ पर बैठी बलाका ने उस पर वीट कर दी और कुपित ब्राह्मण के देखने मात्र से वह भस्म हो गई। वह ब्राह्मण भिक्षा के लिए एक गृहस्थ के यहाँ

पहुँचा। वहाँ उसने भिक्षा के लिए आवाज लगाई और उसको गृहिणी का आश्वासन भी मिला, किन्तु इसी बीच गृहिणी बाहर से घर आये अपने पति की सेवा-सुश्रूषा में लग गई और याद आने पर फिर ब्राह्मण को भिक्षा देने पहुँची। इस विलम्ब से ब्राह्मण कुपित हो गया और कहने लगा कि ब्राह्मणों से इन्द्र भी डरता है, ये कुपित होने पर सारी पृथ्वी को भस्म कर सकते हैं। इस पर गृहिणी ने कहा कि हे ब्राह्मण देवता! मैं बलाका नहीं हूँ कि आपकी क्रोधभरी दृष्टि से भस्म हो जाऊँगी। वह कहती है कि देवता उसी को ब्राह्मण मानते हैं, जिसने क्रोध और मोह को जीत लिया है। स्त्री की बातों से लज्जित हो वह ब्राह्मण उस स्त्री के कहने पर मिथिला के धर्मव्याध से धर्म का रहस्य जानने के लिए निकल पड़ता है।

वह लोगों से पूछ कर धर्मव्याध के कसाईखाने तक पहुँच जाता है और उसके इस घोर कर्म की निन्दा करने से नहीं चूकता। धर्मव्याध उसको बताता है कि मैं अपनी कुलक्रम से चली आ रही वृत्ति से अपनी गृहस्थी चलाता हूँ और अपने वृद्ध माता-पिता की सेवा करता हूँ। यहाँ अनेक अध्यायों में धर्मव्याध धर्म की सूक्ष्मता का वर्णन करता है। अन्तिम तीन अध्यायों में वह माता-पिता की सेवा का महत्त्व समझाता है और उस ब्राह्मण को भी ऐसा ही करने के लिए कहता है। धर्मव्याध के उपदेश से प्रभावित हो वह वेदपाठी ब्राह्मण ऐसा ही करने का निश्चय करता है और उस उपदेष्टा धर्मव्याध (कसाई) की तीन बार परिक्रमा कर अपने घर के लिए प्रस्थान करता है। भगवद्गीता (९.३२) में स्त्रियों, वैश्यों और शूद्रों को भी मोक्ष का अधिकारी माना गया है। यहाँ कर्मकाण्डी ब्राह्मण की अपेक्षा इनको वरीयता दी गई है। ब्राह्मणवाद, मनुवाद का नारा लगाने वाले राजनेताओं को इससे कुछ शिक्षा लेनी चाहिए। ध्यान देने की बात यह है कि यहाँ ब्राह्मण उपदेष्टा धर्मव्याध (कसाई)की परिक्रमा करता है। इतना ही नहीं, महाभारत में एक अन्य कथा के माध्यम से यज्ञीय कर्मकाण्ड की अपेक्षा अतिथि-सत्कार को वरीयता दी गई है।

महाभारत के ही आश्वमेधिकपर्व के ९०वें अध्याय में एक नेवला उञ्छ वृत्ति के ब्राह्मण परिवार द्वारा दिये गये सेर भर सत्तू के दान की महिमा को युधिष्ठिर के अश्वमेध यज्ञ से बढ़कर बताता है। युधिष्ठिर के अश्वमेध यज्ञ के पूरा होने पर वहाँ एक नेवला आता है, जिसके शरीर का एक तरफ का भाग सोने का-सा चमकता था। ब्राह्मणों के पूछने पर उसने कुरुक्षेत्र में रहने वाले ब्राह्मण परिवार के द्वारा दिये गये सेर भर सत्तू के दान की महिमा बताई। अनेक दिनों के भूखे परिवार को एक दिन सेर भर जौ का सत्तू मिला। उसको बराबर बाँट कर जब वह खाने बैठा, तो उसी समय कोई अतिथि आ गया। उस अतिथि को पहले ब्राह्मण ने अपना हिस्सा दिया, तब ब्राह्मणी ने। उसके बाद पुत्रवधू और पुत्र ने भी अपना हिस्सा उस अतिथि को दे दिया। इस

कथा को सुनाकर नेवला लोगों से कहता है कि थोड़ी देर बाद मैं अपने स्थान से निकला और वहाँ बिखरे हुए सत्तू को खाने लगा। इससे मेरा मुँह और आधा शरीर, जिससे सत्तू का स्पर्श हुआ, सुवर्ण के वर्ण का हो गया। अब मुझे चिन्ता लगी कि अपने बचे आधे शरीर को कैसे सुवर्णमय बनाऊँ। युधिष्ठिर के यज्ञ की चर्चा सुनकर बड़ी आशा से मैं यहाँ आया था, किन्तु आप लोग देख रहे हैं कि इस पवित्र यज्ञस्थली में भी मेरा आधा शरीर सुवर्णमय नहीं हो रहा है। इसलिए मैं कहता हूँ कि युधिष्ठिर का यह महान् यज्ञ गरीब ब्राह्मण परिवार के सेर भर सत्तू के दान के सामने कुछ भी नहीं है।

ये सब कथाएँ किसी बौद्ध या जैन ग्रन्थ की नहीं हैं, प्रत्युत वेदव्यास-रचित महाभारत में मिलती हैं।

हमें तान्त्रिक रहस्यवाद की मृगतृष्णा में न भटक कर आगम-तन्त्रशास्त्र के इस सामाजिक परिवेश, परहितकातरता और विश्वजनीन दृष्टिकोण को अपनाना चाहिए, जिसका अनुसरण इतिहास-पुराण के ग्रन्थों में भी हुआ है। तान्त्रिक रहस्यवाद ने भारत को बहुत भरमाया है। अपने को ऊँचा मानने वाले तबके को नीचे गिराने का काम इसी ने किया है और उन्हीं की करतूतों से इन शास्त्रों का उज्वल पक्ष तिरोहित हो गया है। सभी धर्मों को एक ही छतरी के नीचे इकट्ठा करने का रास्ता मात्र तन्त्रागमशास्त्र ही दिखा सकता है। दुनिया को आज जिस एकता की आवश्यकता है, इस शास्त्र ने उस पथ को एक हजार वर्ष पहले ही प्रशस्त कर दिया था। आवाप और उद्वाप, ग्रहण करना और छोड़ना, भारतीय संस्कृति की अपनी विशेषता है। वह पुराने कालातीत विचारों को छोड़ती जाती है और नये उपादेय तत्त्वों को अपनाती रहती है, उनको अपने में समेटती चलती है। ऊपर के कथानकों में इन्हें आप स्पष्ट रूप से देख सकते हैं। आगम और तन्त्रशास्त्र ने इस कार्य को बड़ी तत्परता से पूरा किया है और आज भी हम उसका अनुसरण कर विश्व की पूरी मानवता को शान्ति का नया संदेश सुना सकते हैं। धर्माध्यक्षगण क्या इस कार्य को होने देंगे? नाना प्रकार के दुराग्रहों से ग्रस्त धर्माध्यक्षों की मनोवृत्ति का परिष्कार इसके लिए परम आवश्यक है। इसके लिए प्रत्येक धर्म के उदारचेता मनीषियों को वरीयता दी जाय, यह अपेक्षित होगा।

●

धर्माध्यक्षों की मनोवृत्ति

किसी न किसी धार्मिक विवाद को लेकर प्रायः हिन्दू-मुसलमानों में साम्प्रदायिक दंगा होता रहता है। शुरुआत प्रायः मुसलमानों की तरफ से होती है। कभी-कभी धर्मान्तरण को लेकर भी इस तरह का कलह पैदा हो जाता है। इस समस्या के

समाधान के लिए महात्मा गाँधी के द्वारा प्रस्तुत सर्वधर्म-समभाव की अवधारणा और भारत के संविधान में समाविष्ट सेक्युलर स्टेट (लोकराज्य) के सिद्धान्त को मान्यता मिल जाने के बाद भी इस तरह के संघर्ष रुके नहीं हैं। अनेक विद्वान् *'सेक्युलर स्टेट'* के हिन्दी अनुवाद की विद्रूपता को देखते हुए कहते हैं कि इस शब्द का अभिप्राय वही है, जिसे महात्मा गाँधी ने सर्वधर्म-समभाव के रूप में प्रस्तुत किया था। सर्वधर्म-समभाव तो दूर आज सेमेटिक धर्मों से जुड़े धर्माध्यक्षगण भारत में प्रचलित सभी धर्मों के प्रति आदरभाव प्रदर्शित करने को भी तैयार नहीं है। प्रत्येक धर्माध्यक्ष अपने-अपने धर्म की श्रेष्ठता पर अड़ा हुआ है। उनका कहना है कि पूरी मानव जाति को मुक्ति उनके धर्म में आने के बाद ही मिल सकती है। धर्मान्तरण के पीछे उनकी यही प्रेरणा काम कर रही है।

क्या यह सिद्धान्त विश्वमानवता के विकास में सहायक हो सकता है? क्या इसके कारण यह पूरा देश विगत एक हजार वर्ष से कलह और अशान्ति से ग्रस्त नहीं हो गया है? जिस देश का मूल उद्देश्य *''वसुधैव कुटुम्बकम्''* के आदर्शवाक्य के आधार पर सहिष्णुता और समन्वय के सहारे सभी धर्मों के प्रति समादर भावना को दृढ़ करना रहा है, उस देश में आज ऐसा क्यों हो रहा है?

अभी बहुत समय नहीं बीता, ईसाई धर्म के महान् धर्माध्यक्ष पोप जान पाल द्वितीय भारत की यात्रा पर आये थे। उनका विश्वास था कि ईसा की तीसरी सहस्राब्दी में पूरी दुनिया उनके धर्म को स्वीकार कर लेगी। सेवाभाव के ब्याज से संसार भर में फैले उनके अनुयायियों को यह कार्य करना है। इसके विपरीत इस्लाम ने एक हाथ में कुरान और दूसरे हाथ में तलवार लेकर अपनी जो विश्वविजय यात्रा आरम्भ की थी, आधुनिक युग में उसे वह आतंकवाद के सहारे पूरा करना चाहता है। इस्लाम ने इस देश के तीन टुकड़े करा दिये। अब *''हँसकर लिया है पाकिस्तान, लड़कर लेंगे हिन्दुस्तान''* इस नारे को सामने रख कर वह कश्मीर सहित पूरे देश को टुकड़ों-टुकड़ों में बाँटकर अपनी मंशा पूरी करना चाहता है। नागालैण्ड, बोडोलैण्ड जैसे शब्दों के माध्यम से ईसाई धर्माध्यक्ष भी इस कार्य में पीछे रहना नहीं चाहते। इस षड्यन्त्र को भारतीय जनता स्पष्ट रूप से देखते हुए भी मूक दर्शन बनी हुई है। लगता है उसको या तो इसका आभास ही नहीं है, या भारत के विरुद्ध किये जा रहे मिथ्या प्रचार के आगे वह किंकर्तव्य विमूढ़ है।

अभी हुआ गोधरा काण्ड इस्लामिक आतंकवादी कार्यवाही का अंग था और अहमदाबाद, बड़ोदरा आदि में हुई उसकी प्रतिक्रिया इस देश की जिजीविषा की द्योतक थी। उस जिजीविषा को पूरी तरह से दफना देने के लिए इस देश के खिलाफ देशी और विदेशी प्रचार-माध्यम क्या खेल खेल रहे हैं? पूरी भारतीय प्रजा को पूरी

सावधानी से समय रहते इसे देखना है। इस शान्तिप्रिय देश को अपने लिए ही नहीं, पूरी दुनिया को सुख-शान्ति का संदेश देने के लिए भी जीना है। हीनभावना से ग्रस्त भारत यह काम नहीं कर सकता। आज स्थिति यह है कि हिन्दू शब्द के नाम से पुकारी जाने वाली अधिसंख्य प्रजा को सांप्रदायिक कहा जा रहा है, जो इस दुनिया की सर्वाधिक सहिष्णु और उदार मनोवृत्ति वाली है। इसके विपरीत पूरी दुनिया में आतंकवाद को फैला देने वाली मनोवृत्ति के लोग आजकल यहाँ 'सेक्युलर' कहलाते हैं। इस विरोधाभास को देखने-सुनने वाला यहाँ कोई नहीं है। उलटे बी०बी०सी० जैसे ब्रिटिश प्रचार-माध्यम हिन्दू आतंकवाद के नाम पर इस देश को बदनाम करने के लिए निरन्तर लगे रहते हैं। गुजरात की वर्तमान स्थिति को हम इसके उदाहरण के रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं। आज देश-विदेश के प्रचार माध्यम बी०बी०सी० के भोंपू क्यों बने हुए हैं? उनको मलाल इस बात का है कि हिन्दू संगठनों के नेताओं को, जिनको ये आतंकवादी मानते हैं, क्यों गिरफ्तार नहीं किया जा रहा है? जैसा विदेशी शासन और कांग्रेसी शासन के समय किया जाता था।

इस अवसर पर हम समस्त प्रबुद्ध भारतीय प्रजा को यह बता देना चाहते हैं कि कुछ हिन्दू संगठनों में इस तरह की मनोवृत्ति इस्लामिक आतंकवाद के संपर्क के कारण पैदा हुई है। यह उसका आगन्तुक दोष है, स्वाभाविक नहीं। खेत की रक्षा के लिए काँटे की बाड़ लगाई जाती है। हिन्दू जाति ने भी अपनी हो रही दुर्दशा को देखकर सुरक्षा की दृष्टि से ऐसे संगठन बनाये हैं। बाह्य आतंकवाद और भारत के विरुद्ध किये जा रहे दुष्प्रचार के समाप्त होने के साथ ही इन संगठनों की भी कोई उपयोगिता नहीं रह जायगी। इस तथ्य को देशी-विदेशी प्रचार माध्यम, देश के वरिष्ठ चिन्तक तथा राजनेतागण जितनी जल्दी समझ सकें, अच्छा होगा। अन्यथा एक दिन यह प्राचीनतम भद्र देश आतंकियों और धर्मान्तरणकारियों के पंजों में बुरी तरह फँस जायगा, जहाँ से उसे छुड़ा पाना बहुत ही मुश्किल हो उठेगा।

धर्माध्यक्षों के मायाजाल से मुक्त भारतीय प्रशासन एक समग्र भारतीय संस्कृति के माध्यम से इस कार्य को पूरा कर सकता है, जिससे भारत में बसने वाले सभी धर्मों के अनुयायी परस्पर अविरोधी अपने-अपने धार्मिक कार्यकलापों को चलाते हुए भी सभी धर्मों के प्रति समादर की भावना को जगा सकें।

इस कार्य को अपने को राष्ट्र का चतुर्थ स्तंभ मानने वाले भारतीय पत्रकार नहीं कर सकते, क्योंकि एक तो वे हीनग्रन्थि से ग्रस्त हैं, वे भारतीय संस्कृति के समग्र स्वरूप से भी अपरिचित हैं। इतना ही नहीं, पूरी भारतीय पत्रकारिता भी राजनीतिज्ञों की बुराइयों से ग्रस्त है, किसी न किसी वाद से वह संबद्ध है। निष्पक्षपात विचारों की अभिव्यक्ति करने में समर्थ इनमें विरले ही मिलेंगे।

संकीर्ण दृष्टि वाले धर्मप्रचारक धर्माध्यक्षों और धर्म को अफीम मानने वाले कम्युनिस्टों की पकड़ से इस देश के समस्त नागरिकों को छुड़ाना, इस देश की प्रथम आवश्यकता है। तभी यहाँ सहिष्णुता के आधार पर सर्वत्र समंजस दृष्टि को उजागर किया जा सकता है। इस दुनिया की प्राचीनतम संस्कृति की उर्वरा भूमि यह भारत आज दुनिया के सभी प्रमुख धर्मों की प्रजा की निवासस्थली बन गया है। यहाँ की सभी धर्मों का अनुपालन करने वाली यह *'भारती प्रजा'* यदि आपस में सुख-शान्ति से रहना सीख जाय, तो अनायास इस अशान्त विश्व को शान्ति का संदेश दिया जा सकता है। ऊपर के दोषों से मुक्त भारतीय धर्माध्यक्ष इस कार्य को कर सकें, तो अच्छा हो।

इस संबन्ध में हम अपने कुछ विचार प्रकट करना चाहते हैं। वह यह कि भारतीय संस्कृति में उदारवादी दृष्टिकोण के अधिकाधिक प्रवेश के लिए *श्रमण-ब्राह्मणम्* जैसे शब्दों के द्वारा प्रकट हुई परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों को भुला देने के लिए हम इनके स्थान पर ऋषि और मुनि शब्दों का प्रयोग करें। इनमें प्रथम ऋषि शब्द नैगमिक और दूसरा मुनि शब्द आगमिक दृष्टि का परिचायक माना जा सकता है। ऋषि सपत्नीक आश्रम में रहता था। सामाजिक शिक्षा के साथ राजनीति को अनुशासित रखना भी उसका कार्य था। मुनि वैराग्य-प्रधान जीवन जीता था। वह सदा दार्शनिक चिन्तन में लगा रहता था। ऋषि की ऐहलौकिक दृष्टि प्रधान थी, जबकि मुनि प्रधान रूप से पारलौकिक जीवन जीता था। ऋषि-संस्था वर्णाश्रम-प्रवण थी, जबकि मुनि-संस्था इस तरह के बन्धनों से मुक्त। महावीर और बुद्ध के पूर्वकालीन साहित्य में उपलब्ध इनकी गतिविधियों का सूक्ष्म पर्यवेक्षण अपेक्षित है और इस कार्य में उत्तर काल में विकसित जैन और बौद्ध साहित्य भी हमारी सहायता कर सकता है। यहाँ आते-आते इन दोनों दृष्टियों में स्पष्ट अन्तर देखने को मिलता है। इनको हम ब्राह्मण और श्रमण शब्दों से अवश्य संबोधित कर सकते हैं।

ऋषि-संस्था प्रवृत्ति-प्रधान और मुनि-संस्था निवृत्ति-प्रधान थी। युवावस्था में संन्यास की स्वीकृति के साथ इनमें तीव्र परिवर्तन हुए। आगमिक संस्कृति ने वर्णव्यवस्था[११] को बौद्ध, जैन, वैष्णव, शैव आदि धर्मों के साथ जोड़ दिया और आश्रम-व्यवस्था में गृहस्थ और संन्यासी ही बचे रह गये। ब्रह्मचारी और वानप्रस्थ अब शब्द के रूप में ही बचे हैं अथवा विकृत हो गये हैं। ब्राह्मण आज धर्माचार्यों की कृपा पर टिका है। संन्यासी बनने के लिए ७५ वर्ष की आयुसीमा आज अपेक्षित नहीं है। वैदिक अथवा अवैदिक सभी भारतीय धर्मों ने इसे मान्यता दे दी है। ऋषि-संस्था का यह पराभव दुनिया के लिए अशुभ सिद्ध होगा। ऋषि-संस्था और मुनि-संस्था में पुनः सामंजस्य बैठाया जाना चाहिए। ऋषि और मुनि दोनों के लिए उपनिषदों में उपदिष्ट

११. कूर्मपुराण (१.२.९८) में भी वैष्णव, ब्राह्म और हराश्रमों की चर्चा मिलती है।

त्रिविध एषणाओं से मुक्ति अपेक्षित है। तभी वे समाज और राजनीति को विपथगामी होने से बचा सकेंगे।

वर्तमान समय में संस्कृति के माध्यम से यह कार्य हो सकता है। इसके लिए हमें वेदों से लेकर सन्तों एवं महात्मा गाँधी तक की पूरी भारतीय उदार परम्परा को मान्यता देनी होगी। हम इसमें इतना ही संशोधन करना चाहते हैं कि सर्वधर्म-समभाव के स्थान पर सर्वधर्म-समादर को वरीयता दी जाय। इसके लिए बाधक तत्त्वों के परित्याग के साथ साधक तत्त्वों का परिग्रह अपेक्षित है। इसीलिए यहाँ के प्रथम अधिकार में इनका विस्तार से निरूपण किया गया है। साधक और बाधक तत्त्वों के सही स्वरूप को जानने वाला और चतुष्कोणीय संघर्ष से मुक्त मानव ही धर्म और संस्कृति के सही स्वरूप को हृदयंगम कर सकता है। अत: अगले अधिकार में इनके स्वरूप पर विचार किया जा रहा है।

●

द्वितीय अधिकार

धर्म और संस्कृति

चार पुरुषार्थ

चार वर्ण और चार आश्रमों की चर्चा आ चुकी है। इसी तरह भारतीय मनीषियों ने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नामक चार पुरुषार्थों को भी मान्यता दी है। यह अवधारणा अतिप्राचीन होते हुए भी चिरनवीन है। इनमें धर्म का पहला स्थान है। धर्म के बिना अर्थ और काम अनियन्त्रित हो जाते हैं। जैसा कि आजकल हो रहा है। इसीलिए भारतीय शास्त्रों में धर्म से नियन्त्रित अर्थ और काम के सेवन का विधान है। धर्म-नियन्त्रित अर्थ और काम के सेवन से ही व्यक्ति मोक्ष का अधिकारी बन पाता है। स्मृतिकारों ने धर्म के लक्षण में सन्तोष, दया, क्षमा, सत्य, अस्तेय आदि उत्कृष्ट नैतिक मूल्यों का समावेश किया है। यहाँ का धर्म शब्द मजहब का वाचक न होकर इन्हीं मानवीय गुणों को अपने में समेटता है। आजकल की नैतिकता से हम इसकी कुछ मानों में तुलना कर सकते हैं, किन्तु नैतिक मूल्यों की सत्ता वर्तमान जीवन तक ही सीमित है, जबकि धर्म का सम्बन्ध इस लोक के साथ परलोक से भी है।

मोक्ष, निर्वाण, निःश्रेयस जैसे शब्दों के माध्यम से भारतीय दर्शनों में अपनी-अपनी पद्धति से इसका स्वरूप प्रदर्शित है। तन्त्रागमशास्त्र ने मोक्ष के स्वरूप को भी लौकिक धरातल पर उतार लिया है। धर्म-नियन्त्रित अर्थ और काम के सेवन से ही मानव जाति सुख-शान्ति से रह सकती है। लौकिक दृष्टि से इसीको हम मोक्ष मान सकते हैं। योगी अरविन्द की कल्पना तभी साकार हो सकती है। आगम-तन्त्रशास्त्र की सभी शाखाओं ने एक ही जन्म में मुक्ति के सिद्धान्त को मान्यता दी है और जीवन्मुक्ति के रूप में मोक्ष की स्थिति को भी स्वीकार कर लिया है।

आज पूरा भारतीय समाज युगों की व्यवस्था से जकड़ा हुआ है। उसका सोचना है कि आजकल जो कुछ अनाचार-अत्याचार फैला है, वह सब कलियुग का प्रभाव है। इस पर नेत्रतन्त्र (१९.२१९) का कहना है कि भगवान् शिव के साम्राज्य में कृत, त्रेता, द्वापर और कलि की भी कोई वास्तविक सत्ता नहीं है। हम सोच सकते हैं कि आज इन सब सिद्धान्तों की कितनी उपयोगिता है। नेत्रतन्त्र में मन्त्रवाद का विस्तार से वर्णन मिलता है, किन्तु साथ ही वहाँ चेतावनी भी दी गई है कि जो व्यक्ति उत्तम सिद्धि अथवा मोक्ष को चाहता है, उसे मन्त्रवाद का सहारा कभी नहीं लेना चाहिए। योगसूत्र (३.३७) में भी सिद्धियों के विषय में यही कहा गया है। इस तरह की सभी प्रकार की स्थितियों और लालसाओं से मुक्त व्यक्ति इसी धरती पर मोक्ष को उतार सकता है।

नि:स्वार्थ सेवाभाव से किया गया कर्म ही निर्वाण का मार्ग बन सकता है। निर्वाण का मार्ग कहीं एकान्तवास में नहीं होता। जिस प्रकार विज्ञान के द्वारा आविष्कृत बिजली, वायुयान आदि का अमीर-गरीब सब समान रूप से उपयोग करते हैं, उसी प्रकार अध्यात्म के फल का भी सभी लोग उपभोग कर सकते हैं। यदि हम कर्म को ही पूजा मानें, तो कितना अच्छा हो। जो मानवता के साथ तो दयालुता का बर्ताव नहीं करता, किन्तु पाषाण की मूर्ति या किसी अदृश्य शक्ति की पूजा करता है, वह तो ढोंगी है या किसी भ्रान्ति में है, क्योंकि नर ही नारायण होता है, प्राणियों में ही ईश्वरता समायी रहती है। नि:स्वार्थ भाव से अपने कर्तव्य का पालन मनोयोग से करने पर ही हम निर्वाण की ओर अग्रसर होते हैं। देश, काल या अपनी असामर्थ्य आदि के कारण कोई व्यक्ति संपूर्ण प्राणी मात्र की सेवा न कर सकता हो, लेकिन जहाँ हम जिस काम के लिए नियुक्त हैं या जो भी काम हम कर रहे हैं, उसे सावधानी[१] के साथ सेवाभाव समझ कर नि:स्वार्थ मन से करें, तो वही संपूर्ण प्राणीमात्र की सेवा कहलावेगी। जो तत्त्व एक में है, वही सब में हैं; जो सब में है, वही एक में है। अत: मात्र एक की सेवा में सबकी सेवा संनिहित है। यह सब निर्भर करता है अपनी भावना पर। अत: भगवान् बुद्ध के संकल्प के अनुसार सेवाभाव के माध्यम से आसपास के लोगों को समयोचित सहायता करना ही निर्वाण का मुख्य मार्ग है।

काका कालेलकर ने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नामक चार पुरुषार्थों का सुन्दर विश्लेषण किया है। वे लिखते हैं कि धर्म शब्द का वही अर्थ नहीं है, जो पश्चिम में रिलीजन का माना जाता है। धर्म का अर्थ है न्यायपूर्ण ढंग से काम करना। वे कहते हैं कि धर्म या धम्म एशिया की सांस्कृतिक विरासत का मर्म है। धम्म चिरंतन 'सनातनो धम्मो' है। अर्थ माने भौतिक समृद्धि। यह हमेशा धर्म के प्रभुत्व के याने सामाजिक भलाई के अन्तर्गत रहा है। काम के अन्तर्गत यहाँ संगीत, नाटक, नृत्य, चित्रकला आदि का भी समावेश किया गया है। *''धर्मार्थकामा: सममेव सेव्या:''* इस वचन को उद्धृत कर काका साहब ने जीवन के इन तीन पहलुओं पर अच्छा प्रकाश डाला है। मोक्ष की इन्होंने यहाँ वेदान्त-संमत व्याख्या की है (पृ० १७०-१७२)। इनमें से हम यहाँ केवल धर्म की ही व्याख्या प्रस्तुत करेंगे।

●

१. ''योगिनां तु विशेषोऽयं संबन्धे सावधानता'' (श्लो० १०४) विज्ञानभैरव के इस वचन का अभिप्राय यह है कि पूरी सावधानी के साथ किया गया कोई भी कार्य योग का अंग बन जाता है, उसमें निखार ला देता है।

धर्म (आध्यात्मिक)

महाभारत के महान् यशस्वी पात्र विदुर ने धर्म के आठ अंग बताये हैं—इज्या (यज्ञ-याग, पूजा आदि), अध्ययन, दान, तप, सत्य, दया, क्षमा और अलोभ। उनका कहना है कि इनमें से प्रथम चार इज्या आदि अंगों का आचरण मात्र दिखावे के लिए भी हो सकता है, किन्तु अन्तिम चार सत्य आदि अंगों का आचरण करने वाला महान् आत्मा बन जाता है। मनुस्मृति (६.९२) में भी धृति (धैर्य), क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध—ये दस धर्म के अंग गिनाये गये हैं। धर्म का यह आध्यात्मिक स्वरूप है। चार पुरुषार्थों में से प्रथम धर्म में इसी स्वरूप की गिनती की जाती है। धर्म का यह आध्यात्मिक स्वरूप ही अर्थ और काम पर नियन्त्रण स्थापित कर सकता है। आगम-तन्त्रशास्त्र में पूजा के आन्तर और बाह्य दो प्रकार बताये गये हैं और बाह्य शुद्धि की अपेक्षा आन्तर (मन) शुद्धि पर अधिक जोर दिया गया है। हमें मानव मन की शुद्धि के लिए बाह्य आडम्बरों को छोड़ कर विदुरनीति और मनुस्मृति में वर्णित धर्म के इस आध्यात्मिक स्वरूप पर अधिक जोर देना चाहिए, जिसके आचरण से प्रत्येक मानव मोक्ष का भी अधिकारी बन सकता है।

यदि हमें ईमानदारी से धर्म के इस आध्यात्मिक स्वरूप को समझना है, तो सभी मतों के विरोधी कर्मकाण्डों को छोड़कर राम-कृष्ण, बुद्ध-महावीर, जरथुष्ट्र, ईसामसीह, हजरत मुहम्मद के साथ सन्तों और गुरुओं के उन उपदेशों का सार संगृहीत करना होगा, जो मानव-मन का विस्तार कर मनुष्य को देवता बना सकते हैं। तभी हम स्वयं भी शान्ति से रह सकेंगे और पूरी मानवता को भी शान्ति का संदेश सुना सकेंगे।

धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजा:।
य: स्याद् धारणसंयुक्त: स धर्म इति निश्चय:॥

धर्म की इस परिभाषा को हमें स्वीकार कर लेना चाहिए। यहाँ यह बताया गया है कि समस्त प्रजा का धारण, भरण-पोषण, उत्कर्ष और कल्याण करने की इसमें शक्ति है, इसीलिए इसे धर्म कहते हैं। धर्म के द्वारा ही प्रजा का जीवन संगठित, सुखी और समर्थ होता है। जिस किसी भी चीज में यह धारण शक्ति है, सँभालने की और बढ़ावा देने की शक्ति है, वही धर्म है। नैतिकता के रूप में भी हम इसको परिभाषित कर सकते हैं।

●

नैतिकता

अभी (पृ० ४७) हमने बताया है कि आजकल की नैतिकता से हम इसकी (धर्म की) कुछ मानों में तुलना कर सकते हैं। प्रो० मुकुटबिहारीलाल ने इस विषय पर अपने ग्रन्थ *साम्ययोगमीमांसा* में अच्छा प्रकाश डाला है (पृ० १९०-१९२)। हम इस पुस्तक के लिए उपयोगी वहाँ के कुछ अंशों को उद्धृत करना चाहते हैं—

''कुछ विद्वानों के विचार में अदृश्य आत्मतत्त्व नीतिशास्त्र का मूलाधार है। कतिपय विद्वान् नैतिक नियमों की ईश्वरादेशित और आप्तपुरुषों द्वारा उनकी व्याख्या को प्रामाणिक मानते हैं। कुछ विद्वान् प्रबुद्ध सद्विवेक, बुद्धि के आदेश को ही नैतिकता का आधार स्वीकार करते हैं, पर कुछ विद्वानों की नैतिक विवेचना मूल रूप से लौकिक और सामाजिक है। वे समाज और मनुष्यत्व के परम उत्कर्ष को ही नैतिक आदेशों का मुख्य लक्ष्य स्वीकार करते हैं।

लोकमान्य तिलक गीता के द्वारा प्रतिपादित कर्मयोग को ब्रह्मविद्या पर आधारित नीतिशास्त्र घोषित करते हैं। उनके विचार में गीता का नीतिशास्त्र अदृश्य आत्मतत्त्व पर आधारित है, वह आत्मज्ञान और नैतिक व्यवहार के मेल पर आग्रह करता है, उसमें मोक्ष, नीति, धर्म और व्यवहार की एकवाक्यता सिद्ध की गई है।

लोकमान्य तिलक की तरह गाँधीजी भी भगवद्गीता को कर्मयोग का शास्त्र तथा लोकसेवा को जीवन के आध्यात्मिक और नैतिक उत्कर्ष के लिए सर्वोत्तम साधन समझते थे। वे मोक्ष के आध्यात्मिक महत्त्व को स्वीकार करते थे, पर मोक्ष और नैतिकता की एकवाक्यता उन्हें ठीक नहीं जँचती थी। उनके विचार में व्यक्तिगत मोक्ष की कामना का अपना महत्त्व है, पर नैतिकता से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

नैतिकता उनके विचार में सामाजिक प्रक्रिया है। नैतिक आदर्श सामाजिक आदर्श हैं। नैतिकता का उदय और विकास समाज में ही होता है। समाज से अलग नैतिकता की कल्पना असंभव है। स्वेच्छा से, निःस्वार्थ भाव से, सामाजिक कर्तव्यों का पालन, सबके साथ सौहार्दपूर्ण सद्व्यवहार, समाज की प्रगति में उत्तरदायित्वपूर्ण योगदान, व्यवहार और साधनों की स्वच्छता पर समुचित ध्यान तथा आचरण की शुद्धि नैतिक जीवन के कतिपय मुख्य लक्ष्य हैं। गाँधी जी के विचार में वही कार्य नैतिक है, जो सदिच्छा से प्रेरित हो, सच्चरित्रता और सदुपायों से युक्त हो, निःस्वार्थ समाजहित की भावना से समन्वित हो, जनकल्याण के साधन की जिसमें क्षमता हो।

गाँधीजी की धारणा थी कि विश्व के नैतिक विधान पर विश्वास ही धर्म है और इस दृष्टि से वे धर्म और नैतिकता के घनिष्ठ सम्बन्ध पर विश्वास करते थे। उनकी धारणा थी कि नैतिकता धर्म का विशिष्ट लक्षण है। नैतिकता-विहीन धर्म पाखण्ड है। नैतिक जीवन ही सच्चा धार्मिक जीवन है।

इस तरह गाँधी जी की नैतिक धारणाएँ समाज-वैज्ञानिकों की सामाजिकता और सापेक्षता, भगवद्गीता की निष्काम लोकसेवा, भारतीय अध्यात्म के अद्वैत और समत्व, जीवन और समाज के स्वस्थ पुनर्गठन की भावना एवं समाजदर्शन के कतिपय मूलभूत सिद्धान्तों पर आश्रित थी। वे निःसंदेह गतिशील, प्रगतिशील और संघर्षात्मक थीं। वे शास्त्रीय प्रमाण और परम्परागत प्रथाओं पर विवेक और अन्तःकरण की प्रभुता प्रतिष्ठित

करती हैं तथा पुरानी कालविपरीत रूढ़ियों से संघर्ष करने को एवं जड़ता और निराशा का त्याग करने को प्रोत्साहित करती हैं''।

हम इसके निष्कर्ष के रूप में कह सकते हैं कि यह नैतिकता धर्म के आध्यात्मिक स्वरूप का उत्कृष्ट अंग है। महापुरुषों ने इसीके आचरण पर अधिक जोर दिया है। कर्मकाण्डीय धर्म से गुणात्मक रूप में यह अनोखा है।

●

धर्म (कर्मकाण्डीय)

महान् गाँधीवादी चिन्तक काका कालेलकर का *''समन्वय संस्कृति की ओर''* शीर्षक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। वहाँ उन्होंने बताया है—''दुनिया के प्रधान धर्म छह हैं। इन धर्मों के अनुसार चलने वालों की संख्या का ख्याल तो होना ही चाहिए। लेकिन ऐसा ख्याल न करते हुए केवल स्वतन्त्र असर करने वाले प्रधान धर्मों का ही ख्याल करना अच्छा होगा। इन छह धर्मों में सबसे पुराना है वैदिक धर्म, जिसको आगे जाकर हम कहने लगे सनातन धर्म और परदेशी लोगों ने इसको नाम दिया हिन्दू-धर्म'' (पृ० ८-९)। आगे जरथुष्ट्र (पारसी) और यहूदी धर्म का भी परिचय देते हुए उन्होंने इन तीनों धर्मों को सनातनी धर्म माना है। वह इसलिए कि इन तीनों धर्मों की धर्मान्तरण में कोई रुचि नहीं है।

इसी प्रसंग को आगे बढ़ाते हुए उन्होंने लिखा है कि यहूदी धर्म से ईसाई-क्रिश्चियन धर्म निकला, वैदिक-सनातनी हिन्दू धर्म से दो धर्म निकले, जिन्हें बौद्ध और जैन कहते हैं। हजरत इब्राहीम ने जो धर्म चलाया, उसीमें से कुरान-शरीफ का मोहम्मदी धर्म निकला। इसे दुनिया इस्लाम के नाम से पहिचानती है। ऊपर के तीन धर्मों के साथ जैन धर्म को मिलाकर काका साहब ने इनको *'आत्मतुष्ट'* और बौद्ध, ईसाई और इस्लामी धर्म को 'स्पर्धालु' कहा है (पृ० ९-१०)। काका साहब के इस प्रतिपादन से हम सहमत है, किन्तु चीन[२] की यहाँ कोई चर्चा नहीं है।

पूजा के बाह्य आडम्बरों को ही कर्मकाण्ड के नाम से जाना जाता है। प्रत्येक धर्म (मजहब) में इसका अपना-अपना स्वरूप है। इन कर्मकाण्डों के कारण मानव-मन आपस में जुड़ता कम, जुदा ज्यादा होता है। वैदिक धर्म से लेकर इस्लाम धर्म तक के इन धार्मिक कर्मकाण्डों को हम देखें, इनमें समानता कम विविधताएँ ही अधिक हैं। कहीं-कहीं तो परस्पर-विरोधी कर्मकाण्डों की भी सृष्टि हुई है। भारतीय धर्मों में परस्पर की समालोचना के कारण इन परस्पर-विरोधी कर्मकाण्डों में कुछ कमी आई है,

---

२. चीन में बौद्ध धर्म के अतिरिक्त ताओं और कनफ्यूश धर्म भी प्रचलित हैं। सर्व सेवा संघ, राजघाट, वाराणसी से प्रकाशित ''धर्म क्या होता है?'' ग्रन्थमाला का नवम पुष्प देखिए।

किन्तु अन्य धर्मों में ऐसा देखने को नहीं मिलता और वे मानव-मन को राग-द्वेष से दूषित करने में अपनी भूमिका ज्यादा निभाते हैं। यह प्रवृत्ति कुछ भारतीय धर्मों को भी दूषित करने में सहायक हुई है, जिसकी प्रतिध्वनि भागवत[३] के एक वचन में मिलती है, जिसकी चर्चा हम पहले (पृ० २८) भी कर चुके हैं। वैदिक कर्मकाण्ड को तो हम भुला चुके हैं, किन्तु आजकल तान्त्रिक कर्मकाण्ड की बड़ी चाव से चर्चा की जाती है। हमें इस बात को पूरी तरह से याद रखना चाहिए कि ११वीं सदी के आरम्भ में आज की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ और कर्मठ तान्त्रिक इस देश में विद्यमान थे, किन्तु उनके देखते ही देखते यह देश पराधीन हो गया। तान्त्रिक कर्मकाण्ड हमें पाँच हजार वर्ष पीछे ले जाएगा और वह सामान्य मानवीय मूल्यों से भी हमें वंचित कर देगा। घृणा, द्वेष और क्रूरता किसी देश या जाति को आगे नहीं बढ़ा सकती।

इस प्रसंग में तन्त्रागमीय कर्मकाण्ड की संक्षेप में चर्चा कर देना हम आवश्यक समझते हैं। यहाँ त्रिविध या चतुर्विध पूजा का विधान मिलता है। त्रिक (कश्मीर) दर्शन में वर्णित चतुर्विध उपायों की भी व्याख्या हम पूजा के चतुर्विध प्रकारों के रूप में कर सकते हैं। बौद्ध तन्त्रों में सात अथवा ग्यारह प्रकार की पूजा वर्णित है। सात प्रकार की अनुत्तर पूजा और चार प्रकार की ब्रह्मभावना को लेकर ये सम्पन्न होती हैं। इसी तरह से इस संसार के सभी धर्मों में वर्णित पूजापद्धति का बाह्य कर्मकाण्ड और आन्तर उपासना में समावेश किया जा सकता है। हमने *''तान्त्रिकी वरिवस्या तस्या भेदाश्च''* शीर्षक निबन्ध[४] में अनेक संस्कृत ग्रन्थों की सहायता से इन सभी प्रकार की पूजाओं के स्वरूप को दिखाने का प्रयत्न किया है।

पांचरात्र संहिताओं में दैव एवं पित्र्य कर्मकाण्ड का अत्यन्त विस्तार है। नारायणीयोपाख्यान में स्वयं नारायण ने कहा है कि हमारी परमा प्रकृति ने, जो श्वेतद्वीप में निवास करती है, लोककल्याण के लिए यह मर्यादा बाँध दी है कि दैव और पित्र्य कर्म अवश्य करने चाहिए। इसीलिए इस शास्त्र को यहाँ स्थान-स्थान पर प्रवृत्ति-धर्म के नाम से संबोधित किया गया है, जबकि वैदिक धर्म को निवृत्ति-धर्म बताया है। यहाँ दैव और पित्र्य कर्म से देवताओं और पितरों की पूजा से संबद्ध कर्मकाण्ड गृहीत है। पांचरात्र आगम और उससे अनुप्राणित शास्त्रों में कर्म को भी मोक्ष का साधन माना गया है, अतः ये अपना समावेश प्रवृत्ति-धर्म में करते हैं। वैदिक धर्म को निवृत्ति-धर्म इसलिए कहा गया है कि वहाँ बिना संन्यास लिए मुक्ति नहीं मिल सकती।

---

३. ''जुगुप्सितं धर्मकृतेऽनुशासतः स्वभावरक्तस्य महान् व्यतिक्रमः। यद्वाक्यतो धर्म इतीतरः स्थितो न मन्यते तस्य निवारणं जनः॥'' (१.५.१५) इस श्रीमद्भागवत के वचन में धर्म के नाम पर किये जाने वाले जुगुसित कर्मकाण्ड की आलोचना की गई है।

४. ''तन्त्रागमीयं संस्कृतिदर्शनम्'' (पृ० ६६-७८) शीर्षक ग्रन्थ द्रष्टव्य।

प्रो० राजाराम शास्त्री ने *"दर्शन, धर्म तथा समाज"* नामक ग्रन्थ के *"धर्म का स्वरूप"* शीर्षक दो प्रकरणों (पृ० ७५-९५) में धर्म के इस कर्मकाण्डीय स्वरूप पर ही विशेष प्रकाश डाला है। हम इसी पृष्ठभूमि में हिन्दू (सनातन) धर्म के स्वरूप को स्पष्ट करना चाहते हैं।

●

हिन्दू (सनातन) धर्म

हिन्दू शब्द हमारा अपना नहीं है। यह हमारे ऊपर थोपा हुआ शब्द है। हम कह सकते हैं कि यह शब्द हमें तोहफे में मिला है। एक हजार वर्ष पहले विदेशी आक्रान्ताओं ने यह शब्द हमें दिया था। इससे पहले भारतीय साहित्य में कहीं भी इसका प्रयोग नहीं मिलता। उस समय यह शब्द पूरी भारतीय प्रजा के लिए प्रयुक्त होता था, किन्तु आज वह स्थिति नहीं है। अब तो एक हजार वर्ष तक पराधीन रही जाति के लिए सीमित अर्थ में यह प्रयुक्त होने लगा है। बौद्धों, जैनों और सिक्खों को भी आज इसकी परिधि से बाहर कर दिया गया है। इस शब्द की मूल मंशा के अनुसार तो भारत में बसने वाले इस्लाम और ख्रीष्ट धर्म के अनुयायियों को भी हिन्दू माना जाना चाहिए, किन्तु इस पुराने अर्थ को आज पूरी दुनिया ने नकार दिया है। भारतीय इतिहास को भी तदनुसार ढाल दिया गया है और ढाला जा रहा है। इसमें हम भारतीयों का सहयोग भी कम नहीं है।

तोहफे में मिले इस शब्द से अब हमें इतना मोह हो गया है कि उसे हम छोड़ना नहीं चाहते। कुछ वर्षों पहले इन पंक्तियों के लेखक ने "हिन्दूकरण नहीं, भारतीयकरण" शीर्षक लेख लिखा था और "यह भारतीयकरण क्या है" इसमें भारतीयता को परिभाषित भी किया था। प्रो० बलराज मधोक को भी यह शब्द भाया था, किन्तु न जाने क्यों आज "गर्व से कहो हम हिन्दू है" का नारा बुलन्द होने लगा है।

स्वामी विवेकानन्द अपने को हिन्दू की अपेक्षा *आर्य* कहलाना अधिक पसन्द करते थे। सूचना एवं जनसम्पर्क विभाग, उत्तरप्रदेश द्वारा सन् १९८९ में प्रकाशित अपने *'समिधा'* नामक निबन्ध-संग्रह (पृ० ११९-१२०) में डॉ० सम्पूर्णानन्द का कहना था कि हमारे पतन का प्रतीक हमारा हिन्दू नाम है। हम कभी आर्य थे, आज हिन्दू हैं। इस नाम-परिवर्तन से आई मनोवृत्ति का भी उन्होंने सुन्दर विश्लेषण किया है। प्रो० राजाराम शास्त्री भी अपने *'दर्शन, धर्म और समाज'* नामक ग्रन्थ में हिन्दू शब्द के स्थान पर भारतीय शब्द के प्रयोग की वकालत करते हैं। वे यह भी लिखते हैं कि हिन्दू-धर्म जैसी कोई चीज नहीं है (पृ० ३४७)। वास्तव में हिन्दू-धर्म एक आरोपित शब्द है, जो यहाँ के सभी धर्मों का प्रतिनिधित्व नहीं करता।

आज हिन्दू शब्द मुसलमान शब्द के साथ जुड़कर *'श्रमण-ब्राह्मणम्'* के समान शाश्वत संघर्ष का सूचक बन गया है। जितनी जल्दी हम इस शब्द से छुटकारा पा लें, वह भारत के भविष्य के लिए शुभ संकेत होगा। इसके लिए भारतीय जनतादल अथवा कांग्रेस को पहल करनी चाहिए, किन्तु ऐसा करने से पहले उनको अतिवाद और तुष्टिवाद से वचना होगा। भारत की अधिसंख्य प्रजा के लिए भारतीय शब्द बुरा नहीं है। इस भारतीयता में वैदिक, जैन, बौद्ध, पौराणिक, वैष्णव, शैव, शाक्त, स्मार्त, सिक्ख आदि संप्रदायों और नाना पन्थों के साथ इस्लाम और ख्रीष्ट मत के अनुयायियों का भी सही माने में समावेश हो सकता है।

संस्कृत व्याकरण में कात्यायन का एक वार्त्तिक है– *''येषां च विरोध: शाश्वतिक:''*। इसके उदाहरण के रूप में वहाँ 'अहिनकुलम्' और 'श्रमणब्राह्मणम्' जैसे शब्द दिये गये हैं। इसका अभिप्राय यह है कि साँप और नेवले की तरह कभी श्रमण और ब्राह्मण का दृढ़मूल वैर था। कहीं से सुनकर स्वयं अपने द्वारा उद्धृत इस विषय की हमने परीक्षा की। उसका यह परिणाम निकला कि एक तो यह कात्यायन का वार्त्तिक न होकर पाणिनि अष्टाध्यायी का सूत्र (२.४.९) है। दूसरा यह कि पातंजल महाभाष्य, काशिकावृत्ति और सिद्धान्तकौमुदी जैसे ग्रन्थों में भी यह उदाहरण नहीं मिलता। किस वैयाकरण ने इस उदाहरण को सर्वप्रथम प्रस्तुत किया, इसकी खोज होनी चाहिए। अभी काशिकावृत्ति की पदमंजरी टीका में यह उपलब्ध है। जो भी हो, इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कभी न कभी श्रमणों और ब्राह्मणों में आपस का वैरभाव था और उसको अभी भी देखा जा सकता है। इस वैरभाव को आगम और तन्त्रशास्त्र ने बहुत कुछ दूर कर दिया। *''तन्त्रेषु वैदिककर्मकाण्डस्य प्रभाव:''* शीर्षक से रोम (इटली) में प्रकाशित हमारे संस्कृत निबन्ध में हमने कालचक्रतन्त्र की विमलप्रभा टीका आदि के आधार पर यह स्थापित किया है कि दीक्षा और पुरश्चरण के प्रसंग में तन्त्रशास्त्र में सर्वत्र अग्नि-समाराधन वैदिक पद्धति से ही किया जाता रहा है।

तन्त्रशास्त्र मात्र जादू-टोना, मारण-उच्चाटन तक ही सीमित नहीं है, न यह उन तान्त्रिकों का ही शास्त्र है, जिनके यहाँ जाकर आजकल के नेतागण नाक रगड़ते हैं और न वह तन्त्रशास्त्र है, जिसकी सिद्धियों को उपन्यास की शैली में पेश कर लोगों को भरमाया जाता है। यदि यह सब होता, तो एक हजार वर्ष पहले भारत को और आज तिब्बत को पराधीनता का मुँह न देखना पड़ता। यह तो वह शास्त्र है, जिसने सिद्धों और नाथों को, आलवारों, सन्तों और गुरुओं को प्रेरणा दी, रामानन्द, कबीर, रविदास और मीरा को पैदा किया। सूफी सन्तों की प्रेरणा का स्रोत भी यही शास्त्र रहा है। यह बिना किसी भेदभाव के मानवता का ही नहीं, प्राणीमात्र का कल्याण चाहता है।

भारत में परस्पर विरोधी विचारधाराओं को जोड़ने के दो-तीन सफल प्रयास हुए हैं। उनकी अन्तिम परिणति हमें महाभारत, पुराण, आगम और तन्त्रशास्त्र के रूप में

मिलती है। इस तरह के एक और प्रयास की हमें अपेक्षा है। हिन्दू शब्द आज बौद्ध, जैन, सिक्ख, पारसी, मुसलमान और ईसाई समुदाय को अपने में समेट पाने में असमर्थ है। आज *'श्रमण-ब्राह्मणम्'* जैसी ही स्थिति हिन्दू-मुसलमान की हो गई है। शैवों, वैष्णवों और भारत के अन्य अनेक संप्रदायों के समान हम उक्त सभी धर्मों को भारतीय संस्कृति की विभिन्न धाराओं के रूप में मान्यता दे सकते हैं।

विदेशों में हम सब केवल भारतीय के रूप में पहिचाने जाते हैं। पासपोर्ट में यह नहीं लिखा रहता है कि वह किस धर्म या संप्रदाय का अनुयायी है। उसमें तो मात्र उसकी राष्ट्रीयता अंकित रहती है। यहाँ के सभी सम्प्रदाय जायज-या-नाजायज तरीकों से अपनी संख्यावृद्धि का आग्रह छोड़कर यदि शान्ति से रहना सीख लें, तो हिन्दुत्व को इस शुभ कार्य में आड़े नहीं आने देना चाहिए। भारतीयता को ही सर्वोपरि मान्यता मिलनी चाहिए।

पाश्चात्य विद्वान् वैदिक शब्द के स्थान पर ब्राह्मण शब्द का प्रयोग करते हैं और जैनों एवं बौद्धों को आज भी ब्राह्मणद्वेषी के रूप में उपस्थापित किया करते हैं। जैनों और बौद्धों को सिक्खों के साथ रखकर उन्होंने इन सबको हिन्दुओं से अलग कर दिया है और ये सब भी अपने को ऐसा ही मानते हैं। इस प्रसंग में यह स्मरण रखने की बात है कि जैन साहित्य में वैदिक शब्द ही प्रयुक्त हुआ है, ब्राह्मण पद नहीं। सभी धर्मों के प्रति समादरभाव व्यक्त करने में भी जैनों की अनेकान्त दृष्टि बहुत सहायक है। ब्राह्मणवाद और मनुवाद आज के राजनीतिज्ञों के दिमाग की उपज हैं। आज का समाज ब्राह्मणों से नहीं, मठाधीशों से और मनुस्मृति से नहीं, अम्बेडकर के द्वारा प्रारूपित भारतीय संविधान से संचालित है। यह अच्छा लक्षण है कि इधर इस दृष्टिकोण में परिवर्तन आने लगा है। इसको स्थायी भारतीय दृष्टिकोण का सहारा मिलना चाहिए।

श्री रामधारीसिंह दिनकर ने अपने *'संस्कृति के चार अध्याय'* नामक ग्रन्थ में— "प्राचीन संस्कृत साहित्य और पालि ग्रन्थों में 'हिन्दू' नाम कहीं भी नहीं मिलता" (पृ० ११२) इतना लिखने के बाद भी वहाँ (पृ० ११३-११४) अनेक संस्कृत श्लोकों को उद्धृत किया है। इनकी परीक्षा अपेक्षित है। वे हमें बताते हैं कि पारसी धर्म-ग्रन्थ अवेस्ता में और डेरियस (५२२-४८६ ई०पू०) के शिलालेख में हिन्दू शब्द उपलब्ध है। हमारी समझ में उनके द्वारा उद्धृत श्लोक सुधारवादियों के द्वारा रचित हैं और विदेशी साहित्य में हमारे लिए यह शब्द २५०० वर्ष पहले प्रयुक्त हो चुका है, तो वह हमारे लिए वेदवाक्य तो नहीं हो जायगा।

हम इस शब्द की स्पष्ट विसंगति को यहाँ दिखा देना चाहते हैं। भारतीय आगम-तन्त्रशास्त्र का अध्ययन आजकल तीन विभागों में किया जाता है—हिन्दू, बौद्ध और जैन। हिन्दू विभाग के अन्तर्गत वैष्णव, शैव, शाक्त, स्मार्त आदि सभी तन्त्रागमों का समावेश कर

दिया गया है। जब हम इन सभी शाखाओं का तुलनात्मक अनुशीलन करने जाते हैं, तो हम देखते हैं कि बौद्ध-तन्त्र कहीं वैष्णव तो अन्यत्र कौल (शैव-शाक्त) तन्त्रों से समरस हैं। इसी तरह जैन-तन्त्र कभी सिद्धान्तशैव आगमों से तथा कभी त्रिपुरा-तन्त्रों से मिलते-जुलते हैं। ऐसे प्रसंगों में हिन्दू-तन्त्र शब्द की कोई भूमिका नहीं रहती।

भारतीय राजनीतिज्ञों और प्रबुद्ध विचारकों को यह समझ लेना चाहिए कि अब बचे हुए देश को अखण्ड रखने के लिए एक राष्ट्रीयता की आवश्यकता है। हमारी दृष्टि में इसके निर्माण में 'हिन्दू' शब्द बहुत बड़ी बाधा है। पाश्चात्य देशों में इतना सारा साहित्य निर्मित हो गया है कि इस शब्द के माध्यम से जैन और बौद्ध जैसे प्राचीन संप्रदाय ही नहीं, सिक्खों जैसे अनेक आधुनिक पन्थों को भी इसकी परिधि से बाहर कर दिया गया है। यह वैदिक, शैव, वैष्णव, शाक्त, स्मार्त संप्रदायों के जैसे अन्य संप्रदायों को अपने में समेटने में असमर्थ है। पेट्रो-अमेरिकन डालर अलगाव को बढ़ाने में लगा हुआ है। सीमान्त प्रदेशों, जनजातियों और पिछड़ों में भी अलगाव के बीच बोये जा रहे हैं।

इसलिए हमारा बार-बार आग्रह है कि जब तक हम हिन्दू शब्द के स्थान पर कोई सर्वमान्य दूसरा शब्द स्वीकार न कर लें, तब तक के लिए सनातन धर्म शब्द को ही व्यवहार में लावें। इस सनातन धर्म ने भारतीय धर्मों में परस्पर सहिष्णुता और समन्वय का मार्ग प्रशस्त किया ही था, सर्वधर्म-समादर के माध्यम से यह विश्व के अन्य धर्मों में भी इस दृष्टि का संचार कर सकने में समर्थ है।

●

सर्वधर्म-समादर

सर्वधर्म-समभाव एक अच्छा शब्द है, किन्तु महात्मा गाँधी के अनुयायियों ने इसका एक ही अर्थ समझा है कि सभा-सम्मेलनों के प्रारम्भ में सभी धर्मों के पुरोधाओं को इकट्ठा कर प्रार्थना सभा की जाय। क्या इतने मात्र से सभी धर्मों में परस्पर सद्भावना आ पाई है? इसके लिए तो गंभीरता से एक-दूसरे के विचारों के आदान-प्रदान की, तर्कपद्धति से प्रत्येक मजहब के गुण-दोषों की समीक्षा अपेक्षित है। क्या वैदिक, क्या जैन, क्या बौद्ध—सभी धर्मों और दर्शनों में खंडन-मंडन और शास्त्रार्थ की पद्धति से सैकड़ों वर्षों तक विचार-विनियम होता रहा है। क्या आज के मजहबी घरौंदों में यह संभव है? सर्वधर्म-समभाव की वास्तविक प्रतिष्ठा तो तब हो सकती है, जब धर्मान्तरण पर पूरी तरह से रोक लगा दी जाय और विभिन्न वर्गों में सही समालोचना को सुनने-समझने की मनोवृत्ति जाग सके। जब तक यह संभव नहीं होता, तब तक के लिए हमें सर्वधर्म-समादर शब्द तक ही सीमित रहना होगा।

श्रीलंका से अभी हाल में भारत में आयातित बौद्ध धर्म *'श्रमण-ब्राह्मणम्'* की मनोवृत्ति का प्रतिनिधित्व करता है। मध्यकालीन इस्लामिक बर्बरता अभी बरकरार है। मिशनरी टोली सेवाभाव के बहाने ख्रीष्ट धर्म की सर्वोत्कृष्टता को स्थापित करने में और भारतीय संस्कारों के विरुद्ध अनर्गल प्रचार करने में लगी है। हमारे कम्युनिस्ट भाई और बहके हुए कुछ समाजवादी इन्हीं सबको धर्मनिरपेक्ष ताकत मानकर इनको एकजुट करने में प्राणपण से लगे हुए हैं। ऐसी स्थिति में सर्वधर्म-समभाव बन ही नहीं सकता। इसीलिए हम अब तक इस शब्द के सहारे कोई सफलता भी प्राप्त नहीं कर सके हैं।

अब हमें सभी धर्मों का समादर करते हुए, इन सबकी त्रुटियों का परिष्कार करते हुए इनमें सहिष्णुता और समन्वय की भावना जगानी होगी, तथाकथित धर्मान्तरण को आपराधिक कृत्य घोषित करना होगा, पूरी भारती प्रजा में समग्र भारतीयता का प्रादुर्भाव करना होगा। पातंजल योगसूत्र में और बौद्ध एवं जैन शास्त्रों में भी चित्त के परिष्कार के लिए मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा नामक चार उपाय वर्णित हैं। कम्युनिस्टों के लिए हमें चौथे उपाय का ही सहारा लेना होगा।

हमने अनेक स्थानों पर लिखा है कि समन्वय संस्कृति में होगा, धर्मों में नहीं। अब हम यह कहने की स्थिति में हैं कि स्मार्त-तन्त्रों की पद्धति से पंचायतनपूजा जैसे माध्यमों से धार्मिक दृष्टि में भी उदारता का प्रवेश करा सकते हैं। महात्मा गाँधी ने प्रार्थना सभा के रूप में इस ओर एक अच्छा कदम बढ़ाया था। इसको सफल बनाने के लिए भी हमें सभी धर्मों का सम्मान करते हुए उनके तरतमभाव पर विचार करना ही होगा।

''आत्मनि सति परसंज्ञा'' इत्यादि उक्तियों के माध्यम से राग-द्वेष जैसे दोषों से छुटकारा पाने के लिए बौद्ध दार्शनिक आत्मा को ही अस्वीकार कर देते हैं। दूसरी तरफ *''वसुधैव कुटुम्बकम्''* की भावना के विकास के लिए परिमिताहन्ता को विश्वाहन्ता में विकसित करने वाले दर्शनों का भी प्रादुर्भाव यहाँ हुआ है। क्षणिकवादी मान्यताओं ने चिरस्थायी स्मारकों का निर्माण किया-कराया और दूसरी तरफ नित्य आत्मेश्वरवादी मान्यता सब कुछ अग्नि को समर्पित कर देती है। वर्तमान समय में सीमान्त की बौद्ध प्रजा पर बौद्धेतर कर्मकाण्डों का प्रभाव देखकर कुछ लोग परेशान हो उठते हैं, जबकि अन्य विचारक इसको समन्वयात्मक दृष्टिकोण के आधार पर विकसित पंचायतन पूजापद्धति का अंग मानते हैं। जैन धर्म का अनेकान्तवाद भारतीय राष्ट्रीयता के अधिक अनुकूल है, किन्तु राष्ट्रवाद के विघटन में संलग्न पाश्चात्य दृष्टि के साथ ही उससे प्रभावित भारतीय बुद्धिजीवियों की दृष्टि भी अत्यन्त संकीर्ण हो गई है। इस तरतमभाव की हम अनदेखी नहीं कर सकते।

इसीलिए हमारा कहना है कि आज सर्वधर्म-समभाव की नहीं, सर्वधर्म-समादर की अपेक्षा है। सभी धर्मों के प्रति आदरभाव को रखते हुए भी हमें तर्क को उसका

अनुचर न मानकर उसके सहारे विश्व में वर्तमान सभी धर्मों की समीक्षा करनी चाहिए। तन्त्रागमशास्त्र की सभी शाखाओं में निर्दिष्ट षडंग योग में तर्क का विशिष्ट स्थान है। *"तर्कमृषिं प्रायच्छन्"* यह निरुक्तकार यास्क मुनि की उक्ति है। इनका स्थितिकाल पाणिनि मुनि से पहले माना जाता है। इसी तर्कशक्ति का सहारा लेकर हम भी मीमांसाशास्त्र की आवाप और उद्वाप (ग्रहण और त्याग) की पद्धति से पुरातन कालातीत तत्त्वों का परित्याग और नूतन उपादेय तत्त्वों का परिग्रह कर अभिनव भारतीय संस्कृति के निर्माण का पथ प्रशस्त कर सकते हैं।

वर्तमान समय में संस्कृति के माध्यम से यह कार्य हो सकता है। इसके लिए हमें वेदों से लेकर महात्मा गाँधी तक की पूरी भारतीय परम्परा को मान्यता देनी होगी। हम इसमें इतना ही संशोधन करना चाहते हैं कि सर्वधर्म-समभाव के स्थान पर ऊपर बताई गई युक्तियों के आधार पर सर्वधर्म-समादर को वरीयता दी जाय। काका कालेलकर ने सर्वधर्म-समभाव का अर्थ सब धर्मों के लिए एक-सा आदर (पृ० २३) किया है। एक स्थान पर (पृ० ६३) वे स्पष्ट रूप से सर्वधर्म-सद्भाव शब्द का प्रयोग करते हैं। सद्भाव और समादर को हम पर्यायवाची शब्द मान सकते हैं। वे सर्वधर्म-समभाव की प्रक्रिया को भी समझाते हैं। (पृ० ५९-६०)। इसकी सहायता से हम "एक विश्व : एक संस्कृति" के संकल्प को साकार कर सकते हैं, किन्तु इसमें धर्म-परिवर्तन सबसे बड़ी बाधा के रूप में हमारे सामने आ खड़ा होता है।

धर्म-परिवर्तन (धर्मान्तरण)

यह आश्चर्य की ही बात है कि उत्कृष्ट दार्शनिक सिद्धान्तों, उदात्त भावनाओं, सहिष्णुता, समन्वय और *"वसुधैव कुटुम्बकम्"* का उद्घोष करने वाला यह भारत देश आज आचरण के मामले में बहुत दयनीय स्थिति में है। *"पण्डिताः समदर्शिनः"* गीता के इस वचन को वह आचरण में नहीं उतारना चाहता। आज पूरा समाज इस व्याधि से ग्रस्त है। दलित वर्ग से आये किसी एक विशिष्ट व्यक्ति का सम्मान करना तो हमने सीख लिया है, किन्तु पूरे समाज को समानता हमने कभी नहीं दी। वर्णव्यवस्था के भीतर ही पूरे समाज को बाँधने के उद्देश्य से अनेक जातियों और उपजातियों का अंबार लग गया। समाज को बुद्धिजीवी, सैनिक, व्यापारी और श्रमिक वर्ग में बाँटना कोई अनुचित बात नहीं थी, अनुचित प्रदेश किया इसमें ऊँच-नीच की भावना ने। समाज में आज यह रोग इतना फैला है कि शूद्र से वैश्य, वैश्य के क्षत्रिय और क्षत्रिय से ब्राह्मण अपने को ऊँचा मानने की होड़ लगाये बैठा है और इसी तरह शूद्रों में ही नहीं, अछूत हरिजन कही जाने वाली जातियों में भी एक जाति से दूसरी जाति को हीन मानने वाली दुर्भावना विद्यमान है। आज का साधु-समाज भी अब इस भावना से मुक्त नहीं है।

इस विषम आचरण के बावजूद भारत में इस्लाम के प्रवेश से पूर्व समाज को कोई विशेष खतरा नहीं था, किन्तु इसके बाद भारतीय समाज-व्यवस्था चरमरा उठी। भारतीय समाज-व्यवस्था का पिछले एक हजार वर्ष का इतिहास आत्मसमर्पण का रहा है। प्राचीन काल में अपनी शरण में आये यहूदी, ईसाई अथवा पारसीक धर्मों के अनुयायियों के अथवा अभी हाल ही में आये तिब्बती बौद्धों के धार्मिक अथवा सामाजिक जीवन में हमने कोई हस्तक्षेप नहीं किया, किन्तु अपनी यह विशेषता अन्य धर्मावलंबियों के गले उतार पाने में हम आज भी असमर्थ हैं। पहले इस्लाम के, बाद में ईसाइयों के और अब नव-बौद्धों के द्वारा भी अपनी समाज-व्यवस्था और धर्म में किये जा रहे हस्तक्षेप को हम अपनी ही कमजोरी के कारण रोक नहीं पा रहे हैं। आज सनातन धर्म में प्रवेश के सभी मार्ग बन्द हैं और निकलने के अथवा निकाल ले जाने के सभी दरवाजे खुले हुए हैं। क्या यह निष्क्रमण की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहेगी?

भारत आज बहुधर्मी राष्ट्र है। जब बौद्ध, जैन और सिक्ख धर्म के अनुयायी इसी धरती की उपज होते हुए भी सनातन धर्म के साथ बेगानापन का अनुभव करते हैं, तो बाहर से आये पारसी, मुसलमान और ईसाई कैसे इसको अपना सकेंगे? राष्ट्र को सबल बनाने के लिए इनमें एक राष्ट्रीयता की भावना आवश्यक है। पारसियों ने इस राष्ट्र के साथ अपना शत-प्रतिशत तादात्म्य स्थापित कर लिया है। धर्म-परिवर्तन यदि सोच-समझकर किया जाता है, दलित एवं जन-जातियों की सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओं का इससे समाधान हो जाता है और राष्ट्र की एकता में यह बाधक नहीं बनता, तो हो सकता है कि उसे उदारचेता भारतीय बुद्धिजीवियों का समर्थन प्राप्त हो जाय, किन्तु घृणा, द्वेष, वर्गवाद और सनातन धर्म की कल्पित बुराइयों को उभाड़कर किया जाता है, तो यह अवश्य ही राष्ट्र-विघातक कार्य होगा।

मुसलमान धर्म-प्रचारक हों या ईसाई अथवा बौद्ध—सभी हिन्दू धर्म की कुछ त्रुटियों को बढ़ा-चढ़ाकर निरीह जनता के सामने रखते हैं और धर्म-परिवर्तन को उनके सभी दुःख-दर्दों की एकमात्र दवा बताते हैं। द्वेष, घृणा, संकीर्णता और असहिष्णुता से भरे इस धर्म-परिवर्तन के बाद उनकी क्या दशा होती है? गरीब मुसलमानों अथवा नव-बौद्धों की भी धर्म-परिवर्तन से आर्थिक ही नहीं, सामाजिक दशा में भी कोई उल्लेखनीय सुधार नहीं हुआ है और न होने ही वाला है। जोर-जबरदस्ती अथवा छल-छद्म से धर्म-परिवर्तन की प्रवृत्ति बौद्ध धर्म में नहीं थी। अब बाह्य प्रभाव से यह प्रवृत्ति उसमें भी पनप रही है। काका कालेलकर का कथन (पृ० १०) प्राचीन बौद्ध भिक्षुओं पर तो नहीं, किन्तु इन नव-बौद्धों पर पूरी तरह से लागू होता है।

आज भारत का नव-बौद्ध मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम के चरित्र की ही भाँति गाँधीवाद से भी चिढ़ता है। उनकी दृष्टि में आज के युग के लिए बौद्ध धर्म और

मार्क्सवाद—ये ही दो आर्यसत्य हैं। आज का सनातनी समाज मनुस्मृति से नहीं, डॉ० अम्बेडकर के बनाए हिन्दू-कोड से संचालित है। यह जानते हुए भी बौद्ध भिक्षु सभा-मंच से मनुस्मृति का भूत खड़ा करने से बाज नहीं आते।

इस बहुधर्मी राष्ट्र की सामाजिक समस्याओं का समाधान धर्म से नहीं, संस्कृति के माध्यम से होना चाहिए, जिसमें सभी धर्मों की अच्छाइयाँ विद्यमान हों और किसी भी धर्म की बुराई प्रवेश न कर सके। इसके लिए आवश्यक है कि यहाँ वैदिक और औपनिषद आध्यात्मिक मूल्यों तथा गार्हस्थ्य धर्म की पुनः प्रतिष्ठा तो हो, किन्तु वर्णाश्रम धर्म की ऊँच-नीच की भावना को तिलांजलि दी जाय। बौद्ध और जैन धर्म की अहिंसा, करुणा, प्रज्ञा और दु:खी जीवों की सहायता करने की सामाजिक भावना का समावेश तो हो, किन्तु अल्प वय में भिक्षु, मुनि या संन्यासी बनने-बनाने की प्रवृत्ति पर अंकुश लगाया जाय, जिसके कारण न केवल बौद्ध धर्म, किन्तु परवर्ती सनातनी और ईसाई धर्म में भी रहस्यवादी प्रवृत्तियों ने जन्म लिया। इस अस्वाभाविक प्रव्रज्या से इस्लाम ने अपने को बचाकर बड़ी बुद्धिमानी का परिचय दिया है। साथ ही उसका भ्रातृभाव तथा समतादृष्टि का संदेश भी सभी धर्मों के लिए अनुकरणीय है, यदि इसमें से संकीर्णता और अन्य धर्मों के प्रति असहिष्णुता को हटा दिया जाय।

ईसाई मिशनरियों की सेवाभावना कभी बौद्ध भिक्षुओं में भी विद्यमान थी, किन्तु आज के सनातनी मठाधीश, महन्त, धर्मगुरु और भिक्षुगण स्वयं समाज की सेवा न कर, समाज से अपनी ही सेवा लेते हैं। आज पूरे भारत में दुर्गम स्थलों पर भी केवल ईसाई मिशनरियाँ ही अपनी सेवाभावना के सहारे टिकी हुई हैं, यद्यपि इसकी अन्तिम परिणति धर्म-परिवर्तन में होती है। भारतीय साधु-समाज को जब तक समाज तिरस्कृत नहीं कर देता, उससे पहिले ही उसमें नि:स्वार्थ सेवाभावना जगनी चाहिए। धर्मान्तरण की गति तभी रुक सकेगी।

सनातनी समाज की दुर्दशा का कारण इसमें विद्यमान अगणित जातियों और उपजातियों को बताया जाता है और कहा जाता है कि बिना इनको तोड़े इस समाज का सुधार नहीं हो सकता। यह रोग का एक गलत निदान है। सनातनी समाज की असली बीमारी है—ऊँच-नीच की भावना और उसके आधार पर पनपा छुआछूत का व्यवहार। गीता का समत्व का उपदेश जब तक केवल पोथी की शोभा बढ़ावेगा, तब तक सनातनी समाज से निष्क्रमण की प्रक्रिया कभी बन्द नहीं होगी। हमें आशा और विश्वास है कि एक न एक दिन निष्क्रमण की यह प्रक्रिया अवश्य रुकेगी। सनातनी समाज ने परतन्त्रता काल के एक हजार वर्षों की विपरीत परिस्थितियों का दृढ़ता के साथ सामना किया है और समय के साथ समझौता करते समय उसने अपने मूल सिद्धान्तों को कभी छोड़ा नहीं है। देश अब स्वतन्त्र हो चुका है। हमें आशा है कि

धर्म-परिवर्तन की इन चुनौतियों का सामना करने का सामर्थ्य अब उसमें अवश्य उद्‌बुद्ध होगा और देश का सामाजिक वातावरण इस तरह का बनेगा कि उसमें धर्म-परिवर्तन की किसी को कोई आवश्यकता ही प्रतीत न हो।

बौद्धों द्वारा किये जा रहे धर्म-परिवर्तन के पीछे दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ कार्य करती नजर आती हैं। पहली प्रवृत्ति का कहना है कि विष्णु के चौबीस ही नहीं, दस अवतारों में भी भगवान् बुद्ध परिगणित हैं। इसलिए बुद्ध की शरण में जाना धर्म-परिवर्तन नहीं, अपितु उसी प्रकार का एक धार्मिक कृत्य है, जैसा कि शैव अथवा वैष्णव दीक्षा ग्रहण करते समय किया जाता है। इसके विपरीत दूसरी प्रवृत्ति इसको शुद्ध धर्म-परिवर्तन मानती है और यही प्रवृत्ति नवदीक्षित बौद्धों से यह प्रतिज्ञा कराती है कि अब हम राम और कृष्ण, विष्णु और शिव को अपना देवता नहीं मानेंगे। ढाई हजार वर्ष पहले का बौद्धों के द्वारा खड़ा किया गया ब्राह्मणवाद का भूत आज भी उसका पीछा नहीं छोड़ रहा है। औपनिषद ज्ञान, शैव और वैष्णव आचार्यों के आन्दोलन, सिद्ध-नाथ और सन्तों के अमृतमय उपदेश इनको आकृष्ट नहीं कर पाते। इनकी दृष्टि से मात्र बौद्ध धर्म ही भारतीय संस्कृति है। इसके अतिरिक्त सब कुछ बकवास है, तुच्छ है, हेय है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद धर्मचक्र, अशोक स्तंभ, पंचशील—सब कुछ बौद्ध संस्कृति से ही तो लिये गये हैं। इस देश की जनता जानती है कि चीन के द्वारा तिब्बत की सहधर्मी प्रजा के क्रूर दमन के साथ ही इस नाटक पर दुःखान्त पटाक्षेप हो चुका है। चीन का आक्रमण हो या पाकिस्तान का, चीन की धमकी हो या अमेरिका की, भारत की परेशानी हो या बंगलादेश की—सभी अवसरों पर धर्मचक्र और पंचशील की छत्रछाया में पल रहे समस्त बौद्ध देशों की प्रज्ञा और करुणा की परीक्षा हो चुकी है।

महर्षि पतंजलि ने योगसूत्र में पाँच प्रकार की चित्तवृत्तियों का वर्णन किया है। उनमें से एक है विकल्प। विकल्प वह वृत्ति है, जिसमें वस्तु का अस्तित्व न रहने पर भी शब्दों के द्वारा उसकी काल्पनिक सत्ता का महल खड़ा कर दिया जाता है। वर्तमान युग में इस वृत्ति का बड़ा प्राबल्य है। प्रायः सभी राजनीतिक दल इसीका सहारा लेते हैं। वे विपक्षी दलों के किए-कराये सभी कार्यों को शब्दजाल से झुटला देते हैं और अपने दल के कार्यों का शाब्दिक महल खड़ा करते रहते हैं। बौद्ध दीक्षा के प्रसंग में भी इस विकल्प वृत्ति का अद्‌भुत व्यापार देखने को मिला, जब इसके आयोजक कहने लगे—"राजा राममोहन राय से लेकर महात्मा गाँधी तक का सामाजिक समता, न्याय और सम्मान का सुधारवादी आन्दोलन इस देश में पूर्णतः विफल हो चुका है। इतना ही नहीं, भारतीय संविधान भी इस प्रसंग में अकर्मण्य सिद्ध हुआ है। ऐसी स्थिति में सामाजिक घुटन से ऊबकर दलित और पीड़ित बहुसंख्यक जनता ने भारतीय संस्कृति

की उदात्त भावनाओं से परिपूर्ण बौद्ध धर्म को स्वीकार करने का निर्णय ले लिया है''। विकल्प का इससे अच्छा उदाहरण दूसरा कहाँ मिलेगा? सभी जानते हैं कि राजा राममोहन राय से लेकर महात्मा गाँधी तक के सामाजिक समता के सुधारवादी आन्दोलन व्यर्थ नहीं गये हैं। इन्हींके कारण आज नगरों में यह विषमता लगभग समाप्त हो रही है और भारतीय संविधान देहातों से भी इस विषम स्थिति का अन्त करने में लगा है। हम यह भी जानते हैं कि जनता ने अपनी ओर से कोई निर्णय नहीं लिया है, किन्तु उसके अज्ञान और दरिद्रता का नाजायज फायदा उठाकर उनको भरमाया गया है।

वस्तुतः दलित जातियों की मूल समस्या अशिक्षा और विपन्नता की है। जब दलित जातियों में भी शिक्षा का पर्याप्त प्रसार होगा, उनके लिए रोजगार के सभी दरवाजे खोल दिये जायेंगे, तो स्वभावतः नवीन सभ्यता का जन्म होगा और तभी वस्तुतः इनकी समस्याओं का समाधान हो सकेगा। कोरे धर्म-परिवर्तन से इनमें परस्पर घृणा और द्वेष का ही प्रसार होगा। मूल समस्या के समाधान में, अशिक्षा और विपन्नता को दूर करने में संभव है, इससे बाधा ही पड़े और विलम्ब भी हो।

कहा जाता है कि भारत में बुद्धदेव को भुला दिया गया है, बौद्ध तत्त्वज्ञान को यहाँ से देश निकाला मिल चुका है। यह उक्ति भी मात्र विकल्प का व्यापार ही है। प्रत्येक सनातनी परिवार नित्य, नैमित्तिक अथवा काम्य कर्म का आरम्भ करते समय अपने संकल्प-वाक्य में प्रतिदिन बुद्धदेव का स्मरण करता है। स्वर्गीय म०म० पं० विधुशेखर भट्टाचार्य ने अपने ग्रन्थों में यह सप्रमाण सिद्ध किया है कि गौडपाद की माण्डूक्यकारिका एवं भगवत्पाद शंकराचार्य के ग्रन्थों में बौद्ध शून्यवाद ने ब्रह्मवाद का नया कलेवर धारण किया है। यह छिपा नहीं है कि योगवासिष्ठ और कश्मीर के शैवदर्शन में विज्ञानवादी बौद्ध दर्शन ने नया स्वरूप लिया है। भारत से बौद्ध धर्म की संकीर्णता और हठवादिता ही निकाली गई थी, उसका तत्त्वज्ञान नहीं। उसका प्रभाव तो विष्णुपुराण पर भी हमें देखने को मिलता है।

उपनिषत्, सांख्य, योग, पांचरात्र, पाशुपत और प्राचीन आजीवक तत्त्वज्ञान की उर्वरा भूमि में ही बौद्ध तत्त्वज्ञान का विकास हुआ था और परवर्ती शैव, वैष्णव, नाथ, सिद्ध और सन्तों का साहित्य भी इन सभी धाराओं से आप्यायित रहा है, केवल बौद्ध धारा से नहीं। यूरोपीय विद्वानों के द्वारा नये सिरे से भारतीय विद्या का अनुसन्धान प्रस्तुत करने के साथ यहाँ बौद्ध तत्त्वज्ञान का अध्ययन सांस्कृतिक आधार पर पुनः प्रतिष्ठित हुआ। आचार्य नरेन्द्रदेव इस शृंखला की मजबूत कड़ी थे।

वैदिक कर्मकाण्ड की दलदल से निकला बुद्धिवादी तत्त्वज्ञान वज्रयान के रहस्यवाद में डूब नहीं जायगा। भारत में पिछले एक हजार वर्ष का धर्म-परिवर्तन का इतिहास भय, छल-छद्म और प्रलोभनों से भरा है। भावात्मक एकता और अखण्ड

भारतीय संस्कृति का निर्माण एवं रक्षा केवल बुद्ध की शरण में जाने से नहीं, अपितु गीता के वचन के अनुसार सांस्कृतिक आधार पर समस्त विभूतियों को भगवान् का स्वरूप मानकर राम-कृष्ण, शिव-विष्णु, बुद्ध-महावीर, ईसामसीह, मुहम्मद एवं सन्तों, गुरुओं, सूफियों—इन सबकी शरण में जाने से होगा। स्वतंत्र भारत में धर्म-परिवर्तन की घटना कथाशेष रह जानी चाहिए और भारत में बस रही पूरी जनता का इस देश के पूरे इतिहास के साथ तादात्म्यबोध जाग्रत् होना चाहिए।

हमें यह मान लेना पड़ेगा कि वर्णाश्रम-व्यवस्था में कुछ खामियाँ थीं। इनका विरोध पहिले भी हुआ था और अब भी हो रहा है। इस निरन्तर गतिशील विरोध के कारण आश्रम-व्यवस्था तो छिन्न-भिन्न हो ही गई, वर्णाश्रम-व्यवस्था का शास्त्रीय पक्ष भी व्यवहार से कोसों दूर चला गया। आज सनातन धर्म का स्वरूप नानाविध भ्रान्तियों के बीच अधर में लटका हुआ है। कुछ भ्रान्तियों को तो हमने स्वयं पाल रखा है और दूसरे प्रकार की भ्रान्तियाँ आज के वैज्ञानिक युग की देन हैं।

सनातन धर्म की एक लंबी परम्परा है। संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् क्रमशः ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम के नियामक ग्रन्थ रहे हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों में प्रतिपादित हिंसाप्रधान यज्ञीय कर्मकाण्ड की बुद्ध और महावीर ने ही समालोचना नहीं की, उपनिषदों ने भी उनको कमजोर नाव बताया है और कहा है कि अकृत (नित्य) मोक्ष की प्राप्ति कृत (कर्मकाण्ड) से नहीं हो सकती। ब्राह्मण वर्ण का वर्चस्व भी कभी का समाप्त हो चुका है। बौद्ध, जैन, वैष्णव, शैव और तान्त्रिक धर्मों ने क्रमशः क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ग को भी ऊपर उठाने का पूरा प्रयत्न किया। रामायण, महाभारत और पुराणों ने भी इस ओर कदम उठाया। तन्त्रशास्त्र ने चाण्डाल को भी मोक्ष का अधिकारी माना। इस पूरी प्रक्रिया के विकास में विद्वान् तपस्वी ब्राह्मण सदा सबसे आगे रहा है। इस बात को देखते हुए भी हम नहीं देख पा रहे हैं। यह हमारी सबसे बड़ी भ्रान्ति है और इसीके कारण आज हमने भारत की सारी विपत्तियों की जड़ ब्राह्मण जाति को मान लिया है।

आचार्य शंकर पर अनेक प्रकार के आक्षेप किये जाते हैं, किन्तु उनका एक दूसरा भी स्वरूप है कि उन्होंने प्रपंचसार के माध्यम से स्मार्त धर्म की प्रतिष्ठा की। भगवद्गीता के बाद समन्वय का यह दूसरा प्रयास था। प्रपंचसार में वैष्णव, शैव, शाक्त, सौर और गाणपत्य मतों में परस्पर समन्वय के आधार पर स्मार्त पंचायतन पूजा का विधान बताया गया है। यह स्मार्त पूजापद्धति ही आज के सनातन धर्म का प्रमुख आधार है। वैष्णवों ने और शैवों ने अपनी अलग पहिचान अवश्य बनाये रखी। ब्रह्मसूत्र के भाष्यकार आचार्य शंकर इनको अवैदिक मानते हैं और ये आचार्य शंकर को प्रच्छन्न बौद्ध कहते हैं। ये दोनों ही आक्षेप आंशिक सत्य से दूर नहीं है।

आचार्य शंकर के आक्षेप से बचने के लिए वैष्णव आचार्यों ने धीरे-धीरे वैष्णव आगमों से अपना नाता तोड़कर वैदिक वर्णाश्रम व्यवस्था से अपने को संबद्ध कर लिया। शंकराचार्य प्रच्छन्न बौद्ध हैं या नहीं? इस पर शताब्दियों से विचार चल रहा है, किन्तु मठीय संस्कृति स्पष्टतः बौद्ध धर्म की देन है। प्राचीन भारत में गृहस्थ ऋषि को सर्वाधिक प्रतिष्ठा प्राप्त थी, किन्तु बाद में स्थिति बदल गई। गृहस्थ ऋषि का स्थान भिक्षु, मुनि और संन्यासी ने ले लिया। ऋषि गृहस्थ रहते हुए भी सभी एषणाओं से मुक्त था, किन्तु भिक्षुओं, मुनियों और संन्यासियों के इर्द-गिर्द मठों और मन्दिरों के रूप में सभी एषणाओं का एक रहस्यात्मक ताना-बाना बुना जाने लगा और इसी पृष्ठभूमि में रहस्यात्मक शास्त्रों का भी आविर्भाव हो गया। आचार्य शंकर ने भारतवर्ष से बौद्ध धर्म को बाहर कर दिया, यह भी हमारी निरी भ्रान्ति है। अपनी सभी अच्छाइयों और बुराइयों के साथ वह हमारे बीच आज भी विद्यमान है। आज भारतीय समाज का अगुआ ब्राह्मण नहीं, ये मठाधीश और धर्माचार्य हैं।

वैष्णव आचार्यों ने वैदिक वर्णाश्रम व्यवस्था को वरीयता देने का प्रयास किया, किन्तु वैष्णव आलवारों, सन्तों, सिद्धों और नाथों ने लौकिक भाषाओं के माध्यम से तथा स्मार्त धर्म के प्रतिष्ठापक आचार्यों और निबन्धकारों ने संस्कृत भाषा के माध्यम से उक्त सभी शास्त्रों की प्रामाणिकता को अक्षुण्ण बनाये रखा। श्रीमद्भागवत में जैन तीर्थंकर ऋषभदेव और भगवान् बुद्ध की भी २४ अवतारों में गणना की गई है। प्राचीन वैष्णव संहिताओं में शान्तात्मा लोकनाथ के रूप में तथा इतिहास-पुराण साहित्य में दशम अवतार के रूप में भगवान् बुद्ध को मान्यता मिली हुई है। संकल्प-वाक्य की अभी हम ऊपर चर्चा कर चुके हैं। तन्त्रशास्त्र में और वायुपुराण में षड्दर्शन के अन्तर्गत बौद्ध और जैन दर्शन का समावेश है। इस पूरे वाङ्मय में वर्ण, आश्रम और लिंग को नहीं, आचरण की शुद्धता को वरीयता दी गई है। इस पूरी परम्परा के साथ हम सन्त कबीर और महात्मा गाँधी को नहीं जोड़ पाये हैं। कबीर की उलटवांसियों और गाँधी के सर्वधर्म-समभाव को हम उनकी अपनी सोच मान लेते हैं। इसीलिए परम्परावादी इनके साथ आज भी अपने को जोड नहीं पाये हैं। वस्तुतः योग और तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थों में, समन्वयवादी भारतीय परम्परा में तथा *"वैष्णव जन"* के गायक नरसी मेहता जैसे सन्तों की वाणी में कबीर[५] और गाँधी की सारी मान्यताएँ मुखरित हुई मिलती हैं।

धर्मशास्त्रों के कलिवर्ज्य प्रकरण में अनेक वैदिक मान्यताएँ स्थगित कर दी गई हैं। ऐसे स्थलों पर श्रुति की अपेक्षा स्मृति का ही प्रामाण्य प्रबल माना गया है। महर्षि यास्क के निरुक्त में वर्णित है कि ऋषि-परम्परा को समाप्त होती देख मनुष्य देवताओं

५. आगे 'सन्त कबीर के प्रेरक तत्त्व' (पृ० १४१-१४३) में इस विषय की परीक्षा की गई है।

के पास पहुँचे और उनसे पूछा कि ऋषियों के अभाव में अब हमारा क्या होगा? देवताओं ने उनको तर्क-शक्ति दी। शाक्त तान्त्रिक तर्क को योग के षडंगों में श्रेष्ठ मानते हैं। शास्त्र-समर्थित तर्क को धर्मशास्त्रों में भी मान्यता मिली है। देवताओं की दी गई इस तर्क-शक्ति के सहारे हम श्रुति, स्मृति, दर्शन, धर्मशास्त्र, पुराण, आगम और तन्त्रशास्त्र का आलोडन कर सनातन धर्म की समयानुकूल नूतन व्याख्या प्रस्तुत कर सकते हैं, सामाजिक अस्पृश्यता जैसी उन बुराइयों को दूर कर सकते हैं, जिनके कारण धर्म-परिवर्तन की प्रक्रिया यहाँ निर्बाध चल रही है। इसके लिए हमें मीमांसा की पद्धति को नहीं, व्याकरण की *"यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्"* की पद्धति को स्वीकार करना होगा।

परम पुरुषार्थ मोक्ष की तरफ मुड़ने पर ही हमें उपनिषत्, भगवद्गीता और तान्त्रिक दर्शन की समतादृष्टि प्राप्त हो सकती है। इसके लिए हमें समस्त मानव जाति को मोक्ष का अधिकारी मानना होगा। जब तक भारतीय समाज में समता-दृष्टि का विकास नहीं होता, प्रत्येक मनुष्य को जब तक मोक्ष का अधिकारी नहीं माना जाता, तब तक सनातन धर्म वर्ग-संघर्ष पर आधारित द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से अथवा इतर धर्मों के आक्रमण से अपने को बचा नहीं सकेगा।

तान्त्रिक भोगवाद की मृगतृष्णा में पड़ा आज का भारतीय राजनीतिज्ञ ही नहीं, प्रबुद्ध वर्ग भी तान्त्रिक बाबाओं और माताओं के इर्द-गिर्द चक्कर काटता दिखाई पड़ता है। दलित मानसिकता को ऊपर उठाने के लिए जिस शास्त्र का आविर्भाव हुआ था, आज ऊँची मानसिकता वाला भारतीय प्रबुद्ध वर्ग उसी हीन-ग्रन्थि से ग्रस्त है, तो भी वह अपनी अहंमन्यता को छोड़ नहीं पा रहा है। आज हम वैदिक और तान्त्रिक दोनों धर्मों की अच्छाइयों को भुला बैठे हैं और कालक्रम से उनमें प्रविष्ट बुराइयों से चिपके हुए हैं।

कबीर और रविदास जैसे सन्त-महात्मा जिस समाज का प्रतिनिधित्व करते हैं, अनेक सिद्धों, सन्तों, नाथों और गुरुओं ने जिसमें जन्म लिया है और सनातन धर्म को विश्वजनीन बनाने में जिसका सराहनीय सहयोग रहा है, वह समाज आज धर्म-परिवर्तन के चंगुल में कैसे फँसा हुआ है? आज की राजनीति नाना प्रकार के संरक्षणों का प्रलोभन देकर दलितों को आगे बढ़ाना चाहती है। यह तो ठीक है, किन्तु बिना पूरी योग्यता अर्जित किये पद-प्राप्ति की लालसा कुछ नई समस्याओं को पैदा करेगी। काश! पूरा सनातनी समाज अब तक पाल रखे नाना प्रकार के इन भ्रमजालों से अपने को बाहर निकाल पाता और धर्म-परिवर्तन की गति को भगवान् बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट धर्मचक्र-प्रवर्तन में बदल देता! बहुजन हिताय नहीं, सर्वमानव मंगलाय। समन्वयवादी सनातन धर्म अब भी इसको करने में समर्थ है।

विश्व साहित्य में बाइबिल के बाद भगवद्गीता के विश्व की सर्वाधिक भाषाओं में अनुवाद बिना किसी धार्मिक जुनून के उसकी गुणवत्ता के आधार पर हुए हैं। भगवद्गीता का कहना है कि भले ही अपने धर्म में कुछ कमी दिखाई पड़े, बिना किसी संकोच के मनुष्य को उसीका आचरण करना चाहिए। अपने धर्म के लिए मर मिटना ठीक है, किन्तु अन्य धर्म का अनुसरण कभी निरापद नहीं माना जा सकता। इस वचन के विपरीत देश का अधिकांश भाग धर्म-परिवर्तन की चपेट में आ चुका है। धर्म-निरपेक्ष राज्य में धर्म-परिवर्तन की अनुमति हो, यह भी भारतीय संविधान की अनोखी देन ही मानी जायगी।

भारतवर्ष में दो तरह की दृष्टियाँ बहुत पहले से चली आ रही हैं—एक तरफ वशिष्ठ-विश्वामित्र की और दूसरी तरफ सत्यकाम-जाबाल से लेकर सत्याग्रही महात्मा गाँधी तक की। पहली दृष्टि को हम धर्म से और दूसरी को संस्कृति से जोड़ सकते हैं। इनमें कभी धार्मिक दृष्टि प्रबल हो जाती है, तो कभी सांस्कृतिक। शान्ति काल में सांस्कृतिक और आपत्काल में धार्मिक दृष्टि का प्रबल हो उठना स्वाभाविक है। हम कह सकते हैं कि विगत एक हजार वर्षों में धार्मिक दृष्टि प्रबल थी और यह ठीक भी था, क्योंकि इसी धार्मिक कट्टरता ने तथा अपनी भाषा और शास्त्रों के प्रति अगाध अनुराग ने इस देश को मिटने से बचा लिया। अब देश स्वतन्त्र हो गया है। उसी दृष्टि का अनुवर्तन देश के लिए अधिक उपयोगी नहीं रह गया है। अब सांस्कृतिक दृष्टि के प्रवर्तन की अपेक्षा है।

धर्म-परिवर्तन एक अशुभ कार्य है। अन्य धर्मों के प्रति घृणा की भावना इसमें से झलकती है। महात्मा गाँधी के सर्वधर्म-समभाव के विपरीत इससे अन्य धर्मों की हेयता प्रकट होती है। स्वामी विवेकानन्द रोमन जाति के अत्याचारों से पीड़ित यहूदियों की और इस्लाम के आक्रमण से पीड़ित पारसी जाति की भारत में शरण लेने की चर्चा करते हैं और सारे संसार को चुनौती देते हैं कि वह समग्र संस्कृत दर्शनशास्त्र में एक भी ऐसी उक्ति दिखा दे, जिसमें यह बताया गया हो कि हिन्दुओं का ही उद्धार होगा, दूसरों का नहीं। दुनिया की सारी असहिष्णु संस्कृतियाँ मिलकर सबको शरण देने वाले इस देश में आकर इस पवित्र भारतीय संस्कृति पर चारों तरफ से आक्रमण कर रही हैं। पूरे साहस और दृढ़ता के साथ निर्भय होकर हमें इस दुष्प्रचार का सामना करना होगा।

असत्य का, छल-छद्म का सहारा लेकर अथवा जोर-जबर्दस्ती से धर्म-परिवर्तन कराया जा रहा है, इस विषय में प्रायः सभी प्रबुद्ध भारतीय चिन्तक एकमत हैं। भारतीय धर्मशास्त्रों में वैदिक एवं तान्त्रिक द्विविध श्रुतियों को मान्यता दी गई है। तान्त्रिक श्रुति में मानवमात्र को मोक्ष का भी अधिकारी माना गया है। इस शास्त्र से अनुप्राणित पूरे भारतवर्ष के भाषा-साहित्य में— *"जात पात पूछे नहि कोई, हरि को भजे*

सो हरि का होई'' जैसे उपदेशों की गूँज सुनाई पड़ती है। जात-पात को तोड़ने की अपेक्षा इसके भीतर घुसी ऊँच-नीच की दृष्टि का परिष्कार करने की आज आवश्यकता है। सन्त साहित्य में चरित्र को वरीयता दी गई है। उसीको आज सर्वोच्च मान्यता मिलनी चाहिए। तभी धर्म-परिवर्तन की गति थमेगी। आक्रमण और हिंसा इसके प्रतीकार के उपाय नहीं हैं। हाँ, यह अवश्य समझ लेना चाहिए कि धर्म-परिवर्तन की प्रक्रिया समग्र भारतीय संस्कृति के लिए विष-बीज के समान है। काश! सर्वत्र सभी मानवों के मंगल की कामना बिना किसी धार्मिक भेदभाव के जग सकती?

आजकल के बुद्धिवादी इसके उपाय के रूप में धर्म-निरपेक्षता को प्रस्तुत करते हैं। लगे हाथ इस पर भी विचार कर लेना जरूरी है।

●

धर्म-निरपेक्षता (सेक्युलरिज्म)

धर्म-परिवर्तन की तरह धर्म-निरपेक्षता शब्द भी भारतीय संस्कारों के अनुकूल नहीं है। धर्म-परिवर्तन से जैसे हमारे परम्परागत आचार-व्यवहार के प्रति हीनभावना जगाई जाती है, इसी तरह धर्म-निरपेक्षता भारतीय भावनाओं को निस्तेज बनाती है। पेट्रो-अमेरिकन डालर द्वारा संचालित प्रचार-माध्यम धर्म-परिवर्तन के प्रति सचेत हैं, उसी तरह द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद धर्म-निरपेक्षता के प्रति सजग है। धर्म-निरपेक्षता के वशीभूत व्यक्ति भारतीय संस्कृति को समझ ही नहीं सकता।

दसवीं सदी के बाद भारतीय चिन्तन की मौलिकता तो समाप्त होती ही चली गई, हमारे अनुवाद में भी कितना भौंड़ापन आ गया, इसका उत्कृष्ट उदाहरण यह धर्म-निरपेक्षता शब्द है। *'सेक्युलर स्टेट'* शब्द का अनुवाद जिन्होंने *'धर्मनिरपेक्ष राज्य'* किया, लगता है धर्म शब्द की भारतीय आत्मा को पहचान ने की उनकी शक्ति को पाश्चात्य प्रभाव ने कुंठित कर दिया था। धर्म और संप्रदाय ये दोनों शब्द भारतीय सांस्कृतिक परम्परा के अत्यन्त पवित्र शब्द हैं, इनको देश और काल के प्रभाव से अछूता रख 'सेक्युलर' शब्द के अनुवाद के रूप में नये शब्द की खोज होनी चाहिए।

भारतीय संस्कृति में शब्द की अपार महिमा गाई गई है। भूः, भुवः, स्वः शब्दों से ही पृथिवी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग की सृष्टि हुई, ऐसी मान्यता उपनिषदों की है। हमारे कम्युनिस्ट भाई तो यह भी नहीं जानते होंगे कि यह उपनिषद् क्या बला है? इसके विपरीत पूरा चिन्तनशील विश्व आज भी यह मानता है कि उपनिषदों का आध्यात्मिक ज्ञान मानवीय उत्कृष्टतम विचारों का अद्‌भुत खजाना है। करुणा रस को उच्चतम कोटि में पहुँचा देने वाले महाकवि भवभूति का इस प्रसंग में कहना है कि सामान्य मनुष्य की वाणी तो अर्थ (वस्तु) का अनुसरण करती है, किन्तु वही अर्थ ऋषियों-मुनियों की

वाणी का अनुगमन करता है, अर्थात् जैसा ये लोग कहते हैं, वैसा ही बाद में घटित हो जाता है। शब्द की इस महिमा के प्रसंग में आजकल के इस धर्म-निरपेक्ष शब्द को हम उदाहरण के रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं।

न मालूम किस अशुभ घड़ी में 'सेक्युलर' शब्द का यह असांस्कृतिक अनुवाद किया गया, जिसने भारतीय संस्कृति की जड़ों में मट्ठा पिलाना शुरू कर दिया। चार वर्ण, चार आश्रम और चार पुरुषार्थों की व्याख्या केवल भारतीय प्रजा के लिए ही नहीं, पूरे विश्व में सुख और शान्ति की स्थापना के लिए भी उपयोगी है, इस बात को पूरे आत्मविश्वास और निर्भीकता के साथ प्रचारित किया जाना था, किन्तु एक हजार वर्ष की परतन्त्रता और बाह्य संस्कृतियों की भौतिक चकाचौंध के कारण भारतीय राजनीतिज्ञों में हीनभावना पूरी तरह से पैठ चुकी है और चार पुरुषार्थों में से प्रथम धर्म को ही देश से निकाल बाहर करने में इन्होंने अपनी पूरी ताकत लगा दी है। साथ ही देश को अर्थ की अन्धी दौड़ में फँसा दिया है।

धर्म शब्द भारतीय धर्मशास्त्रों के अनुसार आधुनिक सारे नैतिक गुणों का एक पूँजीभूत स्वरूप है। इस प्रकार *'धर्म-निरपेक्ष'* का अर्थ होता है—नैतिकता-विहीन समाज, अर्थ का दास समाज। यह धर्म-निरपेक्ष शब्द का ही प्रभाव है कि इस शब्द की दुहाई देने वाले राजनीतिज्ञ आज नैतिकता-विहीन होते चले जा रहे हैं। राष्ट्र की इनको चिन्ता नहीं है। सत्ता में आने के साथ इनको यह चिन्ता सताने लगती है कि यह कुर्सी हमारे ही पास किस तरह से बनी रहे। इस राष्ट्र की समस्याओं का तब तक कोई समाधान नहीं हो सकता, जब तक इसको एक संस्कृति और एक भाषा के ठोस धरातल पर खड़ा नहीं किया जाता। क्या धर्म-निरपेक्ष शासन यह कार्य कर सकता है?

इस देश का जब तक इस शब्द से पिण्ड नहीं छूटेगा, तब तक एक संस्कृति की बात करना बेकार है। यह प्रसन्नता की बात है कि अहिन्दीभाषी क्षेत्रों में यह शब्द प्रयुक्त नहीं होता। वहाँ 'सेक्युलर' शब्द का अनुवाद *बिन संप्रदाय* किया गया है। उत्तरभारत में भी इधर धर्म-निरपेक्ष शब्द के स्थान पर सम्प्रदाय-निरपेक्ष, पन्थ-निरपेक्ष जैसे शब्दों का व्यवहार होने लगा है। हम बता चुके हैं कि भारत में धर्म के समान संप्रदाय, पन्थ—ये सभी पवित्र शब्द हैं। यहाँ भी दो शब्द हैं और सेक्युलर एक। एक शब्द का अनुवाद दो शब्दों में किया जाय, इसे भारतीय भाषाओं की कमजोरी ही माना जायगा। यदि हमें भारत में एक संस्कृति की स्थापना करनी है, तो सबसे पहले हमें इस धर्म-निरपेक्ष शब्द से पूरे प्रचार तन्त्र को मुक्त करना होगा और 'सेक्युलर' शब्द का पर्यायवाची कोई एक नया शब्द तलाशना होगा।

हमारी समझ में जब तक हम सेक्युलर शब्द का सही अनुवाद नहीं खोज लेते, तब तक के लिए मूल अंग्रेजी शब्द से ही व्यवहार चलाना उचित होगा। टी०वी० के

माध्यम से जब हमें प्रतिदिन नये-नये अंग्रेजी शब्द परोसे जाते हैं और अब तो हिन्दी के दैनिक पत्र भी इसमें किसी से पीछे नहीं हैं, उस स्थिति में एक सेक्युलर शब्द से परहेज कर धर्म-निरपेक्षता जैसे दो शब्दों में उसका असांस्कृतिक अनुवाद करने की क्या आवश्यकता है?

जैसा कि अभी बताया गया है, 'सेक्युलर स्टेट' के पर्याय के रूप में भारत राष्ट्र को 'धर्मनिरपेक्ष राज्य' घोषित किया गया है। क्या भारतीय भाषाएँ इतनी कमजोर हो गई हैं कि एक सेक्युलर शब्द के लिए धर्म-निरपेक्ष जैसे दो शब्द गढ़े जाँय और ये शब्द भी ऐसे, जो भारतीय संस्कृति को ही पंगु बना दें। अंग्रेजी चश्मे से भारतीय संस्कृति को देखने वालों से हम इसके सिवाय आशा भी क्या रख सकते हैं? जहाँ तक अंग्रेजी के 'सेक्युलर स्टेट' शब्द की मूल मंशा है, उसका अभिप्राय यह है कि ऐसा राज्य, जो व्यक्ति या व्यक्तिसमूह के परलोक संबन्धी विचारों में किसी तरह का दखल दिये बिना केवल उसके वर्तमान जीवन की सुख-सुविधा की चिन्ता करे। इस अभिप्राय को व्यक्त करने में *लोकराज्य* शब्द अधिक सशक्त है।

चार्वाक दर्शन स्वर्ग, नरक, आत्मा, ईश्वर आदि की सत्ता नहीं मानता। वह प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य किसी प्रमाण को भी स्वीकार नहीं करता। आज भी न्यायालय में चश्मदीद गवाह को ही मान्यता प्राप्त है। न्यायाधीश अनुमान के सहारे कोई निर्णय नहीं कर सकता, आँखों के आगे कान भारी नहीं पड़ते। इस दर्शन की पृष्ठभूमि में *'लोकराज्य'* का अर्थ वही होगा, जो सेक्युलर स्टेट से निकलता है। यह लोकराज्य वास्तव में जनता का होगा, नेताओं का नहीं। आज तो धर्म-निरपेक्षता अल्पसंख्यकों तक ही सीमित है, बहुसंख्यकों के साथ तो वह निरन्तर छेड़छाड़ किया करती है। राष्ट्र के कल्याण के लिए यह आवश्यक है कि जितना जल्दी हो सके, हम इस शब्द से अपना पिण्ड छुड़ा ले और *'लोकराज्य'* में पूरी भारतीय प्रजा के ऐहलौकिक कल्याण के लिए बिना किसी भेदभाव के समान नियमावली बना लें।

भारतीय दर्शनों में सृष्टि की प्रक्रिया को समझाने के लिए विभिन्न दार्शनिकों ने परमाणुवाद, परिणामवाद और विवर्तवाद का सहारा लिया है। शुक्तिरजत, रज्जुसर्प जैसे उदाहरणों से विवर्तवाद को समझाया जाता है। आजकल का धर्मनिरपेक्षता शब्द भी इसका अच्छा उदाहरण है। विचार करने पर पता चलेगा कि यहाँ भी सब कुछ उलटा-पलटा है। व्यक्ति भ्रमवश सीप को जैसे चाँदी और रस्सी को साँप समझ लेता है, वैसे ही विभिन्न धर्मों के छलावे में पड़े आधुनिक राजनीतिज्ञों एवं बुद्धिजीवियों की कल्पना की उड़ान है यह—धर्मनिरपेक्षता। इसको आज एक गंभीर विषय बना दिया गया है और इसकी लपेट में भारतीय संस्कृति के स्वरूप को भी मेघाच्छन्न कर दिया गया है। ऐसा भ्रमजाल फैलाया गया है कि भारतीय जन आज किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया है।

धर्मनिरपेक्षता की परिधि में कम्युनिस्टों का आना तो जायज है ही, क्योंकि यह शब्द उन्हींकी उपज लगता है और वे धर्म को अफीम मानते हैं। नेहरू-संस्कृति के मानसपुत्रों का भी इसमें समावेश करना ही होगा। आश्चर्य तब होता है, जब इस देश का विभाजन करा देने वाली मानसिकता को भी धर्म-निरपेक्ष माना जाता है, धर्मान्तरण को मान्यता देने वाले भी इसकी परिधि में आते हैं। पूरे विश्व को मात्र अपने धर्म के बाड़े में बन्द कर देने को तत्पर धर्मप्रचारक भी आज धर्मनिरपेक्षता का बाना पहने हुए हैं। इससे बढ़कर विवर्त का दूसरा उदाहरण ढूंढ़ने पर भी कहाँ मिलेगा?

एकेश्वरवादी धर्मों की छत्रछाया में एकाधिकार की तानाशाही प्रवृत्ति के पनपने की भारी गुंजाइश रहती है, क्योंकि वह अपने सामने अन्य सबको हेय समझती है। उनकी यह संकीर्ण मनोवृत्ति उनको धर्मान्तरण के लिए प्रवृत्त करती है। यह भारत का आठवाँ आश्चर्य है कि धर्मान्तरण को मान्यता देने वाला समाज धर्म-निरपेक्ष है और जो इस दूषित दृष्टि से दूर है, उसको आज सांप्रदायिक आदि अनेक विशेषणों से लांछित किया जाता है, जो उसकी प्रकृति में है ही नहीं। आश्चर्य की बात यह भी है कि इन मिथ्या आरोपों के खिलाफ वे भी कुछ नहीं कहते, जिन पर ये लगाये जाते हैं। भारतीय संस्कृति के दूषक ये तथाकथित धर्मनिरपेक्षतावादी श्रेष्ठ मानवतावादी माने जाते हैं और सनातनी दृष्टि के वाहक दुनिया के सबसे निकृष्ट मानव।

क्या सनातन धर्म में यह सामर्थ्य है कि वह सर्वप्रथम धर्मान्तरण पर रोक लगा सके? सेक्युलरिज्म का मुखौटा लगाकर संकीर्ण एकेश्वरवादी अथवा अन्य किसी आधुनिक मतवाद को प्रच्छन्न या प्रत्यक्ष समर्थन देने वालों का पर्दाफाश कर सके? अपने ऊपर थोपे गये आधुनिक अर्थ में सांप्रदायिकता के मिथ्या आरोप का परिमार्जन कर पूरी भारतीय प्रजा में एकात्मता स्थापित कर सके? आज पूरी मानवता को यह बताने की आवश्यकता है कि इन तथाकथित धर्मनिरपेक्षों में समय-समय पर तानाशाही मनोवृत्ति क्यों जाग उठती है? ये पूरी भारतीय प्रजा को बाहर से उधार ली गई अपनी मनोवृत्ति में क्यों ढालना चाहते हैं? मानवता को धोखा देने के लिए अपनी इस दूषित मनोवृत्ति को सनातन धर्म पर आरोपित करने में ये कैसे सफल हो जाते हैं?

आज विश्व भर में एक सनातनी को सबसे निकृष्ट विचारों का वाहक सिद्ध करने का योजनाबद्ध प्रचार चल रहा है और कुछ अपवादों को छोड़कर भारतीय पत्रकारिता भी इसमें किसी से पीछे नहीं है। ऐसा क्यों हो रहा है? विचार करेंगे तो पता चलेगा कि भारतीय संस्कृति के प्रतीक सनातनी को आज संस्कृति के स्थान पर धर्म से जोड़ दिया गया है और ब्राह्मणवाद एवं मनुवाद की एक संकीर्ण परिधि में उसको दुनिया के सामने पेश किया जा रहा है। विश्व में अपना स्थान बनाने के लिए जैसे हमें परमाणु-विस्फोट करना पड़ा, उसी तरह से विश्व को भारतीय संस्कृति के सही स्वरूप को समझाने के लिए भी हमें एक सांस्कृतिक-विस्फोट की जरूरत है।

इसके लिए हमें सर्वप्रथम बौद्ध, जैन और सिक्ख धर्म को सनातन धर्म की परिधि में लाना होगा, क्योंकि वैदिक, वैष्णव, शैव, शाक्त, स्मार्त आदि धर्मों की तरह उनका भी उद्भव और विकास भारत में हुआ है। आजकल यह फैशन-सा चल पड़ा है कि अपने को प्रबुद्ध और प्रगतिशील सिद्ध करने के लिए प्रत्येक विचारक सनातन धर्म की अपेक्षा बौद्ध धर्म की श्रेष्ठता स्थापित करने में कोई कोर-कसर नहीं रखना चाहता। एकेश्वरवादी मनोवृत्ति से यह जो समरस है।

सनातन धर्म की अपेक्षा बौद्ध धर्म की श्रेष्ठता के समान ही आजकल गंगा-जमुनी संस्कृति की श्रेष्ठता को प्रदर्शित करने का भी अबाध प्रयत्न चल रहा है। महर्षि पतंजलि के शब्दों में यह भी एक प्रकार का विकल्प-व्यापार ही है। गंगा और यमुना की धाराएँ थोड़ी दूर तक अलग-अलग चलती अवश्य दिखाई देती हैं,किन्तु अन्त में वे एकरस हो जाती हैं। भारतीय संस्कृति की इस एकरसता को ही 'सनातन धर्म' नाम दिया गया है। यह भारतीय धर्मों की विभिन्न शाखाओं एवं उनके प्रवर्तकों के प्रति आदरभाव प्रदर्शित करती है और उनके श्रेष्ठ अवदानों को स्वीकार कर लेने में कोई संकोच नहीं दिखाती। यह इस्लाम एवं ख्रीष्ट धर्म के उत्कृष्ट अवदानों को भी अपने में समेटने में तत्पर है। सनातन धर्म की परिभाषा में आने वाले अधिकांश धर्मों ने अपने परस्पर के मतभेदों को मिटाने का प्रयत्न किया है, किन्तु ख्रीष्ट धर्म एवं इस्लाम धर्म ने इस प्रक्रिया को अभी तक स्वीकार नहीं किया। जब तक धर्म-परिवर्तन की प्रक्रिया चलती रहेगी, तब तक यह संभव भी नहीं है।

इधर कुछ राजनीतिक दल विकृत-धर्मनिरपेक्षता को हटाने की बात करने लगे हैं, किन्तु यह सोचने की बात है कि धर्मनिरपेक्षता तो सदा विकृत ही होती है, वह अविकृत कभी हो ही नहीं सकती, क्योंकि आज भारतीय राजनीतिज्ञों की धर्म-निरपेक्षता ने सारी पुरानी मान्यताओं को तहस-नहस कर दिया है। नये आधारों की खोज हम कर नहीं सके हैं और आयातित विचारों ने भाँति-भाँति के स्तानों और लैण्डों के नाम से देश को टुकड़ों-टुकड़ों में बाँट देने के लिए हमें आमादा कर दिया है। एक भाषा के रूप में हिन्दी को कभी की मान्यता मिल जानी चाहिए थी, किन्तु पाश्चात्य विद्वानों के द्वारा कल्पित आर्य और द्रविड़ विवाद ने इस कार्य को अभी तक पूरा नहीं होने दिया। मान लिया जाय कि कभी यह विवाद हुआ था, किन्तु आज उसका क्या प्रसंग है ?

आज की भारतीय संस्कृति के प्रवक्ता तो शंकर, रामानुज, निम्बार्क, वल्लभ जैसे दक्षिण के द्रविड़ाचार्य ही हैं। दक्षिण में आलवार और नायनार नाम से प्रसिद्ध वैष्णव और शैव सन्तों के द्वारा प्रतिष्ठापित उस भक्ति संप्रदाय का ही तो आसाम तक के सारे भारत में विस्तार हुआ है, जिसमें लिंग और वर्ण के भेदभाव के बिना *"हरि को भजे*

सो हरि का होई'' जैसे उदात्त सिद्धान्त की स्थापना हो सकी और जिसने हमें रामानन्द, कबीर, रैदास, मुक्ताबाई, मीराबाई, रहीम, दादूदयाल जैसे भक्त सन्तों को दिया है। सूफी सन्तों और गुरु नानकदेव की परम्परा भी इससे भिन्न नहीं है। मोहनदास करमचन्द गाँधी को महात्मा कहा गया और बाबा साहब डॉ० भीमराव अम्बेडकर को आधुनिक मनु का खिताब दिया गया, यह भी इसी परम्परा की देन है। तो क्यों हम पाश्चात्य विचारों से अभिभूत हो आज अपनी मातृभूमि को टुकड़ों-टुकड़ों में बाँट देने के लिए उतावले हो उठे हैं? क्या यह इस धर्म-निरपेक्ष शब्द का प्रभाव नहीं है?

ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि धर्मनिरपेक्षता और हिन्दुत्व—इन दो शब्दों के कारण आज भारतीय प्रबुद्ध वर्ग दो खेमों में बँटा है। वहीं स्थिति *'छद्म-धर्मनिरपेक्षता'* और *'भारतीय सहिष्णुता का क्षरण'* की भी है। हमें ऐसा लगता है कि पहला शब्द संघ-परिवार के थिंक टैंक द्वारा प्रचारित है और भारतीय सहिष्णुता के क्षरण से वे व्यक्ति अधिक चिन्तित हैं, जो समझते हैं कि भारतीय संस्कृति की रक्षा का उत्तरदायित्व हम पर ही है।

धर्म-निरपेक्षता तो स्वयं अपने ही छल-छद्म से भरी हुई है। आज इसका अर्थ मात्र हिन्दुत्व-निरपेक्षता है। दुनिया के सारे भले-बुरे धर्मों से ही नहीं, धर्मान्तरण जैसे कुकृत्यों से भी यह पूरी तरह से जुड़ी हुई है। इसके साथ *छद्म* शब्द को जोड़कर थिंक टैंक वाले क्या कहना चाहते हैं? लगता है धर्म-निरपेक्षता से उन्हें प्यार है, इसीलिए इसके साथ छद्म शब्द जोड़ कर वे अन्य राजनीतिज्ञों की धर्मनिरपेक्षता से अपने को अलग दिखाना चाहते हैं। थिंक टैंक वालों को धर्मनिरपेक्षता जैसे अभद्र शब्दों से जुड़े रहने के बजाय उन विषयों की ओर अधिक ध्यान देना चाहिए, जो भारतीय भाषाओं के साथ भारतीय संस्कृति को भी विकृत करने में लगे हैं। चैत्र शुक्ल प्रतिपदा दक्षिण भारत में युगादि के नाम से जानी जाती है, उत्तरभारत का नववर्ष इस के इस स्थान पर अब १ जनवरी को मनाया जाता है। इन सब स्थितियों के रहते क्या हम अंग्रेजी भाषा को हटाने अथवा धर्मान्तरण की गति को रोक पाने की कल्पना कर सकते हैं?

पंचतन्त्र में एक कहानी है। पड़ोसिन धुले हुए तिलों के बदले बिना धुले तिल लेनें पड़ोस में पहुँची। पड़ोसिन की पुत्री समझदार थी। वह अपनी माँ को ऐसा करने से रोकती है। आजकल भारतीय सहिष्णुता की जो जोरदार चर्चा होने लगी है, उसकी भी यही स्थिति है। यह सहिष्णुता का नारा बहुसंख्यक भारतीयों को बेवकूफ बनाने का उपक्रम है। धर्मान्तरण जैसे कुकृत्यों को छिपाने की, बहुसंख्यकों में हीनभावना को फैलाने की यह सोची-समझी साजिश है। यह भारतीयता के विनाश का कारण बन सकती है। यह सहिष्णुता जब इतनी ही श्रेष्ठ है, तो पूरी दुनिया इसका अनुसरण करने से क्यों कतराती है?

यही स्थिति अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता की भी है। जनाब फिदा हुसैन के चित्रों और सिने तारिकाओं के अभद्र प्रदर्शन के खिलाफ जो कुछ कहा जाता है, वह कला एवं अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता पर कुठाराघात माना जाता है, लेकिन जनाब सलमान रुश्दी या डॉ० तसलीमा नसरीन को यह अधिकार नहीं दिया जा सकता। यह सब धर्मनिरपेक्षता का ही खेल है।

भारतीय संस्कृति को आज संगीत, नृत्य आदि तक ही सीमित कर दिया गया है, जबकि भारतीय शास्त्रों के अनुसार इनकी कला में गिनती की जाती है। देश की भौतिक समृद्धि को संस्कृति कहा जाता है, संस्कृति की इस गलत परिभाषा के ही कारण आज भारतीय संस्कृति विकृति की ओर पर्याप्त आगे बढ़ चुकी है और इसीके कारण पूरा भारतीय समाज हीनग्रन्थि से जकड़ता जा रहा है! इसी हीनग्रन्थि के कारण वह अपने ऊपर लगाये जा रहे गलत आक्षेपों का भी सही उत्तर देने में असमर्थ हो गया है। अल्पसंख्यक आयोग या मानवाधिकार आयोग जैसी संस्थाएँ भी संस्कृति की इस विकृत परिभाषा के चंगुल में फँस गई हैं। अल्पसंख्यकों और तथाकथित प्रताड़ित जातियों के प्रतिनिधियों से पूछा जाना चाहिए कि वे अपने मानसिक विकास में किन बाधाओं को देखते हैं? क्या उनको सभ्य आचरण करने से कोई रोकता है? क्या विधानसभाओं के तथा लोकसभा के सदस्यों का आचरण भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के अनुरूप माना जायेगा?

आचार्य नरेन्द्रदेव ने भारतीय संस्कृति के स्वरूप की नये परिप्रेक्ष्य में व्याख्या की है, पूर्व प्रधानमन्त्री श्री चन्द्रशेखर सिंह तथा पंडित नारायणदत्त तिवारी जैसे उनके प्रिय शिष्य संस्कृति के इस स्वरूप के सहारे अपने भूले-भटके साथियों को ही नहीं, रूस और चीन की मानसिकता से संचालित कम्युनिस्ट भाइयों को भी सही रास्ते पर ला सकते हैं। इसके लिए समाज में विग्रह पनपाने वाले द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की नहीं, भारतीय सहिष्णुता के साथ विश्व के सभी प्रकार के विचारों में परस्पर समन्वय स्थापित करने वाली सनातनी दृष्टि की आवश्यकता है।

थिंक टैंक वालों से भी हमारा निवेदन है कि वे भी एक बार वेदों से लेकर पूरे भारत की विभिन्न भाषाओं के माध्यम से मुखरित सन्त साहित्य तक की लम्बी भारतीय संस्कृति परम्परा के स्वरूप को पहिचाने। छद्म-धर्मनिरपेक्षतावादियों के पीछे जो गुप्त शक्तियाँ कार्यरत हैं, वे इस राष्ट्र के हित में नहीं हैं। अधिकांश भारतीय राजनीतिक दल इनके खिलौने मात्र हैं। भारतीय मनीषा इनके सामने अपना स्वरूप खो बैठी है। समग्र भारतीय स्वरूप की प्रतिष्ठा इस राष्ट्र की आज प्रथम आवश्यकता है। हम समझते हैं कि उन्हें *''गर्व से कहो हम हिन्दू हैं''* के स्थान पर *''गर्व से कहो हम भारतीय हैं''* यह नारा देना चाहिए।

सेक्युलरिज्म और संप्रदायवाद के स्थान पर आज राष्ट्रवाद और विघटनवाद पर विचार अपेक्षित है। पता चलेगा कि तथाकथित सेक्युलरिज्म विघटनवाद की ओर तेजी से बढ़ रहा है। इसका कारण यह है कि आज का भारतीय सेक्युलरिज्म द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आधार पर पनप रहा है।

●

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद

परिस्थितियों और समय की आवश्यकता के अनुसार विभिन्न भारतीय दर्शनों का विकास हुआ है। ऊपर से देखने में इनका सम्बन्ध अहिनकुलवत् परस्पर विरोधी-सा प्रतीत होता है, किन्तु वास्तव में ऐसा है नहीं। समाज में साधारण तथा स्वाभाविक परिवर्तन होता रहता है, किन्तु कभी-कभी क्रान्ति के द्वारा भी सहसा परिवर्तन आता है। क्रान्ति के द्वारा आया परिवर्तन क्षणिक होता है। समाज फिर अपनी सहज गति से चलने लगता है, तो भी उस पर क्रान्ति अपनी अमिट छाप छोड़ जाती है, इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। इस क्रान्ति का जन्म भी धीरे-धीरे आई सहज स्वाभाविक परिस्थितियों से होता है। केवल क्रान्ति से चिपके रहने वाला और सतत प्रवहमान धारा का साथ न देने वाला पिछड़ जाता है और उसे एकाकीपन महसूस न हो, इसके लिए अपने इर्द-गिर्द एक नये रूढ़िवादी समाज की रचना कर लेता है। संप्रदायों और नये वर्गों का इसी प्रकार सूत्रपात होता है। आज के कम्युनिज्म में इसकी परीक्षा की जा सकती है। यूरोप की औद्योगिक परिस्थितियों का उनकी स्वाभाविक गतिशीलता के साथ अध्ययन करने वाले दर्जनों विद्वानों के विचारों की पृष्ठभूमि में कार्ल मार्क्स ने *'केपिटल'* की रचना की और उसके आधार पर रूस में *'लाल क्रान्ति'* हुई। क्रान्ति ने अपना काम किया। आज का पूरा समाज उससे प्रभावित है। उस क्रान्ति की अब कहीं कोई आवश्यकता नहीं है। लेकिन एक वर्ग बन गया है, जो *'केपिटल'* को किसी धर्मग्रन्थ से नीचा स्थान देने को तैयार नहीं है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त की उत्पत्ति यहीं से हुई है।

यह सिद्धान्त भारतीय संस्कृति की सहिष्णुता और समन्वय की दृष्टि से एक दम विपरीत है। भारतीय संस्कृति जब आध्यात्मिकता पर अधिक जोर देती है, तो यह द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, भारतीय चार्वाक दर्शन की तरह, पूरी तरह से भौतिकवादी विचारधारा पर आधृत है। इसी पृष्ठभूमि में वह सर्वत्र दो वर्गों की तलाश कर उनमें कलह के बीच बो देने में अतीव निपुण है। आश्चर्य यह है कि आजकल की दुनिया के सर्वोत्कृष्ट वादों में इसकी गिनती होने लगी है। इसके अनुयायी साम्यवादी कहलाते हैं। साम्यवाद का अर्थ है, सबको बराबर कर देना। रूस की प्रजा पर सर्वप्रथम इसका प्रयोग किया गया। आज वह देश स्वयं

ही विखण्डित होकर अपनी और इस वाद की कहानी स्वयं लिख रहा है। रूस के बाद अब इस वाद का झण्डा चीन ने उठाया है। इसका हश्र क्या होगा? अभी तो उसने बुद्ध की अहिंसा का परित्याग कर तिब्बती प्रजा को दुर्दशा में डाल दिया है। अपने धर्मगुरु के साथ वह भारत में शरण लेने को बाध्य हुई है।

भारत में रूस और चीन से प्रेरित कम्युनिस्ट दल काम कर रहे हैं। इन्होंने अभी अपने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का प्रधान लक्ष्य भारत में हिन्दू और मुसलमान के नाम से आपस में झगड़ रही भारतीय प्रजा को बनाया है। सांप्रदायिक और धर्मनिरपेक्ष, प्रगतिशील और प्रतिगामी, दक्षिणपन्थी और वामपन्थी, युवक और बुर्जुवा—जैसे शब्दों के माध्यम से भी इनका यह वाद सर्वत्र विग्रह को फैलाने में लगा है। साम्यवाद के नाम पर इस्लामिक क्रूरता और बर्बरता के आगे ये भारत के उन सिद्धान्तों का तिरस्कार करने से बाज नहीं आते, जो भारत ही नहीं, विश्व के कल्याण के लिए भी सर्वाधिक उपयोगी हैं। इनके लिए मुसलमान धर्मनिरपेक्ष हैं और पूरी हिन्दू जाति सांप्रदायिक। आश्चर्य यह है कि कांग्रेस जैसी राष्ट्रीय संस्था इस मामले में इनसे भी आगे बढ़ गई है। इन लोगों को यह पता ही नहीं है कि जाने-अनजाने वे उस प्रेत को पाल-पोस रहे हैं, जो इस पूरी दुनिया को निगल जाने को उतारू है।

यह बात तो जगजाहिर है कि कम्युनिस्ट (साम्यवादी) धर्म को अफीम मानते हैं, इसीलिए धर्म-निरपेक्षता के सिद्धान्त के ये सबसे प्रबल पक्षधर हैं। परस्पर एक समुदाय से दूसरे समुदाय को लड़ाकर पूरे समाज में अशान्ति फैलाना इनकी हावी है और समाज के आगे व्यक्तित्व को प्रभावहीन बना देना इनका मुख्य लक्ष्य है। यह भी आश्चर्य की ही बात है कि कम्युनिज्म से प्रभावित भारतीय रचनाकार प्राचीन भारतीय साहित्य से पिण्ड छुड़ाकर यूरोप और अमेरिका की दौड़ में शामिल हो गया है। हिन्दी भाषी क्षेत्र इनमें सबसे आगे हैं।

सर्वत्र समानता स्थापित की जाय, साम्यवाद का यह लक्ष्य तो अच्छा है, किन्तु इसकी प्राप्ति के लिए सर्वत्र द्वन्द्वात्मक दृष्टि का सहारा लिया जाय, यह उचित नहीं है। इससे मिलने वाली समानता मानसिक क्लेशों से भरी रहेगी। इसके विपरीत भगवद्गीता और तन्त्रागमशास्त्र में वर्णित समतामार्ग और साम्यदृष्टि इस तरह के दोषों से निरापद है। इस विषय पर हमने आगे (पृ० १४८-१५०) विचार किया है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से मिलने वाली मानसिक क्लेशों से भरी समानता के स्थान पर भारतीय समतामार्ग और साम्यदृष्टि से मिलने वाली समता सहिष्णुता और समन्वय के आधार पर विकसित होती है। इस प्रक्रिया में मानव-मन का परिष्कार अपने आप होता रहता है, बन्धुत्व की भावना का विकास इसका लक्ष्य माना गया है। कैसे यह संभव होता है? इसी पर आगे विचार किया जा रहा है।

●

सहिष्णुता और समन्वय

ये दो भारतवर्ष के विशिष्ट राष्ट्रव्यापी गुण हैं। सैकड़ों वर्षों से राजनेता ही नहीं, यहाँ की सामान्य प्रजा भी इनका पालन करती चली आ रही है। इतना ही नहीं, प्राचीन काल में समय-समय पर बाहर से यहाँ आये यहूदी, ईसाई, पारसी जन भी अपने प्राचीन स्वरूप की रक्षा करते हुए बिना भय के सुख-शान्ति से यहाँ रह रहे हैं। अभी हाल में आये तिब्बतीजन अपने धर्म और संस्कृति की रक्षा में दत्तचित्त हो उसके संवर्धन में लगे हैं। यहाँ के बौद्ध ही नहीं, शैव और वैष्णव धर्मों के अनुयायियों ने भी कभी बाहरी देशों में अपने-अपने धर्म और संस्कृति का प्रचार शान्ति और सौहार्द के साथ किया था, अन्य धर्मों की क्रूरता को इन्होंने कभी स्वीकार नहीं किया। राष्ट्र की सहिष्णुता के ये अनुकरणीय उदाहरण हैं।

समन्वय की प्रक्रिया भी यहाँ निरन्तर चलती रही है। भगवद्गीता, भागवत आदि पुराण-वाङ्मय में तथा प्रपंचसार, शारदातिलक जैसे ग्रन्थों में हम इस प्रक्रिया को देख सकते हैं। ब्रह्मसूत्र के तो एक अध्याय का नाम ही समन्वयाध्याय है। केवल शैव, वैष्णव आदि धर्मों में ही नहीं, बौद्ध-जैन आदि धर्मों में भी यह प्रक्रिया निरन्तर चलती रही है।

समय-समय पर समस्याओं का स्वरूप बदलता रहता है। एक हजार वर्ष पहले इस्लाम धर्म ने और दो-ढाई सौ वर्ष पहले ख्रीष्ट धर्म ने राजधर्म के रूप में यहाँ प्रवेश किया। समन्वय की प्रक्रिया इस अवधि में बहुत फलीभूत न हो सकी, क्योंकि इन आक्रान्ताओं में सहिष्णुता का अभाव था। ये अब भी आक्रामक बने हुए हैं। ख्रीष्ट धर्म के अनुयायी शहरों से दूर गाँवों में, जनजातियों में, अशिक्षितों एवं अभावग्रस्तों में पहुँच कर शिक्षा का प्रसार करते हैं, रोगियों की सेवा करते हैं, उनकी आर्थिक सहायता करते हैं। यह सब कुछ नि:स्वार्थ नहीं होता। धर्म-परिवर्तन के रूप में इनका घिनौना स्वरूप हमारे सामने आता है और अन्तत: इनको राष्ट्रद्रोह की शिक्षा दी जाती है। सेमेटिक धर्मों का यह विकृत स्वरूप पूरे विश्व में अब उजागर हो चुका है। विश्व-संस्कृति के निर्माण की यह सबसे बड़ी बाधा है। आधुनिक विचारक धर्म के इस विकृत स्वरूप को छिपा कर, उसको पाश्चात्य राजनीति का आवरण देना चाहते हैं। वस्तुत: यह धर्म-निरपेक्षता के रूप में धर्म का छिपा खेल है।

इसके विपरीत भारतीय संस्कृति सहिष्णुता और समन्वय के आधार पर ही पूरे विश्व के साथ संपर्क स्थापित करने को तत्पर है। सहिष्णुता इसका प्रकट गुण है और समन्वय की प्रक्रिया जाने-अनजाने मन्थर गति से चलती रहती है। भारतीय संस्कृति की सहिष्णुता का यह ज्वलन्त उदाहरण है कि विभिन्न देश, काल और वातावरण में विकसित संस्कृतियाँ यहाँ निर्बाध रूप से रहती आई हैं, जिनकी चर्चा अभी हो चुकी

है। इस्लामी राज्यकाल में भी भारतीय संस्कृति के ये गुण उजागर थे, किन्तु छल-छद्म का सहारा लेकर चलने वाली भौतिक पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव से अंग्रेजों के शासनकाल के प्रारंभ से ही ये गुण धूमिल-से होने लगे। न केवल पाश्चात्य संस्कृति, किन्तु उसके राजनीतिक चंगुल में फँसी इस्लामिक संस्कृति भी भारतीय संस्कृति को पुनः तहस-नहस कर देने में लग गई। इन आक्रमणों से भारतीय संस्कृति को बचाने के लिए राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द सरस्वती, स्वामी रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, योगी अरविन्द, बाल गंगाधर तिलक आदि महापुरुषों के प्रयत्नों से हम सभी परिचित हैं। इन महानुभावों ने न केवल बाह्य आक्रमण से, अपितु कालविपाक से इसमें प्रविष्ट दोषों से भी भारतीय संस्कृति को उन्मुक्त करने का स्तुत्य प्रयास किया है।

भारतीय संन्यासियों में सेवाभाव की मनोवृत्ति प्रसुप्त-सी हो गई है। नगर-निवास के व्यामोह को छोड़कर ही ये भारती प्रजा को विदेशी संकीर्णता से मुक्त रख सकते हैं। निःस्वार्थ सेवाभाव से ही यह संभव हो सकता है। भारत में रहने वाली, विभिन्न धार्मिक दृष्टियों का अनुसरण करने वाली सारी प्रजा में सहिष्णुता की भावना को जगाने की आवश्यकता है। तभी हम सभी धर्मों एवं मतवादों में समन्वय की प्रक्रिया को पुनः चालू कर सकते हैं। इसके लिए यह आवश्यक है कि हम धर्मों और संस्कृतियों के अन्तर को सही रूप में पहिचानने का प्रयत्न करें।

●

धर्म और संस्कृति का अन्तर

मनुस्मृति में धृति, क्षमा आदि के रूप में दस लक्षणों वाले जिस धर्म का निरूपण किया गया है, धर्मनिरपेक्षता के इस युग में आज उसकी कोई उपयोगिता नहीं रह गई है। उसके स्थान पर हम अब संस्कृति को प्रस्तुत कर सकते हैं। सभी धर्मों के उत्कृष्ट सर्वग्राह्य आध्यात्मिक उपादानों से इसका निर्माण होता है। संस्कृति के नाम से वर्तमान युग में जिस उदार भावना का विकास हो रहा है, उसके विकास की कहानी को और उसकी पृष्ठभूमि में विकसित हुए भारतीय दर्शन को आज समझने की आवश्यकता है। संस्कृति के स्वरूप को लेकर भले ही विद्वानों में मतभेद हों, किन्तु इतना सही है कि आज हमारे सामने जो विषम समस्याएँ हैं, जिनका समाधान हम खोज नहीं पाये हैं और जो भारतीय समाज को विपथगामी बना रही हैं, संस्कृति के माध्यम से उनका समाधान किया जा सकता है। भारतीय समाज अनेक संप्रदायों, जातियों और उपजातियों में एवं हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, सिक्ख, पारसी जैसे धर्मों में विभक्त है। इनमें सांस्कृतिक एकता की स्थापना कैसे हो? दलित, उपेक्षित, प्रताड़ित जनों में आत्मसम्मान की भावना का विकास कैसे हो? दक्षिण और उत्तर भारत की समस्याओं

का समाधान कैसे हो? अन्ततः एक राष्ट्र, एक भाषा और एक संस्कृति की निरापद स्थापना कैसे हो? इस तरह के प्रश्नों का समाधान सांस्कृतिक धरातल पर ही प्रस्तुत किया जा सकता है।

आज की पाश्चात्य शिक्षापद्धति ग्रीक और रोमन परस्पराओं से जुड़ी है। इसी तरह से भारतीय शिक्षापद्धति पर प्राचीन भारतीय परम्पराओं का प्रभाव भी अक्षुण्य बना रहना चाहिए। बिना कारण इसको मिटा देना उचित नहीं माना जा सकता। वर्तमान की आवश्यकता यह है कि भारतीय शिक्षाशास्त्री यहाँ की शिक्षापद्धति की उन त्रुटियों पर विचार करें, जिनसे प्रभावित होकर वर्तमान स्नातक भारतीयता से ही विमुख होते जा रहे हैं। ये स्नातक ही तो आगे चलकर राजनेता, प्रशासक एवं शिक्षाशास्त्री बनते हैं। राजदूत देश की संस्कृति का भी प्रतिनिधि होता है। इस पद पर ऐसे व्यक्तियों की नियुक्ति का क्या अर्थ होगा, जो भगवद्गीता जैसे महान् ग्रन्थ से भी परिचित न हों। सांस्कृतिक प्रतिनिधि-मण्डलों में मात्र अभिनय, संगीत, नाट्य जैसी कलाओं के, जो किसी देश की सभ्यता का प्रतिनिधित्व करते हैं, संस्कृति का नहीं, निपुण व्यक्तियों का समावेश उचित नहीं है। किसी भी देश की बाहरी चकाचौंध को सभ्यता और आन्तर शुचिता को संस्कृति नाम दिया जाता है। विदेशों में जाने वाले प्रतिनिधि-मण्डलों में इनका अलग-अलग प्रतिनिधित्व होना ही उचित है। इसके अभाव में सांस्कृतिक प्रतिनिधि-मण्डलों का अवमूल्यन हो जायगा, जैसा कि आजकल हो रहा है। ऐसे प्रतिनिधि-मण्डल विदेशों में भारतीय आत्मा का, इसकी आध्यात्मिक समृद्धि का दर्शन नहीं करा पाते। धर्म और संस्कृति का घालमेल हो जाने से ही यह स्थिति आई है।

धर्म शब्द का प्रयोग यहाँ अंग्रेजी के 'रिलीजन' के अर्थ में किया गया है। 'धर्मनिरपेक्षता' शब्द में प्रयुक्त होने वाले 'धर्म' की मात्र हम यहाँ चर्चा करना चाहते हैं, क्योंकि धर्मनिरपेक्ष ताकतों को एकजुट करने के लिए राजनीतिक नेताओं का ही नहीं, बुद्धिजीवियों का भी आह्वान किया जाता है और इस तरह से अधिसंख्य भारतीय प्रजा को बरगलाने का, उसको पथभ्रष्ट करने का प्रयत्न भारतीय धर्म को ही नहीं, भारतीय संस्कृति को भी नष्ट कर देने के लिए किया जा रहा है।

हम जानते हैं कि उक्त परिभाषा के अनुसार आज भारत अनेक धर्मों का देश है। विविध धर्मों और संप्रदायों का अनुवर्तन करने वाली प्रजा यहाँ निवास करती है। प्रश्न यह है कि क्या भारत में यह स्थिति आज ही पैदा हुई है? वस्तुतः भारत तो बहुत पहले से अनेक धर्मों और दर्शनों का देश रहा है। इनके पारस्परिक विग्रह और फिर एकजुट हो जाने के प्रयोगों को भी हमने देखा है।

आज भारत को पुनः उसी तरह की समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है। भारत में उपजे धर्मों के अतिरिक्त बाहर से आये धर्मों में आज उसी तरह की अथवा

उससे भी निकृष्ट कोटि के संघर्ष की स्थिति है। क्या इनमें सहिष्णुता के आधार पर समन्वय स्थापित करने की हमारी सामर्थ्य चुक गई है ? वास्तव में ऐसा है नहीं, किन्तु इस काम को करने से पहले हमें धर्म और संस्कृति के अन्तर को पहिचानना होगा। ऊपर बताये गये सभी धर्म या संप्रदाय यहाँ किसी न किसी रूप में अब भी स्थित हैं और सहिष्णुता के आधार पर समन्वय की ओर अग्रसर विचारधारा भी। पहली परम्परावादिनी विचारधारा को धर्म के नाम से और दूसरी उदारवादी प्रवृत्ति को हम संस्कृति के नाम से पहिचान सकते हैं। हमने आज धर्म और संस्कृति को एक मान कर संस्कृति की पहिचान को ही समाप्त कर दिया है।

ऊपर के अर्थ में धर्म एक स्थिर तत्त्व है, जब कि संस्कृति में स्थिरता (निरन्तरता) के साथ परिवर्तनशीलता भी जुड़ी हुई है। इस तत्त्व को भारतीय संस्कृति में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। महाकवि कालिदास की *"पुराणमित्येव"* इस उक्ति को हम उद्धृत कर चुके हैं। भगवान् बुद्ध का भी कथन है कि जैसे सुवर्ण के खरे-खोटेपन को कसौटी पर कस कर पहिचाना जाता है, उसी तरह से मेरी बातों को भी परीक्षा के उपरान्त ही ग्रहण किया जाय[६]। भारतीय संस्कृति के इस तत्त्व को हमें हृदयंगम करना चाहिए। संस्कृति के इस उदात्त तत्त्व के आधार पर ही आज हम पुनः वर्तमान काल में भारत में प्रवृत्त धर्मों में सामंजस्य बिठा सकते हैं।

इस पवित्र कार्य को आज के राजनेतागण नहीं होने दे रहे हैं। पाश्चात्य संस्कृति, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद आदि से प्रभावित ये राजनेता अपनी बोट-बटोरू आवश्यकता की पूर्ति के लिए भारतीय संस्कृति को ही नहीं, सामान्य नैतिकता को भी तिलांजलि देकर अल्पसंख्यकों, दलितों और अधिसंख्य भारतीय प्रजा को भीषण संघर्ष की आग में झोंक देना चाहते हैं, किन्तु यह निश्चित है कि समन्वयात्मिका संस्कृति के उपदेशों से प्रभावित भारतीय प्रजा इनके चंगुल में नहीं फँसने वाली है। एक न एक दिन यह प्रबुद्ध भारतीय प्रजा ही इन पथभ्रष्ट नेताओं को सही रास्ते पर ले आवेगी।

भारतीय धर्म और संस्कृति पर आज चतुर्दिक् प्रहार किये जा रहे हैं। यह सारा बखेड़ा धर्म और संस्कृति में घालमेल कर देने से उठ खड़ा हुआ है। भारत के सभी राज्यों में अपनी-अपनी भाषा में भक्तों और सन्तों का विशाल साहित्य उदारवादी भारतीय संस्कृति को उजागर करता है, किन्तु इस बात को हम भूल बैठे हैं कि इन सबकी पृष्ठभूमि में आगम, पुराण और तन्त्रशास्त्र का विशाल उदारवादी गंभीर साहित्य-समुद्र हिलोरे ले रहा है, जिसने वैदिक-अवैदिक मतवादों में समन्वय स्थापित

---

६. "तापाच्छेदाच्च" यह वचन शान्तरक्षित के तत्त्वसंग्रह (३५७७) में उपलब्ध है। इसी तरह का जैन वचन "पक्षपातो न मे वीरे" षड्दर्शनसमुच्चयटीका (श्लो० ४४) में और "परीक्ष्य निपुणं" यह वचन वायु, (५३.१२२) एवं लिंगपुराण (१.६१.६२-६३) में मिलता है।

करने का महनीय प्रयत्न किया था। इस प्रवृत्ति ने सभी भारतीय मतवादों और धर्मों में सहिष्णुता और समन्वय को ही जन्म नहीं दिया, पूरी मानवता के लिए मुक्ति का मार्ग भी प्रशस्त किया है।

हमारी अपनी समालोचना के बिना यह बात अधूरी रह जाएगी। तन्त्रशास्त्र के *"भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव"* इस सिद्धान्त को तो हमने स्वीकार कर लिया, किन्तु वहीं जब जाति की अपेक्षा चरित्र को महत्त्व दिया जाता है, कपटी ब्राह्मण की अपेक्षा म्लेच्छ को वरीयता दी जाती है, तो तन्त्रशास्त्र की यह बात हमारे गले तले नहीं उतर पाती। २०वीं शताब्दी के रजनीश भी एक जैन आचार्य थे और तत्त्वार्थसूत्र के रचयिता उमास्वाति भी। एक संभोग से समाधि का उपदेश देते हैं, तो दूसरे सम्यग् दर्शन, ज्ञान और सम्यक् चारित्र को मोक्ष का मार्ग मानते हैं। 'सत्' की उमास्वाति की परिभाषा *(उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्)* भारतीय दर्शन में अन्यत्र दुर्लभ है। "बहुजनहिताय बहुजनसुखाय" के भगवान् बुद्ध के उपदेश के बाद भी भारतीय दर्शन और उपासना पद्धति में से हम व्यक्तिवाद को हटा नहीं पाये हैं, उनकी संसार के सारे प्राणियों को दुःख से मुक्त कराने की अभिलाषा को जनजीवन में उतार नहीं सके हैं। वैदिक कर्मकाण्ड को तो हम भुला चुके हैं, किन्तु तान्त्रिक कर्मकाण्ड को आग्रहपूर्वक स्वीकार कर रहे हैं, क्योंकि उसमें हमारी इन्द्रियलोलुपता को तुष्ट करने के लिए पर्याप्त उपादान हैं।

सिद्धियों और चमत्कारों से दूर रहने के लिए भगवान् बुद्ध के उपदेश को हम भुला बैठे हैं। योगसूत्रकार महामुनि पतंजलि ने भी सिद्धियों को समाधि के लिए अन्तराय (विघ्न) माना है। फिर ये सिद्धियाँ सामान्य जन की सम्पत्ति कभी नहीं बन पाई हैं। श्रद्धेय कविराज जी के गुरु के पास जो सिद्धियाँ थीं, वे उनके जैसे महायोगी में संक्रान्त न हो सकीं। वे बड़े स्पष्ट शब्दों में कहते थे कि मुझे अपने गुरु से दीक्षा देने का अधिकार नहीं मिला है। उनकी यह स्पष्टोक्ति, उनका यह निर्मल निश्छल भाव ही हमारी समझ में भारतीय संस्कृति का निचौड़ है। उनका अखण्ड महायोग अखिल विश्व के साथ तन्मयता का, निर्विकार प्रेमभाव का उद्भावक है। हम तन्त्रशास्त्र की पद्धति से अखण्ड संस्कृति के माध्यम से इसको पा सकते हैं। तन्त्रशास्त्र की शैव, शाक्त और बौद्ध धाराओं में शास्त्र और गुरु की अपेक्षा प्रातिभ ज्ञान को वरीयता दी गई है। विविध कर्मकाण्डों की अपेक्षा उसने चित्त की प्रभास्वरता (निर्मलता) पर अधिक जोर दिया है। आज हम सभी धर्मों की अच्छाइयों को भूल बैठे हैं और रूढ़िवादी तत्त्वों से चिपके हुए हैं। समग्र भारतीय संस्कृति ही अब हमारा उद्धार कर सकती है।

हमारा यह निश्चित मत है कि जब तक इस देश के राजनेतागण धर्म और संस्कृति के अन्तर को सही रूप से नहीं पहिचानेंगे, तब तक हम इसमें विभिन्न धर्मों के सहारे पनप रही विलगाववादी प्रवृत्तियों का और भारत की अन्य समस्याओं का

सही निदान और उपचार करने में पूरी तरह से असफल रहेंगे। ऐसी स्थिति में हम एक विश्व और एक संस्कृति का मात्र सपना ही देख सकेंगे। इतना ही नहीं, इस स्थिति में तो हम एक राष्ट्र, एक संस्कृति और एक भाषा की देश की प्राथमिक आवश्यकता को भी पूरा नहीं कर पायेंगे।

●

एक राष्ट्र, एक संस्कृति, एक भाषा

भारत को स्वतन्त्रता मिलने के बाद देश में 'सेक्युलर' शासन की स्थापना हुई। बहुजातीय, बहुधर्मी और बहुभाषीय राष्ट्र की दृष्टि से इसे अनुचित नहीं कहा जा सकता, किन्तु अनुचित यह हुआ कि यहाँ एक राष्ट्रीयता अथवा देश की एक समग्र संस्कृति और एक भाषा के विकास का कोई प्रयत्न ही प्रारम्भ नहीं किया गया। देश में ईसाईकरण, इस्लामीकरण, हिन्दूकरण या बौद्ध दीक्षा की बात जब चलती है और अनेक संस्थाएँ तदनुकूल आचरण भी करती हैं, तो हमारे कान में जूँ तक नहीं रेंगती, किन्तु भारतीयकरण की जब बात उठती है, तो हमारी नींद हराम हो जाती है। कुछ राजनीतिज्ञों का कहना है कि भारतीय संविधान के अनुसार यहाँ के सभी निवासी भारतीय हैं, उनके लिए भारतीयकरण का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। संविधान के द्वारा प्रदत्त इस परिभाषा का हम आदर करते हैं, किन्तु भारतीय जनतन्त्र ने विगत वर्षों में क्या कोई ऐसा आधार स्थिर किया? जिससे यहाँ का प्रत्येक नागरिक अपने को हिन्दू, सिक्ख, जैन, बौद्ध, मुसलमान, ईसाई, पारसी न समझकर भारतीय समझे। इसके विपरीत यहाँ तो देश में विलगाव पैदा करने वाली जाति, वर्ग, भाषा, राज्य आदि की अगणित व्याधियों को उभाड़ दिया गया है। भावात्मक एकता के भारतीय आधारों को तो हम छोड़ते ही जा रहे हैं, उनके स्थान पर पाश्चात्य नैतिकता और भ्रातृभाव को भी हम ग्रहण नहीं कर सके हैं।

भारत के पूर्व उपराष्ट्रपति श्री गोपालस्वरूप पाठक ने किसी प्रसंग में संस्कृति शब्द की एक सीधी-सादी परिभाषा इस प्रकार दी थी—"भौतिक साधन, विचारधाराएँ, आदर्श तथा आस्थाएँ, भावनाएँ, शुद्ध मूल्य एवं सामाजिक रीति-रिवाज, जो किसी भी समाज में एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को विरासत में मिलते हैं, उन्हींके सामूहिक रूप से संचयन को संस्कृति कहते है"। संस्कृति शब्द की यह सुन्दर और समग्र व्याख्या है। इस विषय पर हमने आगे (पृ० ९३) विचार किया है। अन्य पुरातन संस्कृतियाँ जब नामशेष रह गई हैं, भारतीय संस्कृति की मूल पावन धारा अविरल धीर-गंभीर गति से आज भी बह रही है। विभिन्न देश-काल और परिस्थितियों में पली हुई संस्कृतियों को आत्मसात् कर लेने का अद्‌भुत सामर्थ्य इसमें है। इस संस्कृति ने आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार के आक्रमणों का बड़े

आत्मविश्वास के साथ सामना किया है और अन्य संस्कृतियों के उदात्त तत्त्वों को अपना लेने में कभी परहेज नहीं किया। प्रारम्भ से ही यह संस्कृति त्याग, तपस्या, सहिष्णुता और समन्वय के चार सुदृढ़ आधारों पर खड़ी हुई है। आज ये मूल मान्यताएँ लड़खड़ाती-सी नजर आ रही हैं।

क्या वैदिक, क्या जैन और क्या बौद्ध सभी धाराओं में त्याग और तपस्या के आध्यात्मिक दृष्टिकोण का समान रूप से विकास हुआ है और पाश्चात्य संस्कृति अपने राष्ट्र के लिए समय उपस्थित होने पर अधिक से अधिक त्याग और राष्ट्र की उन्नति के लिए कठोर परिश्रम करना सिखाती है। लेकिन आज भारत में साधारण आदमी से लेकर उच्चपदस्थ व्यक्तियों तक में त्याग की भावना का नितान्त अभाव है। जनहित के नाम पर सभी अपनी गोटी लाल करने में लगे हैं। त्याग और तपस्या की भावना आज वहाँ भी मर गई है, जो अपने को वैदिक या अन्य आध्यात्मिक संस्कृति का प्रतिनिधि मानते हैं।

वैदिक धारा में कभी हिंसाप्रधान कर्मकाण्ड का बाहुल्य हो गया था। औपनिषद धारा ने इसका विरोध किया। उसने वैदिक कर्मकाण्ड को मोक्षपथ की यात्रा के लिए कमजोर नाव बताया। ये औपनिषद उपदेश आज पूरे विश्व की धरोहर हैं। शताब्दियाँ बीत जाने पर भी देश और काल की सीमा को लाँघकर सर्वत्र आध्यात्मिकता का प्रसार करने में ये आज भी समर्थ हैं। कठोपनिषद् कहती है—*"न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः"*। अर्थात् मनुष्य की तृप्ति धन से नहीं हो सकती। इसके विपरीत मार्क्सवाद हमें कहाँ ले जा रहा है?

आज की भारतीय संस्कृति के अजस्र प्रवाह में वैदिक, औपनिषद, जैन, बौद्ध, पौराणिक, सन्त, इस्लाम और पाश्चात्य संस्कृति की धाराओं का जल मिलकर बह रहा है। इन सभी धाराओं के साथ सम्पूर्ण भारतीय जनमानस में भावात्मक एकता स्थापित होने के बाद ही समग्र भारतीय संस्कृति के निर्माण का पथ प्रशस्त हो सकेगा और तभी देश में एक राष्ट्रीयता का भी विकास होगा। स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद क्या इस दिशा में कुछ कार्य हुआ है?

धर्म के आधार पर भारत का और फिर भाषा के आधार पर पाकिस्तान का विभाजन हो जाने के बाद भी भारत में एक संस्कृति और एक भाषा के विषय में सोचने को कोई तैयार नहीं हो रहा है। भारतीय जनतादल दबी जबान से एक संस्कृति की चर्चा अवश्य करता है, किन्तु भाषा के विषय में वह भी चुनावी माहौल के इर्द-गिर्द ही घूम रहा है। यह देश एक हजार वर्ष पहले की अपनी सार्वभौम चिन्तनधारा से अभी भी जुड़ नहीं पाया है।

प्रश्न आस्था का है। एक राष्ट्र, एक संस्कृति और एक भाषा की हमारी आस्था डगमगा गई है। हम अपनी अपार अनोखी सांस्कृतिक धरोहर को भुला बैठे हैं।

आधुनिक प्रचार-तन्त्र ने हमारी वही गति कर दी है, जो पंचतन्त्र के उस ब्राह्मण की हुई थी, जिसे गाय के बछड़े को बकरी का बच्चा बताकर ठग लिया गया था। आज भी ब्राह्मणवाद का भूत दिखाकर भारतीय प्रजा को ठगा जा रहा है। आर्य और द्रविड़ विवाद तो कल्पना पर आधारित भी हो सकता है, किन्तु ब्राह्मणवाद और श्रमणवाद का तो सचमुच कभी यहाँ बोलबाला था। इसको हम नकार नहीं सकते कि ब्राह्मण और श्रमण (प्रधानत: बौद्ध और जैन) विचारधारा में एक लंबा संघर्ष छिड़ा, किन्तु साथ ही इसको कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि यह संघर्ष प्रधान रूप से विचारों का था और इसने अनेक उत्कृष्ट भारतीय मनीषियों को जन्म दिया। ये सभी, भले ही वे ब्राह्मण हों, बौद्ध हों या जैन, हमारे पूर्वज हैं, वन्दनीय हैं, श्लाघनीय हैं और उन्हींके कारण यह भारत देश आज भी विचारों के क्षेत्र में, उदारता, सहिष्णुता और समन्वय की प्रक्रिया में, अपना विशिष्ट स्थान रखता है। इस प्रक्रिया को भी आज के राजनीतिज्ञ द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से अभिभूत होकर नष्ट कर देना चाहते हैं, सर्वत्र संघर्ष के बीज बो देना चाहते हैं।

भारतीय संस्कृति की आगम और पुराण धारा ने इस तथाकथित ब्राह्मण और श्रमण के झगड़े को कभी का समाप्त कर दिया है और एक स्मार्त धर्म की स्थापना की है, जिसमें बौद्ध, जैन, शैव, वैष्णव आदि उस समय भारत में प्रचलित सभी धर्मों और संप्रदायों के उदात्त तत्त्वों का समावेश किया गया था। शंकराचार्य के अद्वैत दर्शन की एवं बौद्ध विज्ञानवाद की प्रत्यभिज्ञा दर्शन के रूप में नई व्याख्या प्रस्तुत की गयी थी। आज का सूफीवाद उसीसे प्रभावित है। यहाँ जातिवाद को, उसमें घुसी ऊँच-नीच की दृष्टि को पूरी तरह से नकार कर समतादृष्टि का विकास किया गया है।

भारत की आज की समस्याओं का समाधान करने के लिए हमें एक हजार वर्ष पहले की भारतीय चिन्तनधारा से जुड़ना होगा और कल्पित अथवा अकल्पित आर्य-द्रविड़, ब्राह्मण-श्रमण जैसे विवादों से हमें दूर रहना होगा। तभी हम आज की हिन्दू-मुस्लिम समस्या का समाधान कर पावेंगे, अन्यथा नहीं।

भारतीय राष्ट्रीयता आज विघटन की ओर तेजी से बढ़ रही है। देश में धर्मनिरपेक्ष जनतन्त्र प्रणाली का शासन है। समाज धर्म, जाति, भाषा और प्रान्तीयता आदि की भाँति-भाँति की व्याधियों से ग्रस्त है। भारतीय राष्ट्रीयता और संस्कृति का न तो विकास हो रहा है और न इस ओर कोई ध्यान ही दे रहा है। जनतन्त्र में बहुमत का महत्त्व है। विभिन्न मतवादों के आधार पर संघटित राजनीतिक दल आज अपना बहुमत बनाने के चक्कर में एक राष्ट्रीयता अथवा संस्कृति के आधारभूत तत्त्वों की भी उपेक्षा करने में संकोच का अनुभव नहीं करते। कुछ ऐसे भी दल हैं, जो रूस अथवा चीन से आदेश प्राप्त करते हैं। अंग्रेजी भाषा और पाश्चात्य संस्कृति एवं अंग्रेजियत के साथ अमेरिकन पद्धति का अनुकरण करने वालों का एक

बड़ा वर्ग यहाँ अभी भी कार्यरत है। यह है देश की आज आशंकाओं से भरी भयावह परिस्थिति। विघटनकारी प्रवृत्तियाँ तीव्रता से कार्यरत हैं। आज की दूषित राजनीति में इसका समाधान नहीं मिल सकता। इसके लिए सांस्कृतिक धरातल पर ही आगे बढ़ा जा सकता है। प्रार्थना सभा के माध्यम से सभी धर्मों में समन्वय बनाने का प्रयत्न कर इस मार्ग को महात्मा गाँधी ने उन्मुक्त-द्वार किया था। आज सचाई से उसीका सहारा लेने की जरूरत है। इसके लिए सबसे बड़ी आवश्यकता है, यहाँ के सभी धर्मों, वर्गों और संप्रदायों में सहिष्णुता की भावना के विकास की। महात्मा गांधी ने जीवन भर इसके लिए अथक प्रयास किया, किन्तु तब पाश्चात्य राजनीति ने यह कार्य नहीं होने दिया और अब अवसरवादी राजनीतिज्ञ इसमें बाधक बने हुए हैं। देश में एक राष्ट्र, एक संस्कृति और एक भाषा की स्थापना के बिना यह कार्य हो भी नहीं सकता। इसी तरह इस राष्ट्र में संस्कृत भाषा को उचित सम्मान मिले बिना सांस्कृतिक एवं भाषाई एकता दिवास्वप्न मात्र सिद्ध होगी।

●

संस्कृत भाषा और भारतीय संस्कृति

ब्रिटिश कुटिलनीति ने भारत के टुकड़े कर दिये। ब्रिटिश प्रशासन भारत में रहने वाले हिन्दुओं और मुसलमानों को बराबरी का दर्जा देता रहता था। अपने स्वार्थ को ऊपर रख कर यह तराजू के दोनों पलड़ों पर इनको सदा बराबरी पर रखता था। इसी आधार पर उन्होंने विश्व की प्राचीनतम भाषा संस्कृत और नवीनतम भाषा उर्दू को पंडितों और मौलवियों की भाषा मान कर बराबरी पर बैठा दिया था। ब्रिटिश प्रशासन संस्कृत भाषा के लिए जो कुछ करता था, उर्दू भाषा के लिए भी सब कुछ वही करता था। जाने-अनजाने आज भी पंडित, मौलवी और भारतीय प्रशासन उसी ढर्रे पर चल रहे हैं।

आज देश स्वतन्त्र हो गया है, तब भी प्रशासन की इस नीति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। उलटा हुआ यह है कि हिन्दी भाषा के साथ उर्दू भाषा को अधिक आदर दिया गया है और संस्कृत भाषा को तिरस्कृत-सा कर दिया गया है। संस्कृत भाषा को लेकर ब्रिटिश-जनों एवं उनके गुर्गों का दुष्प्रचार अभी भी थमा नहीं है। उसको पूरी तरह से धर्म एवं उसके प्रतिनिधि पण्डित वर्ग के साथ जोड़ दिया गया है। ब्रिटिश कुटिलनीति आज भारत के साथ जैसा व्यवहार कर रही है, भारतीय प्रशासन भी संस्कृत भाषा के साथ उसी तरह का व्यवहार कर रहा है। आजकल पूरे देश में शिक्षा के क्षेत्र में प्राथमिक एवं माध्यमिक कक्षाओं से प्रायः इसे बाहर कर दिया गया है।

विश्व के प्रायः सभी विश्वविद्यालयों में आदर के साथ पढ़ाई जाने वाली संस्कृत भाषा की भारत में हो रही उपेक्षा पर हम लोग ध्यान नहीं दे रहे हैं। देश अपने साधनों से ही सबल हो सकता है। भारतीय संस्कृति का डिण्डिम-घोष तो हम करते हैं, किन्तु

वह संस्कृति और भारत की अखण्डता जिसकी सहायता से जीवित रह सकती है, उस संस्कृत भाषा को हम सामाजिक परिवेष से दूर करते जा रहे हैं। इसराइल ने अपनी प्राचीन हिब्रू भाषा को राजभाषा बना दिया। उसके साथ हम सम्बन्ध स्थापित न कर सके और संस्कृत भाषा की हमने उपेक्षा कर दी। समय रहते हमें इस तरफ ध्यान देना होगा। अन्यथा प्रान्तीय भाषाओं के उन्नयन के साथ संस्कृत भाषा के पूरी तरह से तिरस्कृत हो जाने पर भारतीय संस्कृति ही नहीं, यह देश भी छिन्न-भिन्न हो जायगा। आज संस्कृतज्ञों में भी प्रादेशिकता की दृष्टि प्रबल हो उठी है और शिक्षा को प्रादेशिक विषय बना दिया गया है। इससे संस्कृत के प्रति अखिल भारतीय भावना शिथिल होती जा रही है। इसे रोकने के लिए संस्कृत शिक्षा को केन्द्रीय सूची में लाना जरूरी है।

संस्कृत विश्व की प्राचीनतम भाषा है। दुनिया का प्राचीनतम साहित्य इसमें सुरक्षित है। कालिदास के *'अभिज्ञानशाकुन्तलम्'* के अंग्रेजी अनुवाद के साथ इसने नई विश्वयात्रा आरंभ की और आज पूरे विश्व में इसने अपना संमानित स्थान बना लिया है। भाषाविज्ञान, देवतावाद, मानववंशवाद जैसी ज्ञान-विज्ञान की नई शाखाओं के पनपाने में इसने मुख्य भूमिका निभाई है। दुनिया का ऐसा कोई देश नहीं होगा, जहाँ संस्कृत न पढ़ाई जाती हो अथवा उस पर अनुसन्धान न हो रहा हो। खोमैनी का ईरान भी उनमें से एक है। प्राचीन ईरान के जरथुष्ट्र धर्म के आदि ग्रन्थ जेन्दावेस्ता की भाषा के थोड़े से शब्दों को बदल देने पर वह ऋग्वेद की भाषा बन जाती है। अपने अनुयायियों के साथ इस धर्म-ग्रन्थ को भारत में शरण लेनी पड़ी और शताब्दियों से यह दूध में चीनी की मिठास घोलता हुआ यहाँ शान्ति से रह रहा है, फल-फूल रहा है। संस्कृत दुनिया को एकता के सूत्र में पिरोने वाली भाषा है।

इसके विपरीत उर्दू को अपनी जुबान मानने वालों ने इस देश को ही बँटवा दिया, जहाँ यह पैदा हुई थी। इसीके कारण पाकिस्तान के भी दो टुकड़े हो गये। उर्दूभाषी पाकिस्तानी मुजाहिदीन तो अपने किये पर पछता ही रहे होंगे, लेकिन आखिर में उर्दू को अपनी जन्मभूमि भारत में ही शरण लेनी पड़ेगी। दोष भाषा की नहीं, संस्कृति का है। वेदों को भाँडों, धूर्तों और राक्षसों की रचना बताने वाले चार्वाक दर्शन के प्रवक्ता देवगुरु बृहस्पति माने जाते हैं। दूसरी वह भी संस्कृति ही है, जो अपने खिलाफ आवाज उठाने वाले अपने भाई-बहनों के लिए भी मौत का फलवा जारी कर देती है। इस्लाम का भाईचारे का घेरा क्या अपने तक ही सीमित नहीं है?

एक हजार वर्ष की विपरीत परिस्थितियाँ जिस भाषा को मिटा न सकीं, उस भाषा को जीवित रहने के लिए आज किसी का मुहताज होने की जरूरत नहीं है, वह अपने बलबूते और गुणवत्ता के आधार पर अनन्त काल तक सुरक्षित रहेगी। आज भारतीय संस्कृतज्ञों की अपेक्षा विदेशी विद्वान् अधिक मनोयोग से इसकी सेवा कर रहे हैं।

यह हमारा दुर्भाग्य है कि दक्षिणभारत के तमिलनाडु प्रदेश में आर्य-द्रविड़ का विवाद खड़ा कर हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि के साथ संस्कृत भाषा का भी विरोध किया जा रहा है, जबकि वास्तविक स्थिति यह है कि द्रविड़ देश में उपजी भक्ति और भक्तों की वाणी से ही आजकल पूरा देश आप्यायित है। शंकर, रामानुज, निम्बार्क, मध्व, वल्लभ जैसे सभी आचार्य दक्षिण के ही हैं और इनके द्वारा रचित संस्कृत ग्रन्थों का प्रामाण्य पूरे देश को अभिप्रेत है। संस्कृत पूरे देश को एक सांस्कृतिक सूत्र में पिरौने वाली भाषा है। जिन ऐतिहासिकों का ऐसा कहना है कि पूरे भारत पर कभी भी एक केन्द्रीय शासन की स्थापना नहीं हुई थी, वे सब भी पूरे देश की एक केन्द्रीय भाषा संस्कृत ही थी, इस पर एकमत हैं। अब भी इस देश को एकताबद्ध करने की सामर्थ्य इसी भाषा में है। सम्पूर्ण राष्ट्र के हित के लिए यह आवश्यक है कि तमिलनाडु में ही नहीं, समस्त भारत में देवालयों, पाठशालाओं और शोधसंस्थानों के माध्यम से संस्कृत भाषा को सर्वविध संरक्षण प्राप्त हो।

यह प्रसन्नता की बात है कि भारत के विभिन्न भागों से दैनिक, साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक और त्रैमासिक संस्कृत पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन होता रहता है और इनको राजकीय सहायता भी मिलती है। इतने पर भी संस्कृत पत्रकारिता की सबसे बड़ी त्रासदी यह है कि किसी अतिसाहसी संस्कृत विद्वान् द्वारा प्रारम्भ की गई पत्र-पत्रिकाएँ उसके न रहने पर मुश्किल से ही जी पाती है। इसका प्रमुख कारण स्वयं संस्कृतों की उपेक्षा है। उनमें भी संपूर्ण भारत के प्रति एकता की दृष्टि शिथिल होती जा रही है और प्रादेशिकता का संस्कार तीव्रता से बढ़ रहा है। प्रशासन के द्वारा संस्कृत शिक्षा को धन उपलब्ध कराये जाने के बाद संस्कृतज्ञों में अर्थलोलुपता भी बढ़ रही है। इतना ही नहीं, आधुनिक राजनीतिज्ञों की तरह संस्कृतज्ञों में भी उनका अनुकरण करने की लालसा जग गई है। संस्कृत शिक्षा का संचालन आजकल लगभग ऐसे ही हाथों में चला गया है। इस तरह की प्रवृत्तियाँ संस्कृत भाषा और भारतीय संस्कृति के विकास में भी बाधक बन सकती हैं। इसे रोका जाना चाहिए।

संस्कृत शिक्षा के सामने सबसे बड़ी बाधा यह है कि इसको प्रान्तीय विषय बना दिया गया है। प्रत्येक राज्य की संस्कृत शिक्षा की अपनी व्यवस्था है और दूसरे राज्य की संस्कृत शिक्षा के साथ इसका संपर्क-सूत्र जोड़ने वाली कोई कड़ी नहीं है। फलतः संस्कृत शिक्षा में भी आज प्रान्तीय भाषाओं की संकीर्णता ने प्रवेश पा लिया है और उसका अखिल भारतीय स्वरूप लुप्त होता जा रहा है। यह संकीर्ण भावना कम-ज्यादा सभी राज्यों की संस्कृत संस्थाओं में अपना प्रभाव दिखला रही है। इससे पूरे देश में एक राष्ट्रीयता की भावना शिथिल पड़ती जा रही है। देश में एक राष्ट्रीयता और एक संस्कृति के विकास के लिए यह आवश्यक है कि संस्कृत शिक्षा को प्रान्तीय विषयों

की सूची से निकाल कर केन्द्रीय सूची में शामिल किया जाय और प्रत्येक राज्य की शिक्षा में इसका अनिवार्य रूप से समावेश हो।

भाषा को धार्मिक बाना पहनाना एक असंगत और आरोपित विचार है। दुर्भाग्य से भारत में संस्कृत को इसी दृष्टिकोण से देखा जाने लगा है। यह उचित नहीं है। उपनिषदों के विश्वबन्धुत्व की, बुद्ध की महाकरुणा और महावीर की तपस्या की भावना की वाहिका यह भाषा आज विश्वभाषा है। किसी संकीर्ण विचारधारा का वर्चस्व इस पर कथमपि मान्य नहीं होना चाहिए। संस्कृत भाषा त्याग और तपस्या, सहिष्णुता और समन्वय की प्रतीक मानी जाती है। आज इसको दूषित करने का प्रयत्न चल रहा है। इसको फलीभूत नहीं होने देना चाहिए।

देश में पाश्चात्य पद्धति की शिक्षा के प्रचलित होने के बाद इस संस्कृत भाषा में सुरक्षित निधि पर हमारी आस्था कम होने लगी है। इस पुरातन ज्ञान-विज्ञान से नवीन ज्ञान-विज्ञान को जोड़ने का कोई प्रयत्न नहीं हुआ है। यह सही है कि ज्ञान-विज्ञान की अनेकों नवीन शाखाओं का विश्व में उन्मेष हुआ है और होता जा रहा है, तो भी पुरातन ज्ञान से नये ज्ञान को जोड़ने का प्रयत्न तो होना ही चाहिए। ज्ञान और विज्ञान को देश तथा काल की सीमा से बाँधना उचित नहीं है। यह तो पूरे विश्व की संपत्ति है। आधुनिक पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान को आज हमें भी उसी मनोवृत्ति के साथ ग्रहण करना होगा, जिस प्रकार प्रसिद्ध ज्योतिर्विद् वराहमिहिर ने यवनों को ऋषितुल्य पूज्य मानकर उनसे विद्या ग्रहण की थी। भारतीय अंकविज्ञान और उसकी दशमलव पद्धति आज पूरे विश्व की संपत्ति है, उसी प्रकार ज्ञान और विज्ञान के क्षेत्र में अन्तिम तथ्य पूरे विश्व की सम्पत्ति बनेगा। हाँ, इतना जरूरी है कि उसको स्वीकार करने से पहले परीक्षा अवश्य कर ली जाय।

संस्कृत भाषा और भारतीय संस्कृति का अब तक अटूट सम्बन्ध रहा है। आजकल की कुछ अवांछनीय प्रवृत्तियों को देखते हुए इस सम्बन्ध के टूटने की आशंका उपस्थित हो गई है। यह तभी निर्मूल हो सकती है, जब संस्कृत भाषा का सम्बन्ध धर्म की अपेक्षा संस्कृति से गहरा किया जाय। इस सम्बन्ध में काका कालेलकर की ये बातें विचारणीय हैं—"संस्कृत भाषा जितनी ब्राह्मणों की है, उतनी ही दूसरे सब वर्णों की है। इतना ही नहीं, संस्कृत भाषा जितनी हिन्दुओं की है, उतनी ही हिन्दुस्तान के मुसलमानों और ईसाइयों की भी है। संस्कृत में लिखे भव्य साहित्य का सत्कार हिन्दू, मुसलमान और ईसाई—तीनों समान भाव से कर सकते हैं। अगर कोई इस विरासत से मुँह मोड़ेंगे, तो वे अपने को भारतीय संस्कारों की दृष्टि से दरिद्र ही बनायेंगे" (पृ० १५८)।

संस्कृत भाषा के प्रति यह भी हमारी मूढ़ता ही है कि सन्तों की वाणियों को हम स्वयंप्रसूत मान बैठे हैं और भारतीय संस्कृति की अक्षुण्ण परंपरा से—रामायण,

महाभारत, पुराण और आगम-तन्त्रशास्त्र से उनकी संबद्धता को भुला बैठे हैं। संस्कृत भाषा के प्रति फैलाए गए द्वेष की इसमें प्रधान भूमिका है। आज अपने-अपने राज्य की भाषा का मोह उस अमृतस्रोत को सुखाने जा रहा है, जो इस दुनिया की सबसे प्राचीन, सबसे समृद्ध भाषा से प्रसूत होता रहा है, आज के कम्प्यूटर-युग में भी जिसने अपनी श्रेष्ठता स्थापित कर दी है।

विश्व की प्राचीनतम भाषाओं में संस्कृत का अपना विशिष्ट स्थान है। आजकल पूरी दुनिया में निर्विवाद रूप से यह अध्ययन और अनुशीलन की भाषा मान ली गई है। यह उच्चतम मानवीय विचारों की वाहिका वाणी है। ग्रीक, लेटिन जैसी प्राचीन भाषाओं के साथ मिलकर इसने जैसे भाषाविज्ञान, नृवंशशास्त्र सरीखी ज्ञान-विज्ञान की शाखाओं को जन्म दिया, उसी तरह से विश्वसंस्कृति के निर्माण में भी इसका महत्त्वपूर्ण अवदान हो सकता है। प्राचीन विद्याओं और भाषाओं के अनुरागियों को इस तरफ भी ध्यान देना चाहिए। तन्त्रागमीय वाङ्मय के माध्यम से यह भाषा संपूर्ण मानवता के हित में प्रवृत्त है। इसकी सहायता से हम समग्र भारतीय संस्कृति, अथ च विश्व संस्कृति का उन्मेष करने में समर्थ हो सकते हैं।

●

तन्त्रागमशास्त्र और भारतीय संस्कृति

आगम-तन्त्रशास्त्र की विभिन्न शाखाओं पर देश-विदेश में पर्याप्त काम हो चुका है और हो भी रहा है। अभी सारनाथ से *"भारतीय तन्त्रशास्त्र"* के नाम से वहाँ सम्पन्न हुई तन्त्रविषयक गोष्ठी का लगभग ७०० पृष्ठों का विवरण प्रकाशित हुआ है, जिसमें बौद्ध, जैन, शैव, वैष्णव, शाक्त और स्मार्त तन्त्रों की विभिन्न शाखाओं से संबद्ध निबन्धों के साथ उन पर हुए विद्वानों के विचार-विनिमय को भी स्थान दिया गया है। उत्तर-प्रदेश के विख्यात संस्कृत संस्थान (अकादमी) की ओर से प्रकाशित हुए *"संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास"* के अन्तर्गत भी आगम-तन्त्रशास्त्र सम्बन्धी ग्यारहवें खण्ड में उक्त विषयों के अतिरिक्त पुराण वाङ्मय में उपलब्ध आगम-तन्त्रशास्त्र से संबद्ध सामग्री का भी समावेश किया गया है। इसी विषय से संबद्ध हमारा *"तन्त्रागमीय धर्म-दर्शन"* नामक ग्रन्थ भी दो खण्डों में लगभग एक हजार पृष्ठ का अभी प्रकाशित हुआ है।

भारतीय तन्त्रागमशास्त्र का अध्ययन आजकल पूरे विश्व में बौद्ध, जैन और हिन्दू शब्दों के माध्यम से हो रहा है और हिन्दू शब्द की परिधि में वैष्णव, शैव, शाक्त और स्मार्त शाखाओं का ग्रहण किया जाता है। बौद्ध और जैन तन्त्रों के अनुशीलन के प्रसंग में हमने देखा है कि बौद्ध तन्त्र कहीं वैष्णव आगमों से तो अन्यत्र कौल तन्त्रों से समरस

है, जबकि जैन तन्त्र कहीं सिद्धान्तशैवागम के तथा अन्यत्र त्रिपुरा तन्त्रों (शाक्त) के अधिक नजदीक है। इस तरह के प्रसंगों की तुलनात्मक समीक्षा में हिन्दू शब्द पूरी तरह से असमर्थ है। स्पष्ट है कि कम से कम तन्त्रागमशास्त्र के अनुशीलन के प्रसंग में हिन्दू शब्द पूरी तरह से अनुपयोगी है।

यूरोप में फिलासफी को बुद्धि का विलासमात्र माना जाता है। उसी तरह अन्य शास्त्रों का अध्ययन भी वहाँ बुद्धिविलास के लिए अथवा धर्म-प्रचार के लिए होता है। ऐसा होना नहीं चाहिए। औद्योगिक विकास, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में वहाँ अनेक क्रान्तियाँ हुई हैं, किन्तु मानव के मन को राग-द्वेष से मुक्त करने का प्रयास नहीं के बराबर हुआ है। मानव-समाज के सामने उपस्थित होने वाली समस्याओं के समाधान के लिए भी मानसिक विश्लेषण की नई-नई पद्धतियों और दर्शनों की उद्भावना होती रहनी चाहिए। हमने *"तन्त्रागमीय धर्म-दर्शन"* में इसी विषय को स्पष्ट किया है कि यहाँ भारतीय समाज के ही नहीं, पूरी मानवता के मानसिक विकास के लिए उपयोगी सांस्कृतिक चिन्तन को इस प्रकार से प्रस्तुत किया गया है कि परलोक की चिन्ता किये बिना पूरी मानवता परस्पर के राग-द्वेष को भुलाकर सहज भाव से जी सके। भारतीय संस्कृति के संरक्षक बंगाल के राजा वल्लाल-सेन ने कालामुख, कापालिक, कौल, बौद्ध वज्रयान आदि के माध्यम से भारतीय समाज में प्रविष्ट विसंगतियों की समालोचना कर उनके परिमार्जन का स्तुत्य प्रयत्न किया था। उसी तरह का प्रयत्न आज भी अपेक्षित है।

केरल, कश्मीर और गौड़ (बंगाल) देश की पद्धतियों से त्रिविध तान्त्रिक उपासनाएँ प्रचलित रही हैं। अन्य राज्यों की अपेक्षा इनमें अपसंस्कृतियों का प्रसार त्वरित गति से हुआ, इसके कारणों की खोज होनी चाहिए। साथ ही हमें उन आवश्यक उपादानों की भी खोज करनी होगी, जिनके सहारे अभिनव भारतीय संस्कृति का वह मूल ढाँचा खड़ा किया जा सके, जो पूरी मानवता को परिष्कृत करने में समर्थ हो। ख्रीष्ट और इस्लाम धर्म भी बौद्ध, जैन, वैष्णव आदि धर्मों के समान इसमें अपना स्थान तब बना सकेंगे, जब वे अपनी आक्रामकता और हठवादिता का परित्याग कर इसके लिए सचेष्ट होंगे। सारी प्रबुद्ध भारतीयता की सहमति से यह संभव हो सकता है। संपूर्ण भारतीय प्रजा में भावात्मक एकता की स्थापना का यह प्रशस्त राजमार्ग है।

तन्त्रागमशास्त्र के आलोड़न से भारतीय संस्कृति के उत्कृष्टतम एवं उदारतम उपादानों को दुनिया के सामने लाया जा सकता है। इस तरह से भारतीय संस्कारों पर लगाये जा रहे निराधार आरोपों का समाधान भी अपने आप हो जाएगा। आवश्यकता एक ऐसे प्रयास की है, जिसमें पुराकाल के कृतान्तपंचक (सांख्य, योग, पांचरात्र, पाशुपत और वेदारण्यक) की मान्यता और पंचायतन पूजा की स्वीकृति की तरह आज

भी पूरी भारती प्रजा के लिए समरसता का नूतन आधार खोज लिया जाय। तन्त्रागमीय वाङ्मय के साथ सन्तों, भक्तों, गुरुओं और सूफियों की समरसता के सागर को मथकर वैज्ञानिक विधि से अमृत की खोज की जाय, जिस पर अपसंस्कृति-रूपी विष का अकाण्ड-ताण्डव कोई प्रभाव न छोड़ सके। तभी हम एक विश्व और एक संस्कृति की तरफ कदम आगे बढ़ा सकते हैं।

सिद्धान्तवादी अट्ठाईस शैवागमों में मुकुटसंहिता का विशेष स्थान है। इसके वचनों को उद्धृत कर कश्मीर (उत्तर) के महान् शिवाचार्य अभिनवगुप्त ने और दक्षिण (चोल देश) के महेश्वरानन्द ने समान विचार प्रकट किये हैं। उदाहरण के लिए यहाँ दो श्लोकों का अर्थ प्रस्तुत किया जा रहा है—"मायावी द्विज परित्याज्य है और सरलचित्त म्लेच्छ संग्राह्य। यह शिव को प्रिय है, चतुर्वेद का अध्येता अहंकारी ब्राह्मण नहीं। ब्राह्मण पाप करता है और शूद्र सुकृत। ऐसी स्थिति में धर्म और अधर्म के प्रति जाति की कोई भूमिका नहीं हो सकती"। अभिनवगुप्त के परमेष्ठी गुरु (चौथी पीढ़ी के) शिवदृष्टिकार सोमानन्द कालपादा संहिता के प्रमाण से श्वपचों को भी दीक्षा-योग्य मानते हैं। इस विषय की चर्चा हम पहले भी कर चुके हैं (पृ० ३८-३९)।

महाभारत और आगमशास्त्र के समान पुराणों में भी इस तरह के उदारवादी वचन पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। आज भारतीय समाज की जिन समस्याओं को बढ़ा-चढ़ाकर परोसा जा रहा है, उसका समाधान वहाँ बहुत पहले खोज लिया गया था और पूरे भारत की सन्त-परम्परा उसी मार्ग का उद्घोष कर रही है। यह भी हमारी मूढता ही है कि इन सन्तों को वाणियों को हम स्वयंप्रसूत मान बैठे हैं और भारतीय संस्कृति की अक्षुण्ण परम्परा से—रामायण, महाभारत, पुराण और आगम-तन्त्रशास्त्र से, उनकी संबद्धता को भुला बैठे हैं। संस्कृत भाषा के प्रति फैलाये गये द्वेष की इसमें प्रधान भूमिका है।

आज वैदिक धर्म, बौद्ध धर्म और जैन धर्म के उस प्राचीन स्वरूप को तो जिलाने का प्रयत्न किया जा रहा है, जिनमें विषमता प्रधान थी, किन्तु धर्म और दर्शन के क्षेत्र में वैचारिक संघर्षों के कारण जो परिवर्तन आये, आगम-तन्त्रशास्त्र ने भारतीय धर्मों और दर्शनों में समन्वय स्थापित करने का जो महनीय कार्य किया, उसको हम भुला बैठे हैं। हमने एक जगह लिखा है कि धर्मों और दर्शनों में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न तन्त्रागमशास्त्र ने किया है और उसीमें यह सामर्थ्य है कि अन्ततः वह भीतर की आध्यात्मिक दृष्टि और बाह्य भौतिकवाद में भी समन्वय स्थापित कर सकेगा।

तन्त्रशास्त्र की कुछ मान्यताएँ हमारे लिए समालोच्य हो सकती हैं, किन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि हम पूरे आगमशास्त्र और तन्त्रशास्त्र का तिरस्कार कर दे। आश्चर्य इस बात का है कि तन्त्रशास्त्र का जो हेय पक्ष है, उसीसे आज के ज्यादातर

योगी, स्वामी, ब्रह्मचारी जुड़े हुए हैं और उनको सामान्य जनता में ही नहीं, भारतीय समृद्धवर्ग, राजनेतागण और बुद्धिजीवियों के बीच भी पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त है। आगमशास्त्र में ऐहिक और आमुष्मिक सामान्य सुख (अभ्युदय) के अर्थ में प्रयुक्त ***भोग*** शब्द को जिन्होंने ***संभोग*** के अर्थ में ला पटका है, उनको भगवान् से भी ऊँची जगह में पहुँचा दिया गया है।

वर्णाश्रमव्यवस्था को नये सिरे से जिलाने का प्रयत्न किया जा रहा है, *"चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागश:"* (४.१३) गीता का यह वचन इनका प्रधान संबल है। पर हम देखते हैं कि बड़े परिश्रम से कोई शास्त्री उपाधि प्राप्त करता है, दो तीन या चार वेदों को पढ़कर नये सिरे से द्विवेदी, त्रिपाठी, चतुर्वेदी बन पाता है, किन्तु उसके उत्तराधिकारी बिना परिश्रम के ही अनायास इन उपाधियों को अपना लेते हैं, इनसे अपना मोह नहीं छुड़ा पाते। समाज में बुद्धिबल, बाहुबल, धनबल और श्रमबल की सदा प्रतिष्ठा रहेगी, किन्तु आज परिस्थिति पहले जैसी नहीं रह गई है। अकेली बुद्धि, अकेली शक्ति, अकेला धन, अकेला श्रम आज कुछ भी करने में असमर्थ है। सबको एक-दूसरे की अपेक्षा है। यह सब होते हुए भी हम वर्णों की और जाति-उपजातियों की शृंखला को तोड़ नहीं सकेंगे।

एक काम हम कर सकते हैं कि इनमें घुसे मिथ्याभिमान को तोड़ने का प्रयत्न करें। वह इस तरह से कि ऊँच-नीच की भावना को हम मिटा दें। धर्म, जाति, कुल, वंश, धन, विद्या और सांसारिक ऐश्वर्य के स्थान पर हम मनुष्य के चरित्र को वरीयता दें। तन्त्रागमशास्त्र ने इस कार्य को किया है। स्त्री-पुरुष और ब्राह्मण-चाण्डाल के भेद को मिटाने का भी उसने प्रयत्न किया है। बिना धर्म, जाति, विद्या और लिंग का विचार किये सन्तों को समाज में ऊँचा स्थान मिला है।

ख्रीष्टीय और इस्लामिक एकेश्वरवाद की पृष्ठभूमि में वैदिक धर्म की नई व्याख्या करने का प्रयास हुआ है। भारत में बौद्ध धर्म की पुन: प्रतिष्ठा का प्रयत्न भी थेरवाद की पृष्ठभूमि में हुआ है। इसमें महायान और मन्त्रयान को, चीनी-जापानी-तिब्बती आदि भाषाओं में हुए विशाल अनुवाद साहित्य को, उसी प्रकार भुला दिया गया है, जैसे वैदिक धर्म के पुनरुद्धारकों ने आगम-तन्त्रशास्त्र और पौराणिक वाङ्मय को नकार दिया। इस विचारधारा के समर्थक कुछ अखबार और बुद्धिजीवी भारत की दो-ढाई हजार वर्ष की वैचारिक परतन्त्रता की चर्चा करते रहते हैं। जाने-अनजाने में ऐसे विचारक पाश्चात्य दुष्प्रचार के मोहरे बन गये हैं। हमें यह समझ लेना चाहिए कि पूरी मानव जाति को उच्च मानसिक धरातल तक पहुँचाने के लिए हमें इधर दो-ढाई हजार वर्षों में विकसित उदारवादी भारतीय साहित्य का ही मुख्य रूप से सहारा लेना होगा। तभी हम भारतीय धर्म और संस्कृति पर बिना सोचे-समझे किये जा रहे मिथ्या आक्षेपों

का सही उत्तर दे सकेंगे और दुनिया के अत्यन्त पिछड़े मजहबों के चंगुल में फँसी मानवता का उद्धार कर सकेंगे। यह तभी संभव है, जब हम निगमागम के नाम से प्रसिद्ध संपूर्ण भारतीय वाङ्मय के आधार पर विकसित भारतीय संस्कृति के समग्र स्वरूप का निर्धारण कर सकें।

●

भारतीय संस्कृति का समग्र स्वरूप

डॉ० मंगलदेव शास्त्री वाराणसी की स्व० डॉ० भगवान् दास, आचार्य नरेन्द्रदेव, डॉ० सम्पूर्णानन्द की परम्परा के प्रतिनिधि विद्वान् थे। वे एक ग्रन्थ लिख रहे थे—*''भारतीय संस्कृति का विकास''*। भारतीय संस्कृति को ऐतिहासिक दृष्टि से उन्होंने सात धाराओं में विभक्त किया था—१. वैदिक, २. औपनिषद, ३. जैन, ४. बौद्ध, ५. पौराणिक (वर्तमान सनातन धर्म), ६. सन्त, ७. इस्लाम और ईसाइयत आदि। इन सभी धाराओं पर पृथक्-पृथक् ग्रन्थ लिखने का उनका विचार था। वैदिक और औपनिषद धारा पर उनके दो ग्रन्थ प्रकाशित भी हो चुके हैं। पौराणिक धारा पर भी उन्होंने लिखा था, किन्तु उसको पुस्तक का रूप नहीं दिया जा सका। तन्त्रागमशास्त्र की यहाँ उन्होंने कोई चर्चा नहीं की, किन्तु उस धारा का समावेश हम पौराणिक धारा में कर सकते हैं। हमारे मत से पौराणिक धारा में वैदिक, औपनिषद, जैन, बौद्ध धाराओं के साथ सांख्य-योग और पांचरात्र-पाशुपत (वैष्णव एवं शैव) मतों का पावन जल मिलकर बह रहा है। भारतीय संस्कृति के समग्र स्वरूप में हमने इन सबका समावेश माना है। हमारे मत में पौराणिक धारा से पहले यहाँ आगमिक धारा का विकास हुआ है।

संस्कृति की दो प्रकार की परिभाषाएँ की जाती हैं—एक व्यापक अर्थ में और दूसरी सीमित अर्थ में। पहले अर्थ में मानव के द्वारा निर्मित आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक विश्व का संस्कृति में समावेश किया जाता है, तो दूसरे में केवल मानव की भौतिक उन्नति का। इसीको हम संस्कृति के आध्यात्मिक और भौतिक पक्ष कह सकते हैं। किसी भी संस्कृति में आत्मा और विश्व के संस्कार की प्रक्रिया साथ-साथ चलती है, तो भी किसीमें आध्यात्मिक और किसीमें भौतिक पक्ष पर अधिक ध्यान दिया जाता है। बाह्य विश्व के उपभोग या भौतिक प्राप्ति को प्रधानता देना भौतिक संस्कृति का लक्षण है। इसी अर्थ में आधुनिक पाश्चात्य संस्कृति को भौतिक कहा जाता है। इसके विपरीत भाारतीय संस्कृति आत्मा की, मानव की मानसिक उन्नति की ओर विशेष रूप से ध्यान देती है। इसीलिए भारतीय संस्कृति आध्यात्मिक कही जाती है। इसका अर्थ यह नहीं है कि पाश्चात्य संस्कृति में आध्यात्मिक और भारतीय संस्कृति में भौतिक अंश हैं ही नहीं, *''प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति''* इस न्याय के

अनुसार उक्त परिभाषा में केवल उनकी विशेषता की ओर इंगित किया गया है। डॉ० गोपालस्वरूप पाठक की दी गई संस्कृति की परिभाषा की चर्चा हम पहले (पृ० ८१) कर चुके हैं। आचार्य नरेन्द्रदेव को संस्कृति की आध्यात्मिक व्याख्या अधिक पसन्द है, इसकी चर्चा आगे (पृ० १५३) की गई है। इस विषय को अधिक स्पष्ट रूप में समझने के लिए हम इनका विभाजन सभ्यता और संस्कृति के रूप में कर सकते हैं और क्रमश: इनको अर्थ और धर्म के साथ जोड़ सकते हैं। कलाओं को तो काम के साथ ही जोड़ा जा सकता है।

वर्तमान समय में भारतीय, चीनी, यूरोपीय और इस्लामिक आदि ऐसी संस्कृतियाँ विद्यमान हैं, जिनकी पूर्व-परम्परा, सैकड़ों-हजारों वर्षों की है। इन संस्कृतियों की वृद्धि अविच्छिन्नतया निकटवर्ती पारस्परिक साहचर्य एवं सहयोग के बिना हुई है, अर्थात् इनका प्रारंभिक विकास पृथक्-पृथक् रूप से हुआ है। अत एव इनमें परस्परविरोधी विशेषताओं को हम देखते हैं। उक्त विषयों के कारण ये संस्कृतियाँ परस्पर सामंजस्य के साथ निर्वाह नहीं कर पा रही हैं। इन्हीं विशेषताओं के कारण स्वतन्त्र अहंकारों तथा अभिनिवेशों का निर्माण हुआ है। सहिष्णुता और समन्वय के आधार पर ही इनमें एकरसता लाई जा सकती है।

भारत में दो तरह की दृष्टियों का साथ-साथ विकास हुआ है—एक दृष्टि है ब्रह्मसूत्र की, जिसमें वेद के सिवाय सबको नकार दिया गया है। दूसरी दृष्टि महाभारत और भगवद्गीता की है, जिसमें सांख्य और योग को ही अभिन्न नहीं बताया गया, अपितु उस समय प्रचलित सभी दृष्टियों में समन्वय स्थापित करने का भी स्तुत्य प्रयास किया गया है। भगवत्पाद शंकराचार्य ने पहली दृष्टि का समर्थन किया। जाने-अनजाने स्वामी दयानन्द ने भी अपने ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश में ब्रह्मसूत्र के तर्कपाद की पद्धति से ही अवैदिक मतों की समालोचना की, जबकि दक्षिण के शैव और वैष्णव सन्तों ने एवं उत्तर के सिद्धों, नाथों, सन्तों और गुरुओं ने दूसरी दृष्टि को श्रेयस्कर माना। आगम और तन्त्रशास्त्र की पृष्ठभूमि में ही यह सब कुछ हो सका। वे भगवान् बुद्ध और महावीर के सार्वभौम उपदेशों को स्वीकार करने में परहेज नहीं करते। वैष्णव और शैव आगमों ने इस ओर क्रान्तिकारी कदम उठाये। न जाने क्यों भारतीय समाज में यह दृष्टि आज धूमिल हो गई है। इस समग्र दृष्टि के बिना हम एक विश्व और एक संस्कृति के निर्माण में समर्थ नहीं हो सकते।

कुछ भद्र पुरुष संस्कृति शब्द पर ही आपत्ति करते हैं। उनका कहना है कि यह एकदम पश्चिम का शब्द है, जो 'कल्चर' शब्द का अनुवाद होकर आया है। भारतीय साहित्य में इस शब्द का प्रयोग कहीं नहीं मिलता। इसके स्थान पर 'कृष्टि' शब्द के प्रयोग की भी कुछ लोग सिफारिश करते हैं। गीता के शब्दों में इस पर इतना ही कहा

जा सकता है कि ज्ञान सरीखी कोई पवित्र वस्तु नहीं है *(नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते)*। ज्ञान कहीं का भी रहे, वह ग्राह्य होना चाहिये। हाँ, इतना जरूरी है कि उसका सचेत अध्ययन किया जाय। 'संस्कृति' पूरे विश्व को जोड़ने वाला शब्द है। इसमें यदि भारतीयता के उपादानों का भी समावेश करें, तो एक विश्वसंस्कृति का निर्माण अनायास हो सकता है।

यह बात भी सही नहीं है कि इस शब्द का प्रयोग भारतीय साहित्य में कहीं नहीं हुआ। प्रायः वर्तमान अर्थ में ही यह शब्द शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिनसंहिता (७.१४) में मिलता है। *'यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्'* विश्वभारती शान्तिनिकेतन का यह आदर्श वाक्य भी वहीं (३२.८) से लिया गया है। मीमांसाशास्त्र में कर्मभेद के विवरण में संस्कृति के साथ विकृति शब्द भी प्रयुक्त है। शुक्ल और कृष्ण यजुर्वेद की अन्य संहिताओं में तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी इस शब्द की उपस्थिति की सूचना मिलती है। इस स्थिति में संस्कृति के स्थान पर 'कृष्टि' शब्द के प्रयोग की कोई आवश्यकता नहीं है। इतना अवश्य समझ लेना चाहिए कि मात्र संगीत, नृत्य, चित्र, स्थापत्य आदि कलाओं का ही इसमें समावेश नहीं होगा, प्रत्युत नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों तथा परम्पराओं का भी इसमें अनिवार्य रूप से समावेश किया जायगा। जैसा कि अभी (पृ० ९३) बताया, इनको हम सभ्यता और संस्कृति का अलग-अलग नाम भी दे सकते हैं। इस दृष्टि से देखने पर संस्कृति का एक ही दोष हमारी नजर में आता है कि प्रायः प्रत्येक धर्म के अनुयायी को अपने धर्म के लोप का खतरा इसमें दिखने लगता है।

भारतीय संस्कृति पर हिन्दी भाषा में अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं, किन्तु उनमें कहीं भी तन्त्रागमशास्त्र के अवदान की चर्चा नहीं आती। सिद्धों, नाथों और सन्तों के अवदान को वहाँ इस रूप में प्रस्तुत किया गया है, जैसे उनका अपनी पुरातन परम्परा से कोई सरोकार न हो। इसका कारण यह है कि विगत सौ-डेढ़ सौ वर्षों में हुए सुधारवादी आन्दोलन ने इसकी ओर से आँखें मूँद ली हैं। प्रत्यभिज्ञा दर्शन की अपेक्षा शांकर वेदान्त और बौद्ध दर्शन को यहाँ वरीयता दी गई है एवं पूरी ताकत से तन्त्रशास्त्र की निकृष्टता को उजागर किया गया है। इसमें एकमात्र अपवाद हैं—योगी अरविन्द। तन्त्रागमशास्त्र के अध्ययन को नई दिशा देने का प्रमुख श्रेय महामनीषी श्री श्री गोपीनाथ कविराज जी के पक्ष में जाता है, जिन्होंने तन्त्रागमशास्त्र के उत्कृष्ट अवदानों को उजागर कर, पूरी भारतीय परम्परा में उसकी इस टूटी हुई कड़ी को जोड़कर समग्र भारतीय संस्कृति के निर्माण का पथ प्रशस्त किया है। हमारा निश्चित मत है कि पुराणों पर और वर्तमान सभी भारतीय धर्मों और संप्रदायों पर वेदों की अपेक्षा तन्त्रागमशास्त्र का अधिक गहरा प्रभाव है। इस प्रभाव की अनदेखी कर किया गया वेदों का और

मनुस्मृति जैसे धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों का अध्ययन ही भारतीय संस्कृति पर ब्राह्मणवादी और मनुवादी होने जैसे अनर्गल आक्षेपों के लिए जिम्मेदार है। इन्हीं मिथ्या आक्षेपों के सहारे सारी भारतीय प्रजा को भ्रमित कर धर्म-निरपेक्षता के झण्डे तले उसे जुटाने का जतन किया जा रहा है। भारतीय संस्कृति पर यह एक प्रकार का अपसंस्कृति का हमला ही माना जायगा।

भारतीय संस्कृति के समग्र स्वरूप के निर्धारण की प्रक्रिया में आई एक बुनियादी त्रुटि की ओर हम विद्वानों का ध्यान क्षमाप्रार्थना के साथ आकृष्ट करना चाहते हैं कि बौद्ध दृष्टि को यहाँ जरूरत से ज्यादा स्थान मिल गया है और जैन दृष्टि को एक तरह से आँख-ओझल कर दिया गया है। अहिंसा का उपदेश जैन धर्म की विशेषता है। वैष्णवों ने भी इसे स्वीकार किया। वर्तमान काल में गुजरात में प्रभावी इन दोनों धर्मों से ही महात्मा गाँधी की अहिंसा उपजी है।

इन पंक्तियों के लेखक का यह निश्चित मत है कि भारतीय धर्म, दर्शन और तदाधारित संस्कृति के समग्र स्वरूप का निर्धारण एक हजार वर्ष पहले कश्मीरी विद्वान् अभिनवगुप्त के द्वारा प्रतिपादित प्रत्यभिज्ञाशास्त्र की पृष्ठभूमि में किया जाना चाहिए। इसके अभाव में भारत अपसंस्कृतियों के प्रभाव से मुक्त नहीं हो सकेगा।

अभिनवगुप्त की इस निगमागमीय दृष्टि का विवेचन करने से पहले हम समग्र भारतीय संस्कृति के कुछ साधक-बाधक तत्त्वों की चर्चा करना चाहते हैं। जैसा कि बताया गया है, सहिष्णुता और समन्वय भारतीय संस्कृति की विशेषता रही है। धर्म की भिन्नता हमारे लिए कोई समस्या नहीं है, समस्या है विभिन्न धर्मों के अनुयायियों में व्याप्त आपसी घृणा। इस घृणा को हटाने के लिए हमें भारतीय संस्कृति के साधक एवं बाधक तत्त्वों की समीक्षा करनी होगी। हमारी समझ में बाधक तत्त्वों की समीक्षा के बाद साधक तत्त्वों को दिखाना ठीक रहेगा।

बाधक तत्त्व

१. बौद्ध और जैन परम्परा पर उपनिषदों एवं सांख्य-योग दर्शन का तथा भागवतों और पाशुपतों की प्राचीन परम्परा के प्रभाव का, इसी तरह महाभारत और पुराण साहित्य पर शैव और वैष्णव मतों के अतिरिक्त बौद्ध और जैन मतों के प्रभाव का अभी तक सही मूल्यांकन नहीं हो पाया है। संस्कृति के क्षेत्र में बौद्ध-जैन मत की और तन्त्रागमीय दर्शन की पूरी उपेक्षा भारतीय संस्कृति का पहला बाधक तत्त्व है।

२. धर्मान्तरण और धार्मिक हठवादिता को प्रोत्साहन देना संस्कृति का दूसरा बाधक तत्त्व है। प्रो० मुकुटबिहारी लाल ने किसी मुस्लिम राजनेता को उद्धृत करते हुए लिखा है कि मुट्ठी भर पारसी सैकड़ों वर्षों से यहाँ शान्ति से रह रहे हैं। उनके सामने

कभी कोई खतरा नहीं आया, तो करोंड़ों की संख्या में पूरे देश में फैले मुसलमानों के सामने खतरा कहाँ से आने वाला है ? यह सोचने की बात है। वास्तव में इस्लाम के सामने कोई खतरा नहीं है, किन्तु इस्लाम धर्म की मध्यकालीन सर्वक्षार प्रवृत्ति उसका पिण्ड नहीं छोड़ रही है। वह अब भी पूरे संसार पर छा जाने का सपना देख रही है। इस प्रवृत्ति के रहते एक भारतीय संस्कृति केवल स्वप्नविलास है।

३. यूरोप अपने तो अनेक टुकड़ों में बँटा ही है, भारत में भी उसने आर्य-द्रविड़ सरीखे अनेक विवादों को जन्म देकर अलगाव के बीज बो दिये हैं। रही-सही कमी की पूर्ति पूरे भारत में फैली ईसाई मिशनरियाँ कर रही हैं। प्राचीन भारत के बौद्ध भिक्षुओं की निःस्वार्थ सेवा-भावना से ये कोसों दूर हैं। कम्युनिस्टों का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद वर्गविद्वेष और हिंसा की आग को हवा दे रहा है। कम्युनिज्म से प्रभावित भारतीय रचनाकार प्राचीन भारतीय साहित्य से पिण्ड छुड़ाकर यूरोप और अमेरिका की दौड़ में शामिल हो गये हैं। हिन्दीभाषी क्षेत्र इनमें सबसे आगे है। कबीर इनकी दृष्टि में स्वयंस्फूर्त प्रतिभा है। इस तरह का निराधार अध्ययन संस्कृति का तीसरा बाधक तत्त्व है।

४. बाबरी मस्जिद व राम-जन्मभूमि विवाद ऐसे साहित्यकारों की दृष्टि में धार्मिक प्रश्न है और धर्म को तो कम्युनिस्ट अफीम मानते ही हैं। वास्तव में यह धार्मिक प्रश्न न होकर सांस्कृतिक समस्या है। अन्धी धार्मिकता के नाम पर किये गये इस प्रकार के अतिक्रमणों को जब तक हटाया नहीं जायगा, तब तक हठवादिता को ही प्रश्रय मिलता रहेगा और बची-खुची सहिष्णुता और समन्वय के स्रोत भी सूखते चले जायेंगे। इस्लाम की हठवादिता को घटाने तथा उसके भाई-चारे के क्षेत्र को बढ़ाने का एकमात्र उपाय है—इस तरह के सभी पुराने अतिक्रमणों को हटाना। इस्लाम का भाई-चारा क्या अपने घरौंदे तक की सीमित रहेगा ? इस तरह की समस्याओं का समाधान न हो पाना संस्कृति का चौथा बाधक तत्त्व है। वोट-बटोरू क्षुद्र राजनीति इस तरह के शुभ कार्यों को न तो स्वयं कर सकती है और न दूसरों को करने दे सकती है। उदारचेता इस्लामिक विद्वानों की सहायता से यह शुभ कार्य हो सकता है।

५. *'सेक्युलर'* शब्द का *'धर्म-निरपेक्ष'* अनुवाद भारतीय सांस्कृतिक दृष्टि के विपरीत है। भारतीय चार्वाक दृष्टि के अनुसार *'सेक्युलर स्टेट'* का अनुवाद *'लोक राज्य'* किया जा सकता है अथवा मूल अंग्रेजी शब्द को ही प्रचलन में आया जा सकता है। आजकल इसका विपरीत अर्थों में प्रयोग संस्कृति का पाँचवां बाधक तत्त्व है।

इन तथा इसी तरह के अन्य बाधक तत्त्वों से निजात पाने के लिए हमें ऐसे साधक तत्त्वों की खोज करनी होगी, जो पूरे भारतीय समाज को एक सुदृढ़ आधार दे सकें, उसे एकता के मजबूत धागे में पिरो सकें।

साधक तत्त्व

१. हम देखते हैं कि संगीत, नृत्य, चित्र, स्थापत्य आदि कलाओं के माध्यम से पूरा राष्ट्र एकरस हो चुका है। जब बहादुरशाह 'जफर' कहते हैं कि मुझे दफन होने के लिए अपने वतन में दो गज जमीन न मिली, तो पूरा राष्ट्र अपने बहते हुए आँसुओं को रोक नहीं पाता। अकबर महान् और दाराशिकोह के दिखाए मार्ग से हम इस तरह की एकता की ओर डग भर सकते हैं। महान् अरबयात्री अलबेरुनी हमारे लिए प्रकाश-स्तंभ का कार्य कर सकते हैं।

२. पूरे भारत में फैले पवित्र तीर्थों, नदियों, पर्वतों और सुन्दरतम प्राकृतिक दृश्यों से भरपूर इस महान् देश के साथ हम पूरी तन्मयता से अपनी ममता को अनायास मोड़ सकते हैं। आधुनिक इतिहास के समान हम यहाँ के मध्यकालीन और प्राचीन इतिहास के साथ भी अपना नाता जोड़ सकते हैं। वैदिक वाङ्मय और संस्कृत भाषा आज प्राचीनतम साहित्य और भाषा के रूप में पूरे विश्व में मान्य हो चुके हैं। सभी भारतीय भाषाओं में आज भी संस्कृत भाषा[७] सर्वाधिक सम्पन्न और व्यवहार्य है। इसका आदर करना तो हम सीख ही सकते हैं।

३. गीता कहती है कि सभी महान् विभूतियाँ और तेजस्वी व्यक्तित्व भगवान् के ही अंश हैं। इस संसार के सभी धर्म-प्रवर्तकों, आचार्यों और अवतारों के प्रति हम अपना आदरभाव तो प्रकट कर ही सकते हैं।

४. कुछ पूर्वाग्रहों को छोड़कर यदि हम पर्वों को मनावें, झगड़ा करने की मंशा के बिना उत्सवों का आयोजन करें, तो इन अवसरों पर दिखाई पड़ने वाली कटुता और हिंसा का वातावरण स्वतः धीरे-धीरे समाप्त हो सकता है। मस्जिदों के पास बाजे बजाना, कुर्बानी के लिए गाय को चुनना, एक-दूसरे के खिलाफ नारेबाजी करना जैसे दुराग्रहों[८] को हम अनायास छोड़ सकते हैं।

५. यहाँ रह रहे समुदायों में परस्पर के प्रति कुछ निराधार अथवा साधार आशंकाएँ घर करके बैठी हुई हैं। पाकिस्तान के बनने से वे और गहरा गई हैं। पाकिस्तान के और पाकिस्तानी मनोवृत्ति के रहते हुए भी हम इन आशंकाओं के निराकरण का रास्ता खोज सकें, तो अवश्य ही समग्र भारतीय संस्कृति के निर्माण का पथ प्रशस्त हो सकता है।

६. हिन्दूकरण, भगवाकरण जैसे शब्दों के स्थान पर हमें भारतीयकरण की प्रक्रिया को स्वीकार करना चाहिए। धर्म और संस्कृति[९] के अन्तर को हम तालाब के बंधे पानी

---

७. यहीं का "संस्कृत भाषा और भारतीय संस्कृति" (पृ० ८४-८८) शीर्षक प्रकरण देखिए।
८. यहीं का "दुराग्रह (असहिष्णुता) से मुक्ति" (पृ० ३८-४२) शीर्षक प्रकरण देखिए।
९. यहीं का "धर्म और संस्कृति का अन्तर" (पृ० ७७-८१) शीर्षक प्रकरण देखिए।

और नदी के बहते पानी के रूप में देख सकते हैं। आर्य-द्रविड़, सिन्धु-सभ्यता जैसे विवाद भारतीयता को नष्ट करने के लिए उभाड़े गये हैं। पाँच हजार वर्ष ही सही, इस काल में विकसित पूरी भारतीयता को हमें आदरदृष्टि देनी ही चाहिए।

ऊपर निर्दिष्ट बाधक तत्त्वों के निराकरण एवं साधक तत्त्वों के स्वीकरण से ही समस्त भारतीय प्रजा में भावात्मक एकता स्थापित हो सकेगी। इसके लिए अब अभिनवगुप्त की पद्धति से निगमागमशास्त्र की समीक्षा की जा रही है।

●

निगमागम विवेचन (भावात्मक एकता)

सन्त तुलसीदास अपने रामचरितमानस को नानापुराण-निगमागम-संमत बताते हैं। यहाँ *निगम* शब्द वैदिक वाङ्मय का और *आगम* शब्द तन्त्रागमशास्त्र का बोधक है। कश्मीर के महान् आगमाचार्य श्रीमान् अभिनवगुप्त ने भी निगम पद के इसी अर्थ को मान्यता दी है। वे ई० प्र० वि० वि० में निगम पद की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि धर्म को समझने के लिए हमारे जानने लायक उपायों की निश्चित सूचना देने वाला शास्त्र *निगम,* अर्थात् वेद है—*''वेद्यं धर्माद्युपायं निश्चितं गमयतीति निगमो वेदः''* (भा० १, पृ० १५)। आगम पद की व्याख्या वे भिन्न पद्धति से करते हैं। तन्त्रालोक में वे कहते हैं कि समस्त जागतिक ज्ञान, पुरातन व्यवहार और प्रसिद्धि को *आगम* के नाम से जाना जाता है—

इह तावत् समस्तोऽयं व्यवहारः पुरातनः।
प्रसिद्धिमनुसन्धाय सैव चागम उच्यते॥ (३५.१-२)

प्रसिद्धि की भी परिभाषा उन्होंने वहीं बताई है कि प्रामाणिक व्यक्ति के द्वारा उपदिष्ट वचन ही प्रसिद्धि की परिधि में आते हैं—*''प्रसिद्धिश्चाविगानोत्था प्रतीतिः शब्दनात्मिका''* (३५.१९)। ई० प्र० वि० वि० में ही वे कहते हैं कि आगमीय ज्ञान की संक्रान्ति एक शरीर से दूसरे शरीर में (गुरु से शिष्य तक) शब्द के माध्यम से होती है। इसमें वे भगवान् अनन्त के वाक्य को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत करते हैं कि दूसरे व्यक्ति तक अपने ज्ञान को पहुँचाने के लिए शब्द की सहायता ली जाती है—*''आगमो हि नामायं शब्दनसंक्रान्तिशरीरः। यथाह भगवाननन्तः—परत्र स्वबोधसंक्रान्तये शब्देनोपदिश्यते''* (भा० ३, पृ० ८९)। योगसूत्र के व्यासभाष्य (१.७) में यह वाक्य आनुपूर्वी से मिल जाता है।

इस विषय को आगे बढ़ाते हुए वे कहते हैं कि आगम पद उस व्यक्ति के लिए उस शास्त्र का वाचक माना जायगा, जिस पर उसका विश्वास जम गया है—*''स च यो यस्य हृदये निरूढिमागतः स एव''* (भा० ३, पृ० ९६)। वे पुनः कहते हैं कि बुद्ध

कोई निश्चित व्यक्ति नहीं है। अपनी भावना के सहारे क्षणिकवाद आदि में जो दृढ़ आस्था जमा लेता है, वही बुद्ध हो जाता है। वर्तमान बुद्ध में इस ज्ञान का संचार पूर्व बुद्ध ने किया था और उसमें भी उससे पूर्व के बुद्धि ने। इस तरह से परमेश्वर की विमर्श शक्ति ही वस्तुत: इस ज्ञान की भी उपदेष्ट्री सिद्ध होती है। इसी तरह से प्रकृति आदि चौबीस तत्त्वों की भावना का उपदेश देने वाले कपिल मुनि के विषय में भी समझना चाहिए—*''नहि बुद्धो नाम नियत: कश्चित्, अपि तु भावनाबललब्ध-क्षणिकादिदृढ़विमर्श:। तस्य क्षणिकादिभावनोपदेशी गुरु: पूर्वबुद्ध:, तस्याप्यन्य इति क्रमेणानियतवक्तृकत्वात् पारमेश्वरविमर्शमयतैव वस्तुत: [उपद्रेष्टी]। एवं चतुर्विंशतितत्त्वभावनाभावित: कपिलो मन्तव्य:। अत एव सर्वागमा अनादय: एव''* (भा० ३, पृ० ९७-९८)।

कहने का अभिप्राय यह है कि सभी आगम अनादि काल से गुरुशिष्य-परम्परा के माध्यम से निरन्तर चले आ रहे हैं। इस पद्धति से हम सांख्य, योग, पाशुपत, पांचरात्र, बौद्ध, जैन आदि सभी शास्त्रों का आगमशास्त्र में समावेश कर सकते हैं।

इस प्रसंग में अभिनवगुप्त ने ही वराहमिहिर के उस प्रसिद्ध श्लोक को उद्धृत किया है, जिसमें भागवत, सौर, शैव आदि मतों की चर्चा करते हुए बताया गया है कि जो व्यक्ति जिस देवता की उपासना करता है, उसको यह उपासना उक्त शास्त्र में प्रदर्शित विधि के अनुसार ही करनी चाहिए—

विष्णोर्भागवता मगाश्च सवितुः शम्भोः सभस्मद्विजा
मातृणामथ मातृमण्डलविदो विप्रास्त्वथ ब्रह्मणः।
शाक्याः सत्त्वहिताय बुद्धवपुषो नग्नास्तथैवार्हतो
यैर्यो देव उपास्यते स्वविधिना तैस्तस्य कार्या क्रिया॥

(ई० प्र० वि० वि०, भा० ३, पृ० १००)

वराहमिहिर की बृहसंहिता (५९.१९) में यह श्लोक उपलब्ध है।

वराहमिहिर का वह श्लोक भी बहुत प्रसिद्ध है, जिसमें वे कहते हैं कि म्लेच्छों (यवनों) में ज्योतिषशास्त्र व्यवस्थित रूप से विद्यमान है, अत: उनका भी ऋषियों के समान आदर किया जाता है—*''म्लेच्छा हि यवनास्तेषु सम्यक् शास्त्रमिदं स्थितम्। ऋषिवत् तेऽपि पूज्यन्ते''*। इसकी चर्चा एकाधिक बार पहले भी हो चुकी है।

इस पूरे प्रकरण के आलोक में यह कहा जा सकता है कि आज पूरी दुनिया में वर्तमान सभी धर्मों के आकर-ग्रन्थों का निगमागमशास्त्र में समावेश किया जा सकता है, क्योंकि इन सभी धर्मों के उपदेष्टाओं ने समाधि अवस्था में प्रादुर्भूत प्रातिभ ज्ञान के सहारे इनको प्राप्त किया था। अत: इनकी आप्तता में हमें किसी प्रकार का संशय नहीं रहना चाहिए।

निगमागम का पुराणों पर प्रभाव

पुराण वेदार्थ के उपबृंहक हैं, इस विषय पर तो अनेक विद्वानों ने विचार किया है, किन्तु पुराणों में आगमार्थ का भी उपबृंहण हुआ है, इस विषय पर अभी विचार नहीं के बराबर हुआ है। अग्निपुराण के ३९-७० अध्याय हयशीर्ष पांचरात्र के आदिकाण्ड में तथा वहीं के ७१-१०६ अध्याय सोमशंभु-कृत कर्मकाण्डक्रमावली में आनुपूर्वी से मिलते हैं। सोमशंभु ने संवत् ११३० में इस ग्रन्थ को पूरा किया और उसका यह प्रकरण *लीलावती* नामक शिवागम की सहायता से लिखा गया था। वैरोचन-कृत *प्रतिष्ठालक्षणसारसमुच्चय* (२.१७९-१८१) में शिवोक्त २१ प्रतिष्ठा-तन्त्रों के नाम दिये गये हैं। ये नाम शैवागमों, उपागमों अथवा उपपुराणों की सूचियों से मिलते हैं। यहाँ (२.१५६) बताया गया है कि लिंग, प्रासाद, द्वार, मण्डप आदि के बनाने और उनकी प्रतिष्ठा करने की विधि वेदों में वर्णित नहीं है। बृहन्नारदीय (२.२४. १९-२१) में भी उन विषयों की सूची दी गई है, जिनका वर्णन वैदिक वाङ्मय में नहीं है। पुराणों में ये सब विषय आगम अथवा तन्त्रशास्त्र से ही लिये गये हैं। भविष्यपुराण (२.१.११.१) में वृक्ष, आराम (उद्यान), वापी, कूप, तटाक (तालाब) आदि की प्रतिष्ठा तान्त्रिक विधि से ही वर्णित है।

इष्ट और पूर्त—ये दो धर्म के अंग माने गये हैं। भोजदेव के तत्त्वप्रकाश के व्याख्याकार कुमारदेव का कहना है कि इष्ट वैदिक धर्म का और पूर्त तान्त्रिक धर्म का अंग है। हम कह सकते हैं कि इष्ट पारलौकिक धर्म है और पूर्त ऐहलौकिक। इष्ट धर्म में यज्ञ-याग आदि की और पूर्त में वृक्ष, आराम आदि के निर्माण की विधि का समावेश किया गया है। पुराणों में इष्ट और पूर्त—इन दोनों ही प्रकार के धर्मों का विशद वर्णन मिलता है। इसी तरह मूर्ति, प्रासाद आदि के निर्माण और प्रतिष्ठाविधि का तथा वापी, कूप आदि के निर्माण और प्रतिष्ठाविधि का वर्णन भी पुराणों में आगमशास्त्र से ही लिया गया लगता है।

इससे आगमों का पुराणों पर प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। बृहन्नारदीयपुराण (१.६३.१३) में पति-पशु-पाशात्मक तथा ज्ञान-क्रिया-योग-चर्यात्मक शैवागमों में प्रतिपादित विषयों का वर्णन मिलता है। कूर्मपुराण की ईश्वरगीता में भी स्पष्ट ही शैव सिद्धान्तों की छाप है। वैष्णवागमों का चतुर्व्यूह सिद्धान्त और प्रादुर्भाववाद (अवतार) महाभारत के नारायणीयोपाख्यान, पद्मपुराण आदि में स्पष्ट ही उपबृंहित है। पुराणों में अनेक पांचरात्र संहिताओं[१०] के नाम भी उपलब्ध हैं। इनमें शिव और नारायण की एकता ही नहीं प्रतिपादित है, किन्तु शक्ति, स्कन्द, गणेश, सूर्य आदि की भी उपासना

१०. ब्रह्मवैवर्तपुराण में एक स्थान पर (४.९०.४) पांचरात्र आगम की दस संहिताओं का उल्लेख है और अन्यत्र (४.१३१.२३-२६) इनके नाम मिलते हैं।

पंचायतन पूजा के अन्तर्गत समन्वित रूप से प्रपंचसार, शारदातिलक तथा अन्य स्मार्त तन्त्रों की पद्धति से वर्णित है। अग्निपुराण, गरुडपुराण आदि में विशेष रूप से और अन्यत्र भी सामान्य रूप से यह प्रवृत्ति प्राय: सर्वत्र मिलती है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि पुराणों में केवल वेदार्थ का ही उपबृंहण नहीं हुआ है, अपितु ऐसे विषयों को भी यहाँ संकलित किया गया है, जिनकी चर्चा वेदों में नहीं मिलती। इनमें से अधिकांश विषयों का संकलन आगमशास्त्र से किया गया है। इस तरह से पुराण आगमों का भी उपबृंहण करते हैं, इस विषय में किसी प्रकार के संदेह की कोई स्थिति नहीं रह जाती।

आगमशास्त्र की प्राचीनता

पांचरात्र (वैष्णव) और पाशुपत (शैव) आगमों की प्राचीनता के विषय में अब पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध हो चुके हैं। यह भी सिद्ध हो चुका है कि कृतान्तपंचक के आधार पर ही महाभारत तथा वर्तमान महापुराणों की प्रवृत्ति हुई है। आजकल के इतिहासज्ञ वायुपुराण की प्राचीन पुराणों में गणना करते हैं। ६-७ वीं शताब्दी के महाकवि बाण भट्ट के हर्षचरित में इसकी चर्चा है। इसमें पाशुपत आदि आगमों के विषय उपलब्ध हैं। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि इस तरह की बातें कोरी कल्पना की उड़ानमात्र है कि आठवीं शताब्दी से पहले आगम-तन्त्रशास्त्र की कोई स्थिति नहीं थी। अग्निपुराण, गरुडपुराण, बृहन्नारदीयपुराण की ही तरह अन्य पुराणों में भी प्रयत्न करने पर आगम-तन्त्रशास्त्र के अनेक प्रकरण पूरी आनुपूर्वी के साथ मिल सकते हैं। पौराणिकों की यह पद्धति रही है कि वे अन्य शास्त्रों से गृहीत प्रकरणों को, संबोधन आदि में थोड़ा परिवर्तन करके आनुपूर्वी से ग्रहण कर लेते हैं। अग्निपुराण को हम यहाँ प्रमाण के रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं।

दुर्गासप्तशती-पाठ के अंगभूत कीलक-स्तोत्र का पहला श्लोक *(विशुद्धज्ञानदेहाय)* भट्ट कुमारिल के श्लोकवार्त्तिक का प्रथम मंगल पद्य है। *''सर्व-मङ्गलमाङ्गल्ये''* (११.७) दुर्गासप्तशती का यह श्लोक भी ६०८ ई० में उत्कीर्ण दधिमती (मातृ) शिलालेख में उपलब्ध है। छठी शताब्दी के महाकवि सुबन्धु की *वासवदत्ता* में बौद्ध तान्त्रिक देवी *तारा* स्मृत है। उदयपुर के पुरातत्त्व संग्रहालय में सुरक्षित ४९० ई० का शिलालेख चित्तौड़गढ़ के पास विद्यमान छोटी सादड़ी के भ्रमराम्बा के मन्दिर में उपलब्ध हुआ था। दुर्गासप्तशती (११.५५) में भ्रामरी देवी के रूप में इनकी महिमा वर्णित है। ईसा-पूर्व दूसरी शताब्दी की मनसा-देवी की प्रतिमा मथुरा संग्रहालय में सुरक्षित है। इन सब उदाहरणों से शक्ति की उपासना की भी प्राचीनता सिद्ध हो जाती है। इस तरह से यही मानना उचित होगा कि पुराणों में वैष्णव, शैव, शाक्त आगमों को प्राय: प्रमाण के रूप में ही प्रस्तुत किया गया है।

निगमागम समन्वय

पुराण[११] ब्रह्मा, विष्णु और महेश को एक ब्रह्म की तीन मूर्तियाँ मानते हैं। शिव और नारायण की एकता की ये स्थान-स्थान पर चर्चा करते हैं। पुराणों के समान वैष्णव और शैव दृष्टियों में समन्वय के वाहक कश्मीर के उत्पल वैष्णव ने अपने ग्रन्थ *स्पन्दप्रदीपिका* में *मायावामनसंहिता* के प्रमाण से कहा है कि विष्णु, शिव, सूर्य, बुद्ध आदि के रूप में भगवान् एक ही हैं (पृ० ९२)। नेत्रतन्त्र (मृत्युंजयभट्टारक) के १३वें अधिकार में *जयाख्या, मायावामनसंहिता, सौरसंहिता* आदि के प्रमाण से इनकी पूजाविधि वर्णित है। विभवावतारों में भगवान् बुद्ध की गणना सर्वप्रथम पांचरात्र संहिताओं में मिलती है। वायुपुराण (१०४.१६) में ब्राह्म, शैव, वैष्णव, सौर, शाक्त और आर्हत नामक छः दर्शनों को मान्यता दी गई है। शक्तिसंगमतन्त्र (१.३.८५-८८) में तारा, त्रिपुरा और छिन्नमस्ता के भेद से छः-छः दर्शनों का वर्णन है, जिनमें बौद्ध एवं जैन दर्शन भी समाविष्ट हैं। कश्मीर में सद्योज्योति शिवाचार्य और भट्ट रामकण्ठ के सभी आगमों के प्रामाण्य के प्रतिपादक सर्वागमप्रामाण्य जैसे ग्रन्थों का उल्लेख मोक्षकारिकावृत्ति (पृ० २७५) में मिलता है।

इस विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि निगम और आगम में समन्वय का कार्य पुराण वाङ्मय द्वारा तथा अनेक आगमाचार्यों के द्वारा भी बहुत पहले किया जा चुका था। हम निगम और आगम शब्द की नई व्याख्या कर पूरे जागतिक ज्ञान का इनमें समावेश कर सकते हैं। प्रायः प्रत्येक धर्म की यह मान्यता है कि ईश्वर ने, किसी अलौकिक शक्ति ने प्रत्येक धर्म की प्रतिष्ठा की है और उस शक्ति ने मनुष्य को ज्ञान भी दिया है। ऐसे अलौकिक ज्ञान को हम निगम विभाग के अन्तर्गत रख सकते हैं तथा दिव्यौघ, सिद्धौघ और मानवौघ परम्परा द्वारा प्राप्त ज्ञान को आगम विभाग के अन्तर्गत। रामायण, महाभारत, भगवद्गीता, पुराण आदि में किये गये निगमागम धर्म के समन्वय में निगम दृष्टि की प्रधानता रही है। यहाँ दी गई निगमागम शब्दों की नई परिभाषा के अन्तर्गत आने वाले धर्मों में परस्पर समन्वय का आधार आगम दृष्टि हो सकती है, जो मानवमात्र को ज्ञान का ही नहीं, मुक्ति का भी अधिकारी मानती है। सही अर्थों में मानवाधिकारों की रक्षा तभी हो सकेगी।

तन्त्रागमीय उपासना में मानवमात्र को दीक्षा का अधिकार प्राप्त है[१२]। इसमें वर्ण या आश्रम प्रयुक्त कोई प्रतिबन्ध नहीं है। इस दृष्टि का समर्थन छान्दोग्य उपनिषत् भी

---

११. इसी अभिप्राय के (एकं ब्रह्म त्रयो भेदा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः) वचन को जैन विद्वान् आचार्य हेमचन्द्र ने भी कहीं उद्धृत किया है।

१२. मालिनीविजयवार्त्तिक (पृ० २०) में उद्धृत कालपादा के वचन में श्वपचों को भी दीक्षा का अधिकारी माना गया है। यह ग्रन्थ शिवदृष्टि में भी अनेक स्थलों पर उद्धृत है। स्पष्ट है कि तन्त्रागमशास्त्र ने पूरी मानवता को दीक्षा का अधिकार दिया है।

करती है। वहाँ के सत्यकाम जाबाल (४.४०), महिदास ऐतरेय (३.१६) और रैक्व जानश्रुति (४.१-२) के उपाख्यान इस तान्त्रिक दृष्टि का ही पोषण करते हैं। देवकीपुत्र कृष्ण और घोर आंगिरस का संवाद (३.१७.६) हमें पांचरात्र सिद्धान्तों का स्मरण कराते हैं। यहाँ (७.१०२) उल्लिखित एकायन विद्या पांचरात्र श्रुति का ही दूसरा नाम है। वहाँ (७.२.६.२) वर्णित ध्रुवा स्मृति रामानुज वेदान्त में भक्ति और प्रपत्ति के रूप में व्याख्यात है, जो उनका स्वोपज्ञ विचार न होकर परम्परा से प्राप्त हुआ लगता है। भगवद्गीता को पांचरात्र (एकायन) सिद्धान्त से अनुप्राणित माना जाता है। यहाँ (५.८) बताया गया है कि विद्या और विनय से संपन्न ब्राह्मण, गाय, हाथी, श्वान और चाण्डाल को पंडितजन समान दृष्टि से देखते हैं। वहीं (९.३२) स्त्री, वैश्य और शूद्र को भी मोक्ष का अधिकारी माना गया है। महाभारत के यहीं पहले (पृ० ४०-४२) उद्धृत तीन उपाख्यानों से इसकी पुष्टि भी होती है। इतना ही नहीं, मनुस्मृति (४.२४५) का भी कहना है कि उत्तम आचरण करने वाला और हीन भावनाओं से मुक्त ब्राह्मण श्रेष्ठता की ओर बढ़ता है तथा इसके विपरीत आचरण करने से वह शूद्र बन जाता है।

समाजवादी चिन्तक आचार्य नरेन्द्रदेव ने भारतीय संस्कृति के तीन प्रमुख तत्त्वों की चर्चा की है। उनके अनुसार भारतीय संस्कृति का सबसे प्रमुख तत्त्व विभिन्न जीवन-प्रणालियों में एकता और जीवन के हर क्षेत्र में समन्वय स्थापित करना है। इसकी दूसरी विशेषता नैतिक व्यवस्था की स्थापना तथा आचरण की शुद्धता है। अपना ध्यान रखते हुए दूसरों का भी ध्यान रखना इसका मूल मन्त्र है—*"आत्मन: प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्"*। इसका तीसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व विश्वभावना है। *"आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति"* और *"वसुधैव कुटुम्बकम्"* इसकी शिक्षा है। भारतीय संस्कृति के दो पहलू रहे हैं—एक व्यक्तिवादी तो दूसरा समष्टिवादी, अर्थात् विश्वजनीन। इन्हींको हम व्यक्तिगत मानस और लोकमानस कह सकते हैं। इन उभयविध मानसों के परिष्कार के लिए हम सभी प्राचीन संस्कृतियों के कालातीत तत्त्वों के स्थान पर नूतन नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों का समावेश कर एक समग्र विश्वसंस्कृति का निर्माण कर सकते हैं।

हमारा मत है कि ऊपर बताई गई दृष्टियों के आधार पर हम सभी धर्मों और संस्कृतियों के इस तरह के उदात्त विचारों का आलोडन कर, अपने-अपने धर्मों एवं संस्कृतियों की देश और काल के अनुरूप व्याख्या कर, उनके कालातीत तत्त्वों का परिहार एवं उपादेय तत्त्वों का संग्रह कर और उनमें परस्पर सामंजस्य बैठाकर हमें एक विश्व-संस्कृति के निर्माण के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए। इसके अभाव में परस्पर अविश्वास से ग्रस्त इस दुनियाँ में एकता स्थापित करना कठिन हो जायगा। इसके लिए

यह आवश्यक है कि हम *"परस्परदेवो भव"* इस उपनिषत्कल्प वाक्य के सहारे परस्पर के अविश्वास को हटा कर राग-द्वेष आदि से कलुषित अपने चित्त को निर्मल (प्रभास्वर) करने का प्रयास करें और धीरे-धीरे उसे विश्वाहन्ता की ओर उन्मुख करें। इस विषय को हमने आगे (पृ० १५०-१५३) अधिक विस्तार से प्रस्तुत किया है।

देश, काल आदि का भेद रहते हुए भी मानव की विचार-धारा कल्याण-मार्ग में प्राय: एक-सरीखी बहती है। भारत और यूनान के विद्वानों के विचारों की समानता इसका एक अच्छा उदाहरण है। संपूर्ण विश्व के प्राचीन और आधुनिक साहित्य में भी इस तरह की समानता खोजी जा सकती है। इसके लिए यह आवश्यक है कि हम सारे विश्व के वाङ्मय को देश, धर्म आदि की सीमा से हटाकर काल-क्रम से हुए इसके विकास अथवा ह्रास का क्रमिक अनुशीलन करें। तभी मानव मन के विकास अथवा ह्रास के क्रम को सही रूप से समझा जा सकेगा। काल-क्रम और देश(स्थान)-क्रम से विकसित भारतीय वैदिक, बौद्ध, जैन और तन्त्रागमीय साहित्य की शाखाओं में अद्‌भुत समानता देखने को मिलती है। इसकी ओर से आँख फेरकर आजकल धर्म पर आधारित अनुशीलन ही प्रधान रूप से प्रचलित है। फलत: एक ही धर्म में विभिन्न दृष्टियों का विकास कैसे हो गया? इस प्रश्न का सही समाधान वे दे नहीं पाते। अत: इस संकीर्ण धार्मिक दृष्टि को छोड़कर, परलोक की चिन्ता को थोड़ा शिथिल कर, वर्तमान मानवता के मानसिक परिष्कार के लिए आज तक उपार्जित सारे मानवीय आध्यात्मिक ज्ञान का सदुपयोग हमें करना होगा, नूतन दृष्टि का उन्मेष करना होगा। तभी समग्र मानवीय संस्कृति का भी विकास संभव हो सकेगा। राज्य, राष्ट्र, भाषा, धर्म, जाति, संप्रदाय आदि के घरौंदों में बँटा हुआ मानव तभी संघबद्ध हो सकेगा, राष्ट्रों और राज्यों के विभाजन की प्रक्रिया तभी थम सकेगी, विभिन्न भू-खण्डों में स्थित राष्ट्रों की एकता तभी संभव हो सकेगी।

उसी स्थिति में संयुक्त राष्ट्रसंघ जैसी विश्वसंस्थाओं की सार्थकता हो सकती है, उनके द्वारा सारे विश्व को एक राजनीतिक धरातल प्रदान किया जा सकता है, विश्व नागरिकता के उच्चावच भेदों को मिटाया जा सकता है और इनमें परस्पर भावात्मक एकता स्थापित की जा सकती है।

इस प्रकार हमने इस द्वितीय अधिकार में भारतीय मूल के सभी धर्मों की समीक्षा कर निगमागम के नाम से प्रसिद्ध संपूर्ण भारतीय वाङ्मय की पृष्ठभूमि में भारत भूमि पर वर्तमान सभी धर्मों के स्वरूप पर विचार कर, उनके उत्कृष्ट अवदानों को ग्रहण कर संस्कृति के परिनिष्ठित स्वरूप पर विचार किया है। अब आगे तृतीय अधिकार में भारतीय दर्शनों में नूतन दृष्टि के उन्मेष पर विचार किया जा रहा है।

●

तृतीय अधिकार

दर्शन

नूतन दृष्टि का उन्मेष

दर्शन ही नहीं, प्राय: सभी शास्त्रों का अध्ययन प्राचीन भारतीय परम्परा में ह्रासवाद के आधार पर और आधुनिक पाश्चात्य परम्परा में विकासवाद के आधार पर किया जाता है। केवल धारणा ही नहीं, यह वस्तुस्थिति है कि ज्ञान-विज्ञान की प्रत्येक शाखा में भारत में पूर्ववर्ती काल में जिस तरह के प्रौढ़ ग्रन्थों का निर्माण हुआ, परवर्ती काल में वह स्थिति देखने को नहीं मिलती। समस्त सूत्र-ग्रन्थ, पतंजलि का महाभाष्य, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, भरत का नाट्यशास्त्र, वात्स्यायन का कामसूत्र, चरक-सुश्रुत आदि आयुर्वेदिक संहिताएँ—ये सब ऐसे ग्रन्थ हैं कि परवर्ती काल में भारत में इनकी टक्कर का कोई ग्रन्थ नहीं बना। इन ग्रन्थों के रचयिता त्रिकालज्ञ ऋषि हैं। इस पृष्ठभूमि में यह सोचना स्वाभाविक है कि शास्त्र की परम्परा का ह्रास हो रहा है। मध्यकालीन महान् नैयायिक उदयन ने अपने एक वचन में इस ह्रासवाद की ही पुष्टि की है।

इसके विपरीत आधुनिक पाश्चात्य दृष्टिकोण विकासवाद के आधार पर सभी शास्त्रों का अध्ययन करता है। यूनान और रोम के चिन्तकों का ये ऋषितुल्य आदर करते हैं, किन्तु इनका दर्शन सुकरात और अरस्तू में ही समाप्त नहीं हो जाता। ज्ञान और विज्ञान की प्रत्येक शाखा में, चिन्तन के विभिन्न क्षेत्रों में यूनान और रोम की ही नहीं, दुनिया की सभी प्रबुद्ध चिन्तन-धाराओं की सहायता से इन्होंने उन-उन शास्त्रों का विकास तो किया ही है, साथ ही ज्ञान और विज्ञान के क्षेत्र में क्रान्तिकारी उद्भावनाएँ भी की हैं, जिनसे आज की सारी दुनिया लाभान्वित ही नहीं, संचालित भी है।

इस वैषम्य के मूल कारणों की खोज करना और भारत की आज की परिस्थिति में उससे होने वाले हानि-लाभ का लेखा-जोखा प्रस्तुत करना अति आवश्यक है। इसके अभाव में समग्र भारतीय संस्कृति की और विश्व संस्कृति की बात करना बेकार होगा। एक दुनिया और एक संस्कृति की बात यदि हमें करनी है, तो इसमें उपस्थित बाधाओं के परिहार के लिए हमें प्रयत्न करना ही पड़ेगा। हम समझते हैं कि इसके लिए समस्त जागतिक ज्ञान को आध्यात्मिक और आधिभौतिक दृष्टियों में न बाँटकर ऐहलौकिक और पारलौकिक दृष्टियों में बाँटा जाय।

अभ्युदय और नि:श्रेयस (मोक्ष) की प्राप्ति प्राय: प्रत्येक भारतीय दर्शन का लक्ष्य है। मनुष्य जीवन्मुक्त भले ही हो जाय, किन्तु मोक्ष की अभिव्यक्ति इस शरीर और दुनिया का मोह छूट जाने के बाद ही होती है। अभ्युदय ऐहलौकिक भी है और

पारलौकिक भी। स्वर्ग आदि पारलौकिक अभ्युदयों की प्राप्ति इस शरीर के छूट जाने के बाद ही होगी। भारतीय दर्शनों में ऐहलौकिक अभ्युदय को हेय दृष्टि से देखा जाता है और पारलौकिक अभ्युदय को उपादेय। फलतः इनमें ऐहलौकिक अभ्युदय संबन्धी विचारों को बहुत कम स्थान मिला है। भारतीय वाङ्मय की एक शाखा आगमशास्त्र या तन्त्रशास्त्र ने एक ही जन्म में भोग और मोक्ष, अभ्युदय और निःश्रेयस को प्राप्त कराने की बात की है, किन्तु इसमें भी व्यक्तिगत भावना ही प्रधान रही है। कहा जा सकता है कि भारतीय दर्शन और आध्यात्मिकता में वैयक्तिक उन्नति का तो चूडान्त उत्कर्ष हुआ है, किन्तु साथ ही सामूहिक उन्नति का पक्ष अत्यन्त दुर्बल है। इसी तरह से इसमें ऐहलौकिक दृष्टि की अपेक्षा पारलौकिक दृष्टि का प्राबल्य हो गया है। साधारण भारतीय की यह दृढ़-मूल धारणा है कि संसार अवनति और तेजी से बढ़ रहा है। इसको रोका नहीं जा सकता। कर्मवाद और भाग्यवाद उसको इसी ओर ढकेलते हैं। उसका सारा पुरुषार्थ कलिकाल[१] की अर्गला से अवरुद्ध है। नेत्रतन्त्र का संदेश वह अभी तक सुन नहीं पाया है।

पारलौकिक दृष्टि के विषय में हमारे जैसे सामान्य व्यक्ति कुछ कह सकने के अधिकारी नहीं हैं। महात्मा बुद्ध ने भी कुछ प्रश्नों को अव्याकरणीय माना था। ऐहलौकिक दृष्टि के सन्दर्भ में हम कुछ विचार कर सकते हैं और यह हुआ भी है। धर्मशास्त्रकारों ने कुछ विषयों में आगम-तन्त्रशास्त्र को श्रुति और स्मृति के समकक्ष मान्यता दी है। कहा जा सकता है कि धर्मशास्त्रों में आचार (लोक-व्यवहार) को बहुत महत्त्व दिया गया है। अभिनवगुप्त ने तो पुरातन व्यवहार को आगम की आदरणीय संज्ञा दी है। कलिवर्ज्य-प्रकरण को भी इस प्रसंग में दृष्टान्त के रूप में उपस्थित किया जा सकता है, जिसमें श्रुतियों और स्मृतियों की अनेक मान्यताएँ स्थगित कर दी गई हैं। इस स्थगन का कारण लोकमानस (लोक-व्यवहार) ही है। ''यद्यपि शुद्धं लोकविरुद्धं नाचरणीयं नाचरणीयम्'' इस सूक्ति में 'नाचरणीयम्' पद की द्विरावृत्ति लोक-व्यवहार के विरुद्ध आचरण का दृढ़ता से निषेध करती है।

आज दुनिया सिमट गई है। विभिन्न दृष्टियों और व्यवहारों में टकराव हो रहा है। यह निश्चित है कि इस टकराव में उत्कृष्ट तत्त्व ही बच सकेंगे। दुनिया भारतीय तत्त्वज्ञान को आशाभरी दृष्टि से देखती है, किन्तु साथ ही भारतीय जीवन की विसंगतियों से उसे आश्चर्य भी होता है। यह कहा जा सकता है कि अपने ऐहलौकिक जीवन में समाज के प्रति और राष्ट्र के प्रति पाश्चात्य संस्कृति अधिक ईमानदार है। ''अजगर करे न चाकरी'', ''अपना मतलब गाँठने के लिए गधे को बाप बनाना'',

---

१. ''तस्य देवातिदेवस्य न कृतादियुगस्थितिः'' (१९.२१९) नेत्रतन्त्र के इस वचन में शिव-साम्राज्य में कृत, त्रेता आदि युगों की स्थिति को अस्वीकार कर दिया गया है।

''समरथ को नहिं दोष गुसाई'', ''स्वकार्यं साधयेद् धीमान् स्वार्थभ्रंशो हि मूर्खता'', ''आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्'' जैसे वाक्य स्वस्थ सामाजिक विकास में सहायक नहीं हो सकते। पारलौकिक विधि-वाक्यों की परीक्षा शास्त्रीय पद्धति से की जाय, यह तो ठीक है, किन्तु ऐहलौकिक दृष्टि से संबद्ध प्रत्येक छन्दोबद्ध उक्ति को विधि-वाक्य नहीं माना जाना चाहिए। कालिदास की उक्ति के अनुसार उसकी परीक्षा अपेक्षित है। आज की दुनिया को भारतीय संस्कृति के दर्शन और धर्म के उदात्त तत्त्वों का अवदान दे पाने की स्थिति में अपने को रख पाने के लिए यह आवश्यक है कि पूरे भारतीय तत्त्वज्ञान की पृष्ठभूमि में ऐहलौकिक दृष्टि से भी व्यक्तिगत और समाजगत आचारों की परीक्षा की जाय।

भारत में दर्शन को बुद्धि का विलासमात्र कभी नहीं माना गया है। इतना अवश्य है कि इसमें पारलौकिक दृष्टि से व्यक्तिगत उन्नति के लिए अधिक जोर दिया गया है। ''कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्'' जैसे वाक्यों में प्राणीमात्र की दुःख से निवृत्ति की कामना अवश्य की गई है, किन्तु इसमें भी व्यक्तिगत दृष्टि ही काम कर रही है। सत्ययुग में होने वाले ऐहलौकिक विकास को हमने भगवान् काल के सुपुर्द कर दिया है। इसके विपरीत ''स्वात्मैव देवता प्रोक्ता ललिता विश्वविग्रहा'' सरीखे तन्त्रागमीय दर्शन के प्रतिपादक वाक्यों के सहारे अपने में विश्वाहन्ता का विकास कर अरविन्द जैसे महायोगी इसी धरती पर दिव्य मानवता के अवतरण की बात करते हैं और महामनीषी श्रद्धेयचरण श्री श्री गोपीनाथ कविराज महाशय अखण्ड महायोग के माध्यम से इस स्थिति को लाना चाहते हैं।

जब हम भारतीय चिन्तनधारा में नूतन दृष्टि के उन्मेष की चर्चा करते हैं, तो उस समय हमें यह ध्यान में रखना होगा कि वह केवल बुद्धिविकास के लिए न होकर ऐहलौकिक दृष्टि से समस्त मानवता के कल्याण के लक्ष्य को अपने सामने रखे। एक विश्व और एक संस्कृति इसका प्रधान लक्ष्य होना चाहिए।

ऐहलौकिक सामूहिक मुक्ति, अर्थात् समग्र मानवता के ऐहलौकिक कल्याण के लिए भारतीय दर्शन और संस्कृति में नूतन दृष्टि का उन्मेष होने से हमें प्राचीन विचार-धाराओं के साथ किसी टकराव की आशंका नहीं मालूम पड़ती। वस्तुतः ऐसा करके ही हम व्यक्तिगत उन्नति के साथ सामूहिक उन्नति की भावना की, पारलौकिक उपलब्धि के साथ ऐहलौकिक नैतिकता की, सीमित रूप में ही सही ह्रासवाद के स्थान पर विकासवाद की और भाग्यवाद के स्थान पर पुरुषकारवाद की भारतीय जनमानस में प्रतिष्ठा करा सकते हैं। ऐसा करते समय हमें ऐहलौकिक सामूहिक दृष्टि का विकास करने के लिए आधुनिक दृष्टि से सहायता लेने में परहेज नहीं करना चाहिए। भगवद्गीता की पवित्र उक्ति है कि ज्ञान के सदृश कोई पवित्र वस्तु नहीं है। एक सूक्ति

में बताया गया है कि अच्छी बात बालक की भी माननी चाहिए। भारतीय दर्शन और संस्कृति की सार्थकता इसीमें है। तभी हम समस्त मानवीय विचारों में समन्वय स्थापित कर एक विश्वसंस्कृति के निर्माण को साकार रूप देकर समग्र मानवता का कल्याण कर सकते हैं। आइये, हम ऐहलौकिक उपलब्धि के परिप्रेक्ष्य में भारतीय दर्शनशास्त्र की और तन्त्रागमीय शास्त्र की दृष्टि से अभ्युदय एवं निःश्रेयस, भोग और मोक्ष, बन्ध और मोक्ष एवं संसार और निर्वाण को परिभाषित करें।

●

अभ्युदय और निःश्रेयस

भगवान् बुद्ध ने इस स्थूल पांचभौतिक संसार में विद्यमान प्राणियों के इसी जन्म में प्रत्यक्ष भोगे जा रहे दुःखों की निवृत्ति के लिए बोधि-प्राप्ति के अनन्तर प्रतिज्ञा की थी कि जब तक इस संसार के प्रत्येक प्राणी के दुःख का निवारण नहीं कर दूँगा, मैं स्वयं निर्वाण पद में प्रविष्ट न होकर इसी संसार में रहते हुए इसके लिए निरन्तर सचेष्ट रहूँगा।

सांख्य दर्शन कहता है कि यह संसार आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक नामक त्रिविध दुःखों से आक्रान्त हैं। इनकी निवृत्ति प्रकृति, प्राकृतिक जगत् और पुरुष का यथार्थ स्वरूप जान लेने पर अपने आप हो जाती है। इसका अभिप्राय यह है कि सुख, दुःख और मोह के कारण पुरुष व्यामूढ रहता है और ये वास्तव में पुरुष के धर्म न होकर सत्त्व, रज और तम नामक तीन गुणों वाली प्रकृति के धर्म हैं। प्रकृति के इन धर्मों को पुरुष अपना धर्म मान बैठता है और इसी के कारण यह सारा संसार इनसे आक्रान्त हो अपने को दुःख से घिरा हुआ मान लेता है। जब वह यह समझ जाता है कि इन सबका मुझसे कोई संबन्ध नहीं है, तो वह इनसे मुक्त हो जाता है। इस प्रकार यहाँ बन्ध और मोक्ष की कोई वास्तविक स्थिति नहीं है।

सांख्य दर्शन में सत्त्व-रज-तम नामक त्रिगुणों की साम्यावस्था को प्रकृति माना गया है, उसी तरह चिकित्साशास्त्र (आयुर्वेद) में वात-पित्त-कफ नामक तीन धातुओं की साम्यावस्था को प्रकृति माना जाता है। जैसे तीन गुणों के विपरिणाम से, अर्थात् प्रकृति में विकार के आने से गुणों में वैषम्य आने पर सुख-दुःख-मोहात्मक जगत् की सृष्टि होती है, वैसे ही वात-पित्त-कफ नामक तीन धातुओं में विकृति आने पर मनुष्य की प्रकृति (स्वस्थता) नाना प्रकार के रोगों से आक्रान्त हो जाती है। धातुगत वैषम्य को दूर कर देने पर, अर्थात् चिकित्सा के द्वारा इनमें पुनः साम्य के प्रतिष्ठित कर देने पर व्यक्ति प्रकृतिस्थ (नीरोग) हो जाता है, उसी तरह से सत्त्व-रज-तम नामक त्रिगुणों की विषमता से उत्पन्न प्रकृति के सुख-दुःख-मोहात्मक धर्मों से जब पुरुष अपने को अलग मान लेता है, तो उस पुरुष के लिए वह प्रकृति साम्यावस्था में लीन हो जाती है और

पुरुष अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। हम मान सकते हैं कि धातुओं की विषमता से शरीर ही ग्रस्त नहीं होता, किन्तु उससे पुरुष (आत्मा) भी पीड़ित हो उठता है, उसी तरह से सुख-दु:ख-मोह के प्रकृति से संबद्ध रहने पर भी उसके सम्पर्क के कारण पुरुष अपने को इनसे संपृक्त मान बैठता है। वस्तुत: ये सब प्रकृति के ही धर्म हैं, प्राकृतिक शरीर पर ही उनका प्रभाव पड़ता है, ऐसा जान लेनेपर प्रबुद्ध मानव इस स्थिति तक पहुँच सकता है कि इन प्राकृतिक धर्मों का उस पर कोई प्रभाव न पड़े।

प्रश्न यह है कि सामान्य मनुष्य में यह स्थिति कैसे आ सकती है? मनुष्य का अन्त:करण (मन, अहंकार और बुद्धि) तो सत्त्व-रज-तम नामक तीन गुणों से, इनके प्रख्या-व्यापार-नियमन नामक व्यापारों से आक्रान्त होकर सतत सुख-दु:ख-मोहात्मक धर्मों से घिरा रहता है। ऐसी स्थिति में वह पामर प्राणी त्रिगुणात्मिका विमोहिनी प्रकृति (माया) से कैसे मुक्त हो सकेगा? कोई विशेष व्यक्ति प्रकृति और पुरुष के विवेक-ज्ञान के आधार पर अपने को त्रिविध दु:खों से मुक्त कर सकता है, किन्तु ऐसी स्थिति में पहुँचना सामान्य मनुष्य के वश की बात नहीं है। ऐसे भी अनेक दार्शनिक हैं, जो शरीर से भिन्न आत्मा की कोई स्थिति ही नहीं मानते। उनके लिए प्रकृति-पुरुष के विवेक का कोई अर्थ नहीं रह जाता। इनके लिए दु:ख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति ही परम श्रेय है।

न्याय-वैशेषिक दर्शन इसमें धर्म-अधर्म की कारणता को मानता है। उसका कहना है कि धर्म के आचरण से व्यक्ति अभ्युदय और नि:श्रेयस को प्राप्त कर सकता है। यहाँ अभ्युदय का अर्थ ऐहलौकिक और पारलौकिक ऐश्वर्य, अर्थात् सुख की प्राप्ति तथा नि:श्रेयस का अर्थ सर्वविध दु:ख की निवृत्ति है। मोह, अर्थात् अज्ञानवश व्यक्ति अधर्म का आचरण करता है और उसके कारण वह नाना प्रकार के दु:खों को भोगता रहता है। शास्त्रोपदिष्ट धर्म के आचरण से उसका अज्ञान जब नष्ट हो जाता है, तो वह अपने अभ्युदय के प्रति प्रवृत्त होता है और जब वह ऐहलौकिक एवं पारलौकिक अभ्युदय (ऐश्वर्य) को नकार देता है, तो वह पूरी तरह से सभी प्रकार के दु:खों से निवृत्त होकर नि:श्रेयस पदवी में प्रविष्ट हो जाता है[२]। न्यायसूत्रकार गौतम का कहना है कि प्रमाण, प्रमेय आदि सोलह पदार्थों के तत्त्वज्ञान से उस नि:श्रेयस की प्राप्ति होती है। वे इसको अपवर्ग भी कहते हैं।

योगभाष्यकार व्यास का कहना है कि चिकित्साशास्त्र के समान योगशास्त्र के भी चार व्यूह (लक्ष्य) हैं। चिकित्साशास्त्र में जैसे रोग, रोग-हेतु, आरोग्य-प्राप्ति और

२. नैयायिकों ने २१ प्रकार के दु:खों के ध्वंस को नि:श्रेयस (अपवर्ग) माना है। उद्योतकर के न्यायवार्त्तिक को देखिए—''एकविंशतिप्रभेदभिन्नं पुनर्दु:खम्। शरीरं षडिन्द्रियाणि षड्विषया: षड्बुद्धय: सुखं दु:खं चेति। शरीरं दु:खायतनत्वाद् दु:खम्, इन्द्रियाणि विषया बुद्धयश्च तत्साधनभावात्। सुखं दु:खानुषङ्गात्। दु:खं स्वरूपत इति'' (१.१.१)।

उसके लिए औषधि—इन चार विषयों पर विचार किया जाता है, उसी तरह से दर्शनशास्त्र में भी संसार, संसार का हेतु, मोक्ष और उसकी प्राप्ति का उपाय—इन चार विषयों पर विचार होता है। भगवान् बुद्ध ने चार आर्यसत्यों के रूप में इनकी पहिचान की है। वे हैं—दु:ख, समुदय, निरोध और मार्ग। दु:ख, दु:ख-समुदय, दु:ख-निरोध और दु:खनिरोधगामिनी प्रतिपत् के नाम से भी ये व्याख्यात हैं।

इस पूरे प्रकरण पर यदि हम सावधानी से विचार करें, तो ज्ञात होगा कि सर्वत्र एक ही विषय का प्रतिपादन किया गया है। शारीरिक दु:खों की निवृत्ति की पद्धति से ही मानसिक दु:खों की निवृत्ति भी संभव है। रुग्ण होने पर व्यक्ति शारीरिक दृष्टि से दु:खी हो जाता है, तो यह देखना पड़ता है कि इसकी उत्पत्ति कैसे हुई? वह रोग से मुक्ति चाहता है और उसके निवारण के लिए सही औषधि लेता है। इसी तरह से तत्त्वज्ञानी पुरुष इस संसार को दु:खबहुल जानकर दु:ख के कारण की खोज करता है और उससे जब मुक्त होना चाहता है, तो इसके लिए उपाय की खोज करता है। भगवान् बुद्ध ने जिन चार आर्यसत्यों की खोज की, उनका भी निष्कर्ष यही है।

विशेषता यह है कि यहाँ संसार के स्थान पर दु:ख के साथ समुदय आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं। तात्पर्य यह है कि करुणामूर्ति भगवान् बोधिसत्त्व सांसारिक दु:खों के कारणों और उनसे छुटकारा पाने के उपायों की खोज कर संसार को नहीं, बल्कि इस संसार में विद्यमान सभी दु:खी प्राणियों के दु:खों को दूर करना चाहते हैं, जबकि अन्य सभी दार्शनिकों को व्यक्तिगत मुक्ति अभिप्रेत है। सभी भारतीय दर्शन इस विषय में एकमत हैं कि तत्त्वज्ञान से ही मुक्ति की प्राप्ति होती है, किन्तु तत्त्वज्ञान के स्वरूप और मुक्ति, कैवल्य, निर्वाण, मोक्ष, अपवर्ग आदि पदों से अभिप्रेत नि:श्रेयस के स्वरूप के विषय में इनके परस्पर मतभेद हैं।

इसी दार्शनिक पृष्ठभूमि में हम अभ्युदय और नि:श्रेयस का वर्तमान स्थिति के अनुरूप सामाजिक मूल्यांकन करना चाहते हैं।

अभ्युदय और नि:श्रेयस को आगम-तन्त्रशास्त्र में भोग और मोक्ष अथवा बन्ध और मोक्ष के नाम से जाना जाता है। भोग का अभिप्राय ऐहलौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकार के भोगों (अभ्युदय) से है। संभोगकाय शब्द का प्रयोग बौद्ध महायान और मन्त्रयान[३] साहित्य में भी भगवान् बुद्ध के त्रिविध अथवा चतुर्विध कार्यों में से एक के

---

३. आचार्य अद्वयवज्र ने अपनी तत्त्वरत्नावली (पृ० १४-२२) में हीनयान अथवा वज्रयान शब्दों का प्रयोग नहीं किया। इनके स्थान पर वहाँ श्रावकयान और प्रत्येकबुद्धयान शब्द तथा मन्त्रनय (शास्त्र) शब्द प्रयुक्त हुए हैं। हीनयान के स्थान पर श्रावकयान या प्रत्येकबुद्धयान शब्दों का तथा वज्रयान के स्थान पर मन्त्रयान शब्द का प्रयोग हो, यह हमें भी अभिप्रेत है। महायान शब्द के प्रयोग के विषय में कोई विवाद नहीं है।

लिए होता है। यहाँ संभोग शब्द भी भोग के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है, आचार्य रजनीश के द्वारा प्रयुक्त अर्थ में नहीं। शैवागमों में भगवान् शिव की लय, भोग और अधिकार नामक तीन अवस्थाओं का विवेचन मिलता है। बौद्ध मन्त्रयान के ग्रन्थों में भी ये शब्द प्रयुक्त हुए हैं। पांचरात्र वैष्णव आगमों में भी आभिमानिक, आभ्यवहारिक, औपचारिक, सांदृष्टिक, सांस्पर्शिक, लय आदि भोगों की चर्चा मिलती है। इनमें से शैवागमों में वर्णित लय, भोग और अधिकार अवस्थाओं की तुलना हम क्रमशः भगवान् बुद्ध के धर्म, संभोग एवं निर्माण कायों से कर सकते हैं।

आगे चलकर तन्त्रशास्त्र में भोग शब्द के अर्थ में परिवर्तन हुआ, जब "भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव" जैसे वाक्य व्यवहार में आने लगे। अब तक यह सिद्धान्त मान्य था कि ऐहिक और पारलौकिक भोगों के त्याग के उपरान्त ही मोक्ष की प्राप्ति होगी, किन्तु अब उसको तिलांजलि दे दी गई। "संभोग से समाधि" जैसे शीर्षक भी उसी की उपज हैं। इसका खण्डन करने वाले भी उस व्याधि से बच नहीं पाये हैं।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नामक चार पुरुषार्थ भारतीय दर्शन और सामाजिक व्यवस्था के प्रमुख आधार हैं। धर्म से नियन्त्रित अर्थ और काम के सेवन से ही व्यक्ति मोक्ष का अधिकारी बन पाता है। "धर्मार्थं यस्य वित्तेहा वरं तस्य निरीहता। प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्॥" इस नीति-वाक्य में प्रकारान्तर से धर्मार्थ धनसंग्रह को भी निषिद्ध घोषित किया गया था, किन्तु आज तो इसको सामाजिक मान्यता मिल गई है। कोढ़ में खाज की तरह काम ने भी धर्म के क्षेत्र में प्रवेश पा लिया है। इससे अनर्थ तो होना ही था। गनीमत इतनी ही थी कि अब भी इस पर थोड़ा-बहुत धर्म का नियन्त्रण था। आज का तार्किक इसको अस्वीकार कर सकता है। वह कह सकता है कि यह एक प्रकार का सामाजिक ढोंग है। बाह्य अपसंस्कृतियाँ उसको ऐसा सोचने के लिए बाध्य भी कर रही हैं। आजकल का बुद्धिजीवी अपने को धर्म-निरपेक्ष कहलाने में गौरव की अनुभूति करता है। वह अर्थ और काम को धर्म के नियन्त्रण से मुक्त रखना चाहता है।

धर्म को ढोंग बता देने के बाद नैतिकता के आधार पर क्या अर्थ और काम में परिशुद्धि आई? इसके विपरीत देखने में तो यह आ रहा है कि अनियन्त्रित अर्थ और काम समाज को तीव्रता से विपथगामी बना रहे हैं। *गाण्डीवम्* संस्कृत साप्ताहिक पत्र के यशस्वी संस्थापक एवं संपादक पं० श्री रामबालक शास्त्री जी ने उसके अनेक अंकों में "समालोचनार्हा भारतीया नैतिकता"[४] शीर्षक हमारा एक निबन्ध प्रकाशित किया था। उसमें महाभारत की सभा पर्व की घटनाओं की समालोचना कर हमने

४. यह निबन्ध अब "निगमागमीयं संस्कृतिदर्शनम्" (पृ० २२१-२३७) नामक ग्रन्थ में प्रकाशित हो चुका है।

कहा था कि आज भी सभापर्व की दुर्योधन की जैसी उद्दण्डता को अनुशासनपर्व कहा जा रहा है। उस निबन्ध को लिखे आज दो युग बीच चुके हैं। क्या आज भी अनेक राजनेताओं का चरित्र उसी उद्दण्डता का प्रदर्शन नहीं कर रहा है? धर्म-निरपेक्ष भारत क्या नैतिकता-विहीन, अर्थदास और असांस्कृतिक नहीं होता चला जा रहा है? भारतीय संस्कारों को तो हम छोड़ते चले जा रहे हैं, किन्तु क्या हम जनतन्त्र-राज्य के सिद्धान्तों को हृदयंगम कर सके हैं? क्या राजनीति में खेल की भावना प्रविष्ट हो पाई है? एक राजनीतिक दल दूसरे दल के साथ शत्रुवत् आचरण कर रहा है। यह किस जनतन्त्र का सिद्धान्त है?

इन दोषों से यदि हमें मुक्त होना है, तो अभ्युदय और निःश्रेयस की नूतन सामाजिक पृष्ठभूमि में दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत करनी पड़ेगी। आगम-तन्त्रशास्त्र हमें यह दृष्टि प्रदान कर सकता है। यहाँ माना गया है कि मनुष्य इसी जन्म से मुक्ति प्राप्त कर सकता है। ''काश्यां मरणान्मुक्तिः'' यह वचन इसीकी पुष्टि करता है। जब हम इसी जन्म में मुक्त हो सकते हैं, तो हमें पुरुषार्थ-चतुष्टय की ऐसी व्याख्या करनी होगी कि ये हमारे इस लक्ष्य की पूर्ति में सहायक हों। इसके लिए हमें सबसे पहले धर्मनिरपेक्षता से छुटकारा पाना होगा। धर्म (अभ्युदय) शब्द की ही नहीं, मोक्ष (निःश्रेयस) शब्द की भी पूरे भारतीय वाङ्मय की पृष्ठभूमि में नूतन व्याख्या करनी होगी, जिससे हम इसी जन्म में सर्वविध अभ्युदय की ही नहीं, मोक्ष की भी प्राप्ति में समर्थ हो सकें। चार्वाक दर्शन की पृष्ठभूमि में हमें स्वर्ग-सुख (जन्नत) की अभिलाषा से और नरक (दोजख) के भय से भी मुक्त होना पड़ेगा। इन दोनों से मुक्त होने के उपरान्त ही हम क्षणिक सुख और दुःख की अनुभूति करते हुए भी इसी जन्म में शाश्वत शान्ति को प्राप्त करने में समर्थ हो सकेंगे।

आगम-तन्त्रशास्त्र का साधक इसी जन्म में बुद्धत्व अथवा शिवत्व प्राप्त कर सकता है। प्रत्येक प्राणी में यह शक्ति छिपी हुई है। गुरु की कृपा से, शास्त्र के अध्ययन से और स्वयं अपने प्रयत्न से भी व्यक्ति इस शक्ति को जगा सकता है। क़र्मसाम्य इसका सबसे सरल उपाय है। सुन्द-उपसुन्द न्याय से जब व्यक्ति के पाप और पुण्य आपस में टकरा कर नष्ट हो जाते हैं, तो उस स्थिति को कर्मसाम्य अवस्था कहा जाता है। इस स्थिति में उसको न स्वर्ग की कामना रहती है और न नरक का भय। ''काश्यां मरणान्मुक्तिः'' जैसी फलश्रुतियों का भी यही अभिप्राय है। इसके लिए ''मुच्यते सर्वपापेभ्यः'' जैसे अर्थवाद-वाक्यों के सहारे कलुषित जीवन जीने वालों की सामाजिक मान्यता शिथिल हो, यह आवश्यक है। भ्रष्टाचार का वट-वृक्ष तभी सूख सकता है। इसके लिए द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की नहीं, ''परस्परदेवो भव'' जैसे आदर्श-वाक्यों को सामाजिक प्रतिष्ठा देने की आवश्यकता है। तभी हम भगवान्

सम्यक् संबुद्ध की अभिलाषा के अनुसार इसी लोक में सभी प्राणियों को दुःख से मुक्ति दिला सकते हैं, इसी जन्म में अभ्युदय और निःश्रेयस को प्राप्त करा सकते हैं।

●

भोग और मोक्ष

भारतीय दर्शनों में वर्णित अभ्युदय और निःश्रेयस को आगम-तन्त्रशास्त्र में भोग और मोक्ष अथवा बन्ध और मोक्ष नाम दिया गया है। इनमें से भोग शब्द के अर्थ की चर्चा हम अभी (पृ० ११०) कर चुके हैं। अन्य विषयों पर आगे विचार करेंगे। यहाँ पहले मोक्ष के स्वरूप पर सभी दृष्टियों से विचार किया जा रहा है।

माया से आवृत, मलिन, अणु-परिमाण वाला सकल जीव अपने कर्मों के अनुसार कला से लेकर पृथ्वी पर्यन्त तीस तत्त्वों के समष्टि-स्वरूप सूक्ष्मशरीर के सहारे इस संसार में घूमता हुआ तब तक भोगों को भोगता रहता है, जब तक भगवान् की तिरोधान शक्ति उसे छोड़ नहीं देती। कर्म का परिपाक होने पर शक्तिपात की सामर्थ्य से कर्मसाम्य की स्थिति आने पर उसमें भगवान् की अनुग्रह शक्ति जब प्रकट होती है, तो यह तिरोधान शक्ति निवृत्त हो जाती है। इस स्थिति में भोगों से विरक्त हुआ जीव मोक्ष प्राप्त करने की कामना करता है।

आगम-तन्त्रशास्त्र में मोक्ष को अपवर्ग, निर्वाण, निःश्रेयस, परमव्योम महाविभूति, मुक्ति आदि नामों से जाना जाता है। भारतीय दर्शन की विभिन्न शाखाओं में इन शब्दों का अपने-अपने अर्थ में प्रयोग मिलता है। कुमारदेव[५] का कहना है कि शरीर, इन्द्रिय आदि उपाधियों के न रहने पर शिवस्वभाव जीवात्मा परमेश्वर शिव में उसी तरह से विलीन हो जाता है, जैसे घटाकाश की उपाधि घट के नष्ट हो जाने पर वह परमाकाश में विलीन हो जाती है (पृ० ११)। वे अन्यत्र (पृ० १५) महासुख को अपवर्ग मानते हैं। प्रीति और आनन्द शब्दों के अर्थ को स्पष्ट करते हुए वे प्रश्न उठाते हैं कि यदि शिव को आनन्दमय माना जायगा, तो सत्त्व गुण के धर्म प्रीति से युक्त होने से सगुणता के आधार पर इसमें परिणामिता आदि दोषों की प्रसक्ति आवेगी। इसका समाधान करते हुए वे कहते हैं कि प्रीति और आनन्द ये दोनों भिन्न अर्थ के प्रतिपादक शब्द हैं। प्रीति शब्द से विषय के साथ इन्द्रियों के संपर्क से पैदा होने वाले सातिशय सुख का बोध होता है, जबकि निरन्तर एकरस, नित्य, निरतिशय, स्वात्मस्वरूप सुख आनन्द कहलाता है। इससे उक्त दोष का परिहार हो जाता है। अन्य मत के अनुसार विशुद्ध सत्त्वगुण की निर्मलावस्था में पुण्योदय के कारण विषय और इन्द्रिय के संयोग से विशेष रूप से परिणत हुआ नित्य सुख ही उसमें प्रतिबिम्बित हो उठता है। इसे ही प्रीति शब्द से

५. कुमारदेव भोजदेव-विरचित तत्त्वप्रकाश नामक ग्रन्थ के व्याख्याकार हैं। अष्टप्रकरण की प्रस्तावना में इनका परिचय देखिए।

शास्त्रों में कहा जाता है। ''एतस्यैवानन्दस्य'' (बृ० उ० ४.३.३२) यह श्रुति इसमें प्रमाण है।

अन्य विविध दार्शनिकों के द्वारा निरूपित मोक्ष के स्वरूप को प्रस्तुत करते हुए कुमारदेव ने अन्यत्र (पृ० १०८-११०) कहा है कि दिगम्बर जैन अहिंस्य (नित्य) देह आदि की उत्पत्ति को ही मोक्ष मानते हैं। अन्य आर्हत शरीरपरिमित आत्मा की, शरीर के नाश हो जाने के उपरान्त नक्षत्र आदि की तरह की स्थिति को ही नि:श्रेयस कहते हैं। शुद्ध चित्तसन्तति की उत्पत्ति ही सौगत मत में अपवर्ग है। वैभाषिक, सौत्रान्तिक और विज्ञानवादी बौद्धों का भी यही मत है। शून्यतावादी बौद्धों के मत में तो इस शुद्ध चित्तसन्तति का भी विनाश हो जाता है। भाट्ट मत में मोक्षदशा में शरीर, इन्द्रिय आदि के अभाव में भी आत्मा के गुण, नित्य सुख से संबद्ध बुद्धिसन्तति निरन्तर चलती रहती है (पृ० ६३)। निर्वाण पद की व्याख्या वे इस प्रकार करते हैं—जिसका कभी अपक्षय (क्षरण) अथवा विनाश नहीं होता, उसे निर्वाण कहा जाता है। सतत एकरस रहने से इसमें कभी न्यूनता नहीं आने पाती (पृ० ७)।

चार्वाक मत को प्रस्तुत करते हुए कुमारदेव कहते हैं कि इन्द्रिय-वृत्तियों के द्वारा प्राप्त प्रीति ही पुरुषार्थ है और वह काम ही है। इससे भिन्न मोक्ष की कोई स्थिति नहीं है (पृ० १०७)। इस चार्वाक मत का खण्डन कर कुमारदेव मोक्ष की परम पुरुषार्थता को स्थापित करते हैं। उसका स्वरूप क्या है? इस विषय पर विचार करते समय वे कहते हैं कि नित्य आनन्द की अनुभूति ही मुक्ति है, मोक्ष चिदानन्द-स्वरूप है। शिवसमता-रूप मोक्ष की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं कि शिव की समानता का अर्थ है शिव से निर्विशेषता, उससे अभिन्नता ही शिवसमानता है, अर्थात् इस स्थिति में वह शिव में विलीन हो जाता है। उनकी ये सारी बातें अद्वैतवाद का ही अनुसरण करती हैं, सिद्धान्तदर्शन-संमत द्वैतवाद का नहीं। इसके विपरीत अघोरशिव कहते हैं कि शिवभक्त शिवसाम्यरूपी मोक्ष को प्राप्त करते हैं, अर्थात् वे शिव के समान हो जाते हैं, शिव के साथ एकात्मता का अनुभव नहीं करते, क्योंकि इस मत में अद्वैत दृष्टि का कोई स्थान नहीं है (पृ० ११६)। स्पष्ट है कि अघोरशिव अद्वैतवाद को नहीं मानते।

अष्टप्रकरण के ग्रन्थों में क्लेशमुक्त प्रसन्नात्मा को मुक्त माना गया है। मुक्तात्मा भी शिव के समान हैं, वे शिव की समानता को प्राप्त कर लेते हैं। तत्त्वसंग्रह (श्लो० ५१) के प्रमाण से विद्या, विद्येश आदि पदों की प्राप्ति को अपर मुक्ति और शिवसमता को परमुक्ति बताया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि विद्या, विद्येश आदि पद पर मुक्ति की अपेक्षा यद्यपि कनिष्ठ हैं, तो भी इस परमोत्तीर्ण निर्मल पद में प्रतिष्ठित हो जाने के बाद फिर जीव को संसार में नहीं आना पड़ता। इसीलिए इसको अपर मुक्ति कहा गया है। वस्तुत: शिवसाम्य ही मोक्ष है, तो भी मन्त्र, मन्त्रेश आदि भी पर मुक्ति की योग्यता

से संपन्न होने के कारण मुक्त कहलाते हैं। प्रवाहेश्वरवादियों के अनुसार मुक्त में शिव के ऐश्वर्य की उत्पत्ति हो जाती है। तत्त्वसंग्रहकार का कहना है कि मुक्त जीवों में शिव के प्रसाद से आदि, मध्य और अन्त से रहित शिव-गुणों की अभिव्यक्ति हो उठती है। अघोरशिव के अनुसार यह मुक्त ही अमल जीव कहलाता है। मोक्षपद की व्याख्या शिवसाम्य और सदाशिव आदि पदों की प्राप्ति भी की जाती है। इससे भी पर और अपर नामक द्विविध मोक्ष की स्थिति स्पष्ट होती है। मतंगपारमेश्वर आगम के योगपाद में सप्तविध मोक्ष वर्णित है।

अघोरशिव शिवसाम्य-रूप मुक्ति को गोत्व आदि जाति के समान एक नहीं मानते, उनके अनुसार प्रत्येक पुरुष की इसमें भिन्न-भिन्न स्थिति रहती है। जैन दर्शन में सिद्धशिला पर सिद्धों की स्थिति भी ऐसी ही मानी गई है। सादृश्य के अतिरिक्त वे नैयायिक-संमत जाति को भी स्वीकार नहीं करते। मुक्तिदशा में नैयायिकों के समान ये संवित् (ज्ञान) के अभाव को भी नहीं मानते, जबकि वैशेषिक दर्शन में बुद्धि, सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, संस्कार, धर्म और अधर्म नामक आत्मा के विशेष गुणों के विमोक्ष को ही अपवर्ग माना गया है। सिद्धान्तशैव दर्शन में मुक्त जीव मल आदि पाशों से मुक्त हो जाता है और उसमें शिव के सर्वज्ञत्व, सर्वकर्तृत्व आदि छः गुणों (षाड्गुण्य) की अभिव्यक्ति हो उठती है। मोक्षकारिका (श्लो० ४४) में यह बात स्पष्ट रूप से बताई गई है। सर्वज्ञत्व आदि शिव के छः गुणों के रूप में जीव में शिवत्व की अभिव्यक्ति हो जाने से शिवसाम्य-रूप मोक्ष की ही अनुग्रहरूपता यहाँ मानी गई है।

अघोरशिव ने मुक्ति पद की दर्शनान्तर-संमत मोक्षपरक व्याख्या भी की है। परमव्योम पद की इन्होंने परबिन्दुपरक व्याख्या की है। आगमों के जानकारों के अनुसार अविनश्वर अपराकाश-रूप आतिशयिक पद ही परमव्योम है। नादकारिका की व्याख्या के अनुसार नाद के ज्ञान से जब पर मुक्ति प्राप्त हो जाती है, तो स्वायंभुव आदि आगमों में दीक्षा से मुक्ति की बात कैसे मानी गई है? (पृ० २२४), ऐसी आशंका उठाकर उसका समाधान यह किया गया है कि ज्ञान की भी दीक्षा के अंग के रूप में उपयोगिता मानी गई है (पृ० २२४)। वेदान्ती और सांख्य मत वाले केवल ज्ञान से मुक्ति मानते हैं। अघोरशिव इन दोनों मतों की समीक्षा करते हैं और बताते हैं कि मल की निवृत्ति दीक्षा नामक व्यापार से ही संभव है, अत: दीक्षा ही मोक्ष का प्रमुख कारण है। मोक्ष की प्राप्ति में ईश्वर की कोई कारणता नहीं है, इस मत का खण्डन कर वे कहते हैं कि मोक्ष की प्राप्ति शिव की कृपा से ही संभव है।

सिद्धान्तदर्शन में मोक्ष का स्वरूप परशिव का साम्य है। परशिव के साथ समता चार प्रकार से प्राप्त होती है—समुत्पत्ति से, संक्रान्ति से, आवेश से तथा अभिव्यक्ति से। चतुर्विध शैवों का वर्णन आगमशास्त्र और पुराणों में भी मिलता है। इनमें से महाव्रती

(कालामुख) जीव में शिवसाम्य की उत्पत्ति मानते हैं। उनका कहना है कि मुक्ति-दशा में जीव में सर्वज्ञता आदि के रूप में शिवसाम्य की समुत्पत्ति होती है। अत: इनके मत में शिव के जैसे गुणों की उत्पत्ति से जीव में शिवसमता आती है। पाशुपत संक्रान्ति से शिवसाम्य की उपपत्ति करते हैं। कपड़ों के बीच में रखी कस्तूरी की सुगन्ध से जैसे सारे वस्त्र सुवासित हो जाते हैं, उसी तरह से मुक्त पुरुष में ईश्वर के सर्वज्ञत्व आदि धर्म संक्रान्त हो जाते हैं। अत: इस मत में शिव के गुणों की संक्रान्ति के कारण जीव शिव के समान हो जाता है। कापालिक समावेश के कारण साम्य मानते हैं। जैसे ग्रह आदि पुरुषों में आविष्ट होते हैं, उसी तरह से मुक्त पुरुष में ईश्वर के गुण आविष्ट हो जाते हैं। इस तरह शिव के गुणों के समावेश के कारण यहाँ शिवसाम्य माना जाता है। सिद्धान्तशैव दर्शन में शिवसाम्य की अभिव्यक्ति होती है। शिव के समान ही जीवों में भी सर्वज्ञता आदि गुण पहिले से ही विद्यमान हैं। संसार दशा में वे मल से आवृत होने के कारण प्रकाशित नहीं होने पाते। मुक्ति-दशा में मल के हट जाने से वे अभिव्यक्त हो उठते हैं। अत: अपने ही गुणों की अभिव्यक्ति के कारण इनमें शिवसाम्य प्रकट हो उठता है। शैवपरिभाषा (पृ० १५६-१५७) में ये चारों पक्ष वर्णित हैं। इनमें अन्तिम पक्ष सिद्धान्त-शैवों का है। इन सभी मतों में मोक्षदशा में भी जीव और शिव की पृथक् स्थिति मानी जाती है। अत: ये सब द्वैतवादी दर्शन हैं।

जीवात्मा जब मलपरिपाक और कर्मसाम्य से संयुक्त हो जाता है, तब उस पर परमेश्वर की अनुग्रह-शक्ति का पात होता है। इसीको आगमों में शक्तिपात नाम दिया गया है। कर्मसाम्य का अर्थ है, एक साथ जुड़े हुए और विरुद्ध फल देने वाले पुण्य-रूप, अपुण्य-रूप अथवा उभय-रूप कर्मों का एक साथ फलदान के प्रति उन्मुख हो उठना। ऐसी स्थिति में वे आपस में ही टकरा कर नष्ट हो जाते हैं। यही है कर्मसाम्य की स्थिति। यह कर्मसाम्य ही तिरोधान शक्ति को हटा कर अनुग्रह शक्ति के पात में प्रमुख कारण माना गया है। संसार के प्रति विद्वेष, मुक्त होने की इच्छा, शिव के प्रति भक्ति—ये शक्तिपात के चिह्न हैं। इन चिह्नों से संयुक्त, शक्तिपात से संपन्न शिष्य को देखकर गुरु उसको दीक्षा देते हैं, अर्थात् षडध्वशुद्धि आदि क्रियाकलापों से उसके मल का परिशोधन कर उसे मन्त्र का उपदेश करते हैं।

दीक्षा से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है, यह सिद्धान्त-शैवों का मत है। शैव और वैष्णव आगमों में भी कर्म और कर्मसाम्य की मोक्षसाधना मानी गई है। आचार्य और शिष्य के परस्पर के संबन्ध को जोड़ने वाला है—मन्त्र। यह मन्त्र शिव का सकल स्वरूप माना जाता है। शक्तिपात से युक्त शिष्य अपने दीक्षागुरु (देशिक)के पास जाकर दीक्षा के द्वारा अपने पापों का क्षय कर निर्मल हो गुरु-प्रदत्त मन्त्र की सहायता से शिवसाम्य को प्राप्त कर लेता है। शिव के समान जीवों में भी सर्वज्ञता आदि गुण पहले

से ही विद्यमान हैं, किन्तु संसार-दशा में मल के कारण अवरुद्ध हुए ये गुण प्रकाशित नहीं हो पाते। मुक्ति-दशा में मल के हट जाने से वे प्रकट हो उठते हैं। इस तरह से अपने ही गुणों की अभिव्यक्ति होने से शिवसाम्य-दशा प्रकट होती है, ऐसा सिद्धान्त-शैवों का मानना है।

मोक्षकारिका, परमोक्षनिरासकारिका और इनके व्याख्यानों में शिवसाम्य में उत्पत्ति, संक्रान्ति, आवेश, विलय जैसे पक्षों का खण्डन किया गया है। इनमें उत्पत्ति-पक्ष कालामुखों को, संक्रान्ति-पक्ष पाशुपतों को और आवेश-पक्ष कापालिकों को मान्य है। यह अभी बताया जा चुका है कि विलय-पक्ष की चर्चा कुमारदेव ने की है।

परमोक्षनिरासकारिका में तारामण्डल में नक्षत्रों के बीच में स्थिति को मोक्ष मानने वालों के मत की समालोचना की गई है। कुमारदेव के अनुसार किन्हीं आर्हतों (जैनों) का यह सिद्धान्त है। परिणामवादी भास्कराचार्य, मायावादी शांकर दर्शन और प्रदीप-निर्वाणवादी बौद्धों का मत भी यहाँ समालोचित है। इसी ग्रन्थ से लकुलीश के शिष्य मुसुलेन्द्र के *हृदयप्रमाण* नामक ग्रन्थ की सूचना मिलती है। व्याख्याकार रामकण्ठ विलय-स्वरूप मोक्ष की विवेचना करते हुए कहते हैं कि जैसे घट आदि पदार्थों का उनके मृत्तिका आदि उपादानों में विलय हो जाता है, उसी तरह नित्य महाविभूति में सबका विलय हो जाना ही मोक्ष है (पृ० २९९)। विलय-पक्ष की यह व्याख्या कुमारदेव की व्याख्या से भिन्न लगती है। हम बता चुके हैं (पृ० १०८) कि सांख्य दर्शन में बन्ध और मोक्ष की कोई वास्तविक सत्ता नहीं है।

बन्ध और मोक्ष

अद्वयवादी त्रिपुरा, त्रिक, क्रम, कुल जैसे दर्शनों में भी बन्ध और मोक्ष की कोई वास्तविक सत्ता नहीं मानी जाती। *आत्मसप्तति* नाम के ग्रन्थ में कहा गया है कि वास्तव में बन्ध नाम की कोई वस्तु है ही नहीं, जब बन्ध नहीं है, तब मुक्ति का प्रश्न ही कहाँ उठता है। *स्वस्वभावसंबोधन* का कहना है कि बन्धन, बँधनेवाला और बाँधनेवाला—इन तीनों में से कोई भी नहीं है। वास्तव में यह सारा जगत् अपनी विकल्पात्मक वृत्तियों के कारण ही नाना प्रकार के बन्धनों में रात-दिन जकड़ा रहता है। *सर्वज्ञभैरव* का कहना है कि मोक्ष कोई ऐसा स्थान नहीं है, जहाँ किसी को जाना पड़ता हो। अज्ञानरूपी ग्रन्थि (बन्धन) का टूट जाना ही वस्तुतः मोक्ष है। *वीरावलीशास्त्र* का कहना है कि मोक्ष का अर्थ कहीं जाना नहीं है, वस्तुतः अज्ञानरूपी ग्रन्थि का कट जाना ही मोक्ष कहलाता है। इस अज्ञानरूपी ग्रन्थि का भेदन अपनी संवित्ति के विकास से होता है। *परमार्थसार* के शैव और वैष्णव दृष्टि के प्रतिपादक दो संस्करण उपलब्ध हैं। उन दोनों में थोड़े से पाठभेद के साथ बताया गया है कि मोक्ष के लिए कोई पवित्र धाम (स्थान) निर्धारित नहीं है और न इसके लिए कहीं जाना ही पड़ता है। वास्तव में

अज्ञानरूपी ग्रन्थि के कट जाने पर अपनी आध्यात्मिक शक्ति का अभिव्यक्त हो उठना ही मोक्ष कहलाता है। *धातुसमीक्षा* का कहना है कि अविद्या से आवृत जीव बद्ध कहलाता है और अविद्या के क्षय के साथ वह मुक्त हो जाता है।

संसार और निर्वाण

बौद्ध दार्शनिक भी इसी पद्धति से संसार और निर्वाण की कोई वास्तविक सत्ता नहीं मानते। वे कहते हैं कि नाना प्रकार के संकल्पों के अन्धकार में डूबा, प्रबल झंझावात के समान अतिचंचल यह चित्त जब राग-द्वेष आदि दुरन्त मलों से घिर जाता है, तो भगवान् वज्री ने इसी स्थिति को संसार कहा है। यही चित्त सभी प्रकार की विकल्प-वासनाओं से मुक्त, राग-द्वेष आदि से निर्लिप्त हो जब प्रभास्वर हो जाता है, जब ग्राह्य-ग्राहक आदि की कोई सत्ता नहीं रह जाती, तो उस स्थिति को निर्वाण कहा जाता है।

मोक्ष

चार पुरुषार्थों का परिचय देते हुए काका कालेलकर मोक्ष की वेदान्तपरक व्याख्या करते हैं, किन्तु अन्यत्र वे कहते हैं—"कहा जाता है—मोक्ष यानी अपने स्वरूप की पहचान। पर मैं तो मोक्ष का सीधा अर्थ करता हूँ, बन्ध से मुक्ति, दोषों से मुक्ति, अज्ञान से मुक्ति। मेरी कल्पना के अनुसार काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर, इन छः विकृतियों से, शत्रुओं से पूर्णतया बच पाना ही मोक्ष है। इनका बन्धन जबर्दस्त है। उग्र साधना और अन्तर्मुख जागरूकता से ही मनुष्य इन विकारों से मुक्त हो सकता है" (पृ० ६९)। आगे आत्मौपम्य और विश्वात्मैक्य दृष्टि की चर्चा करते हुए काका साहब बौद्ध आचार्य शान्तिदेव के मोक्षविषयक विचार का इस प्रकार उल्लेख करते हैं—

मुच्यमानेषु सत्त्वेषु ये ते प्रामोद्यसागराः।
तैरेव ननु पर्याप्तं मोक्षेणारसिकेन किम्॥

अर्थात् प्राणियों के मुक्त होने से चारों तरफ जो आनन्द के सागर की लहरियाँ उठने लगेंगी, वही मेरे लिए पर्याप्त है। मैं अरसिक मोक्ष को लेकर क्या करूँगा?

प्रो० मुकुटबिहारी लाल ने भी अपने ग्रन्थ साम्ययोगमीमांसा (पृ० १४६-१४८) में प्राचीन और नवीन दृष्टि से मोक्ष के स्वरूप पर विचार किया है।

इस प्रकार मोक्ष के स्वरूप पर यहाँ पर्याप्त चर्चा की गई है। तदनुसार हम मोक्ष की भी ऐहलौकिक व्याख्या कर सकते हैं। सांख्य और योगदर्शन को हम भारत का आद्य दर्शन मान सकते हैं। परवर्ती सभी दर्शनों पर, प्रधानतः तन्त्रागमीय दर्शन पर इनका गहरा प्रभाव है। इन्हींकी संक्षिप्त चर्चा अब की जा रही है।

●

सांख्य दर्शन

कृतान्तपंचक की जहाँ-कहीं भी चर्चा हुई है, उसमें सांख्य दर्शन का पहला स्थान है। महाभारत के नारायणीयोपाख्यान (अध्याय ३४८) में सांख्य, योग, वेद और पांचरात्र शास्त्रों को परस्पर का उपकारक माना गया है। इनका सुन्दर समन्वय भगवद्गीता में हुआ है। सांख्य, योग और उपनिषदों का तो यहाँ स्पष्ट ही उल्लेख मिलता है, इनके अतिरिक्त यहाँ शरणागति और प्रपत्ति आदि के सिद्धान्त पांचरात्र शास्त्र से लिए गए हैं। इस तरह से गीता को सांख्य, योग, उपनिषद् और पांचरात्र सिद्धान्त का संमिलित ग्रन्थ माना जाता है। तिलक महाराज ने भगवद्गीता को एकायन शास्त्र का महान् ग्रन्थ कहा है।

नारायणीयोपाख्यान के विपरीत ब्रह्मसूत्र के तर्कपाद में सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक, जैन-बौद्ध और पांचरात्र-पाशुपत मतों का खंडन कर केवल औपनिषद मत की स्थापना की गई है। तर्कपाद की व्याख्या में शंकर, रामानुज आदि आचार्यों के भाष्य-व्याख्यानों में थोड़ा-बहुत अन्तर मिलता है, किन्तु आगे चलकर धर्मशास्त्र के निबन्ध-ग्रन्थों में कृतान्तपंचक का प्रामाण्य स्वीकृत हो गया। महिम्नस्तव की रचना के काल में त्रयी (वेद), सांख्य, योग और पाशुपत मत के साथ वैष्णव मत, अर्थात् पांचरात्र-शास्त्र की भी स्वतन्त्र प्रस्थान के रूप में प्रतिष्ठा हो चुकी थी।

पांचरात्राधिकरण की व्याख्या करते हुए आचार्य रामानुज अपने भाष्य में इस श्लोक को उद्धृत करते हैं—

सांख्यं योगः पाञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा।
स्वयंप्रमाणान्येतानि न हातव्यानि हेतुभिः॥

इसको उद्धृत कर वे कहते हैं कि ये सभी शास्त्र स्वयं अपने में प्रमाण हैं, अर्थात् इनको वेद आदि के प्रमाण की अपेक्षा नहीं है। स्पष्ट है कि प्राचीन काल से ही सांख्य को प्रामाणिक शास्त्र की मान्यता मिल गई थी।

आगे चलकर कपिल के सांख्यशास्त्र के साथ बुद्धवचनों का भी आगमों में समावेश मान लिया गया और *सर्वागमप्रामाण्य* जैसे ग्रन्थों का भी निर्माण हो गया। वैष्णव *परमार्थसार* में हमें सांख्यदर्शन का अद्वैतोन्मुख स्वरूप देखने को मिलता है और इन्हीं श्लोकों की आचार्य अभिनवगुप्त ने शैवी व्याख्या प्रस्तुत की है।

नारायणीयोपाख्यान में ही नहीं, पूरे भारतीय वाङ्मय में कपिल मुनि सांख्य के प्रवक्ता माने गये हैं। ये भारतीय उदारवादी परम्परा के आद्य आचार्य माने जा सकते हैं। डॉ० लल्लन जी गोपाल ने जैन तीर्थंकार पार्श्वनाथ के साथ इनका काल ईसापूर्व ८वीं-नवीं शताब्दी स्थिर किया है। इनके दर्शन का परवर्तीकाल के दर्शनों पर ही नहीं, चिकित्साशास्त्र पर भी गहरा प्रभाव पड़ा है। सांख्य के त्रिगुण-सिद्धान्त के आधार पर

ही आयुर्वेद का त्रिधातु-सिद्धान्त स्थापित हुआ है। अभ्युदय और निःश्रेयस के प्रकरण (पृ० १०८-१०९) में तथा योगी अरविन्द के पूर्णयोग के प्रसंग (पृ० १६७) में सांख्यदर्शन का और उसकी प्राकृतिक सृष्टि का परिचय दिया गया है। साधारण मनुष्य भी आसानी से इस दर्शन की प्रक्रिया को समझ सकता है, क्योंकि यह मनुष्य की प्रकृति (स्वभाव) का ही दर्शन है।

उपनिषदों के साथ मिलकर सांख्यदर्शन ने वैदिक हिंसाप्रधान कर्मकाण्ड की समालोचना की है। इसीलिए इसके विरुद्ध भी अप्रामाण्य की आशंका प्रस्तुत की गई, किन्तु अन्ततः पूरे भारतीय वाङ्मय में योगदर्शन के साथ सांख्यदर्शन का भी अप्रतिहत वर्चस्व स्थापित हो गया।

•

योगदर्शन एवं योगशास्त्र

पातंजल योगसूत्र में चित्तवृत्ति के निरोध के रूप में और पुराण आदि में आत्मा और परमात्मा के मिलन के रूप में योग शब्द परिभाषित है। आचार्य नरेन्द्रदेव ने संस्कृति के समान योग को भी चित्तभूमि की खेती बताया है। उनका यह लक्षण पातंजल योगसूत्र पर आधारित है। गीता के चतुर्थ अध्याय के प्रारंभ के श्लोकों में योगाचार्यों की जो परम्परा दी गई है, वही नारायणीयोपाख्यान में पांचरात्र शास्त्र के प्रवक्ताओं की भी है। नारायणीयोपाख्यान में सांख्यशास्त्र के प्रथम प्रवक्ता हिरण्यगर्भ माने गये हैं। कृतान्तपंचक की जहाँ-कहीं भी चर्चा मिलती है, वहाँ सांख्य का प्रथम और द्वितीय स्थान योग का है। पूरे भारतीय दर्शनशास्त्र और पांचरात्र, पाशुपत आदि मतों पर ज्ञान की इन दो (सांख्य-योग) शाखाओं का सर्वत्र अक्षुण्ण प्रभाव है। ब्रह्मसूत्र के तर्कपाद में सांख्य के समान योग को भी अप्रामाणिक अवश्य कहा गया है, किन्तु अन्ततः वेद के समान ही अन्य मतों का भी प्रामाण्य स्थापित हो गया और कृतान्तपंचक के नाम से ये सब प्रसिद्ध हुए। धर्मशास्त्र के निबन्ध-ग्रन्थ वीरमित्रोदय में इनकी प्रामाणिकता पर प्रश्न उठाकर अन्ततः कहा गया है कि धार्मिक विवादों के निर्णय में ये सब प्रमाण हैं।

नारायणीयोपाख्यान के समान अघोर शिवाचार्य ने भी अपनी मृगेन्द्रागमवृत्ति-दीपिका (विद्यापाद, पृ० ७४) में उद्धृत एक वाक्य में हिरण्यगर्भ को ही योगशास्त्र का प्रथम प्रवक्ता बताया है, किन्तु आज उनका योगशास्त्र उपलब्ध नहीं है। महर्षि पतंजलि का योगसूत्र और उस पर रचित व्यासभाष्य ही आजकल इस शास्त्र के प्रामाणिक ग्रन्थ माने जाते हैं। अभिनवगुप्त ने गुरु से शिष्य तक होने वाली ज्ञान की संक्रान्ति के विषय में जिस वाक्य को उद्धृत किया है, वह व्यासभाष्य (१.७) में आनुपूर्वी से मिल जाता है। परस्पर समन्वय स्थापित करने में और वैदिक कर्मकाण्ड में संशोधन प्रस्तुत करने में

योगशास्त्र की भूमिका सांख्यशास्त्र के समान ही है। इसी लिए भगवद्गीता में सांख्य और योग को कर्म से जोड़ कर इनकी परस्पर की अभिन्नता अर्थात् ज्ञानकर्मसमुच्चय पक्ष की स्थापना की। वीरशैव जैसे द्वैताद्वैतवादी दर्शनों में भी कृतान्तपंचक का प्रामाण्य तो स्वीकृत है ही, पक्षी के दृष्टान्त से यहाँ ज्ञानकर्मसमुच्चय पक्ष को भी मान्यता दी गई है। इन आचार्यों का कहना है कि जैसे पक्षी एक पंख से उड़ नहीं सकता, उड़ने के लिए उसे दोनों पंखों की एक साथ आवश्यकता पड़ती है, उसी तरह से ज्ञान और कर्म का भी समसमुच्चय अपेक्षित है। यही कारण है कि गीता में सांख्य और योग को अभिन्न शास्त्र के रूप में मान्यता दी गई है।

सभी भारतीय धर्मों और दर्शनों से योगशास्त्र का अटूट सम्बन्ध है। अपने-अपने मुख्य ध्येय तक पहुँचने के लिए इनमें सर्वत्र अपनी-अपनी योगविधि निर्धारित की गई है। उदाहरण के रूप में हम बौद्ध और जैन योगशास्त्र को प्रस्तुत कर सकते हैं। कौल योगविधि का रहस्य पक्ष बौद्ध सेकयोग से और पिण्ड-पद-रूप-रूपातीत (कुण्डलिनी योग) वाला पक्ष जैन-योग की चतुर्विध ध्यान की पद्धति से समरस है। सिद्धान्तशैव मत के कामिक आदि २८ आगमों में तो सर्वत्र अपना-अपना स्वतन्त्र ही योगपाद समाविष्ट है। तन्त्रागमशास्त्र की विभिन्न शाखाओं में अष्टांग योग अथवा षडंग योग की अपनी-अपनी दृष्टि से व्याख्या की गई है। नेत्रतन्त्र में स्थूल, सूक्ष्म और पर नामक त्रिविध ध्यान की विधियाँ वर्णित हैं। कुण्डलिनी योग से तथा नाथ योग से इनकी तुलना की जा सकती है। अष्टांग योग की पद्धति भी यहाँ भिन्न प्रकार से वर्णित है, क्योंकि क्रमदर्शन ने पातंजल अष्टांग योग की परतत्त्व के दर्शन में असमर्थता को स्पष्ट किया है।

हठयोग के बीज यद्यपि पाशुपत योग और कौल संप्रदाय की कृतक शाखा में भी मिलते हैं, जिनमें वज्रयान का समावेश भी किया जा सकता है, तथापि इसको व्यवस्थित रूप देने वाले संभवतः गोरक्षनाथ थे। इस बात को पूरी तरह से नहीं स्वीकार किया जा सकता कि नाथ संप्रदाय मैथुनवर्जी था, क्योंकि वज्रौली जैसी क्रियाओं का वर्णन हठयोग के ग्रन्थों में मिलता है। कौल संप्रदाय की अकृतक शाखा से सहज योग का विकास माना जा सकता है। तन्त्रशास्त्र और योगशास्त्र की कुछ रहस्यात्मक प्रक्रियाओं के खतरों से सावधान करने के लिए ही हमने विज्ञानभैरव की प्रस्तावना (पृ० ३२-३६) में प्रबुद्ध जनता को सजग किया था।

योगी अरविन्द के पूर्णयोग का और श्रद्धेय कविराज जी के अखंड महायोग का संक्षिप्त परिचय इनकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को स्पष्ट करने के लिए यहाँ दिया गया है (पृ० १६५-१७१)। भारतीय योगशास्त्र का भी तन्त्रागमशास्त्र के समान ही अतिविशाल साहित्य उपलब्ध है। *तन्त्रागमीय धर्म-दर्शन* की पद्धति से एक विशाल

ग्रन्थ की रचना से ही इसका पूरा परिचय मिल सकता है। लोनावाला (महाराष्ट्र) के योगसंस्थान में इस पर कार्य हो रहा था। अस्तु

सांख्य और योग दर्शन के इस संक्षिप्त दिग्दर्शन के बाद अब यहाँ इनकी पृष्ठभूमि में विकसित हुए तन्त्रागमीय दर्शन की एक संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की जा रही है।

●

तन्त्रागमीय दर्शन

भारतीय साहित्य के इतिहासकार डॉ० कीथ ने कहा था कि तन्त्रशास्त्र का दार्शनिक दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं है। इस मत को अपनी स्वीकृति देते हुए से म०म०पी०वी० काणे अपने महनीय ग्रन्थ *धर्मशास्त्र का इतिहास* के तन्त्रशास्त्र के प्रकरण में कहते हैं कि सायण-माधव बन्धुओं ने सर्वदर्शनसंग्रह में तान्त्रिक दर्शन के विषय में कुछ भी नहीं लिखा। इस मत का खण्डन[६] हम कर चुके हैं। दर्शनशास्त्र की खण्डन-मण्डन प्रधान कुछ शाखाओं का अध्ययन[७] करने वाले इस तरह के दार्शनिक विद्वानों और इतिहासकारों ने शायद सर्वदर्शनसंग्रह के न(ल)कुलीश पाशुपत, प्रत्यभिज्ञा एवं सिद्धान्तशैव दर्शन प्रकरणों को नहीं देखा है। म० म० श्रद्धेयचरण श्री श्री गोपीनाथ कविराज के प्रयत्न से अब इस दृष्टि में परिवर्तन आया है और तन्त्रागमीय दर्शन को भी भारतीय दर्शनशास्त्र के इतिहास-ग्रन्थों में स्थान मिलने लगा है।

यह हमें समझ लेना चाहिए कि आगम और तन्त्र दो भिन्न शास्त्र नहीं हैं। पांचरात्र मत की सात्वतसंहिता सात्वततन्त्र और पाद्मसंहिता पाद्मतन्त्र भी कहलाती है। लक्ष्मीतन्त्र भी पांचरात्र आगम का ही ग्रन्थ है। इसी तरह सिद्धान्त शैवागम का मृगेन्द्रागम मृगेन्द्रतन्त्र और मतंगपारमेश्वरागम मतंगतन्त्र भी कहलाता है। तन्त्रागमशास्त्र की सभी शाखा-प्रशाखाओं के विषयों के संग्राहक अपने ग्रन्थों को अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक और तन्त्रसार नाम दिया है। सिद्धान्तसारावलि की टीका (पृ० २८३-२८४) में उद्धृत कारणागम के वचनों में २८ सिद्धान्तशैवागमों के लिए आगम, संहिता और तन्त्र शब्दों का प्रयोग पर्याय के रूप में हुआ है। आगम, संहिता और तन्त्र के नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थों में प्रायः एक-सरीखे विषय वर्णित हैं। शाक्त तन्त्रों को शाक्तागम भी कहा जाता है। वैदिकी और तान्त्रिकी श्रुतियाँ प्रसिद्ध हैं। इनमें वैदिकी श्रुति त्रैवर्णिक-विषय और तान्त्रिकी श्रुति सर्ववर्ण-विषय है। इस प्रकार यहाँ का तान्त्रिक शब्द संपूर्ण आगमिक और तान्त्रिक साहित्य का संग्राहक है। इस पूरे साहित्य को हम आगम अथवा तन्त्र के नाम से संबोधित कर सकते हैं।

---

६. "आगम और तन्त्रशास्त्र", पृ० २०-२२ देखिए।

७. "निगमागमीयं संस्कृतिदर्शनम्" में प्रकाशित "आगमीयं दर्शनम्" शीर्षक निबन्ध के प्रारम्भ (पृ० १२५) में इनकी चर्चा की गई है।

वैदिक वाङ्मय, पांचरात्र-पाशुपत मत, जैन-बौद्ध मत, पौराणिक वाङ्मय और सन्त साहित्य—यह है भारतीय वाङ्मय का विकासक्रम। कृतान्तपंचक के नाम से प्रसिद्ध सांख्य, योग, पांचरात्र, पाशुपत और वेदारण्यक का पूरे परवर्ती साहित्य पर प्रभाव है और सन्त कबीर की वाणी भी इनसे अनुप्राणित है। यहाँ आन्तर उपासना पर, भावशुद्धि पर अधिक बल दिया गया है। आगमिक दर्शन भी इसी भावना से उत्प्रेरित है। इसीलिए यहाँ शुष्क तर्क का कोई स्थान नहीं है। मालिनीविजय (१७. १८) में योग के अंगों में तर्क को श्रेष्ठ माना गया है, किन्तु यह स्थान शास्त्रानुमोदित तर्क को दिया गया है। निरुक्त, मनुस्मृति, महाभारत, ब्रह्मसूत्र, वाक्यपदीय आदि ग्रन्थों में शुष्क तर्क को अग्राह्य बताते हुए आगमानुमोदित तर्क को प्रतिष्ठित किया गया है। इस शास्त्रानुमोदित तर्क के अनुसार सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से संपन्न व्यक्ति भी सम्यक्चारित्र के अभाव में तर्कपद्धति का सही उपयोग नहीं कर सकता। ऐसे तार्किकों और दार्शनिकों को लक्षित करके ही ''कलौ वेदान्तिनो भान्ति फाल्गुने बालका इव'' इस तरह की लोकोक्तियाँ प्रचलित हैं। ''अधीतिबोधाचरणप्रचारणैः'' इस वचन में नैषधकार ने आचरण-सम्पन्न व्यक्ति को ही धर्मप्रचार का अधिकारी माना है।

तन्त्रागमशास्त्र में सम्यग् दर्शन-ज्ञान-चारित्र की सिद्धि के लिए ज्ञान, योग, क्रिया और चर्या नामक पादों का विधान है। इनमें सम्यग्दर्शन की सिद्धि के लिए ज्ञान (विद्या) पाद, सम्यग्ज्ञान के लिए योगपाद और सम्यक्चारित्र की सिद्धि के लिए क्रिया और चर्यापाद का विधान है। पादविभाग के न रहने पर भी शैव, वैष्णव, शाक्त, बौद्ध आदि सभी तन्त्रों में इस तरह के विषय सर्वत्र वर्णित हैं। इन सबमें यद्यपि क्रिया और चर्या सम्बन्धी विषयों का अधिक विस्तार है, तो भी साधक के लिए आवश्यक दार्शनिक दृष्टि का भी समुन्मेष किया ही गया है। केवल स्पन्द-प्रत्यभिज्ञा-त्रिक दर्शनों में ही नहीं, द्वैतवादी सिद्धान्तागमों में और शाक्तागमों में भी विशिष्ट दार्शनिक अंश वहाँ के विद्यापाद में तथा अन्यत्र भी प्रदर्शित हैं। *अष्टप्रकरण* के नाम से मुद्रित ग्रन्थ में पाँच प्रकरण सद्योज्योति शिवाचार्य के हैं। इनका शिवदृष्टिकार सोमानन्द ने भी सादर स्मरण किया है। नरेश्वरपरीक्षा भी सद्योज्योति की कृति है। इस पर भट्ट रामकण्ठ ने व्याख्या लिखी है। कश्मीर से यह ग्रन्थ प्रकाशित हो चुका है। भोजदेव-रचित तत्त्वप्रकाश पर कुमारदेव और अघोरशिव ने व्याख्याएँ लिखी हैं। इन्हीं ग्रन्थों के आधार पर सर्वदर्शनसंग्रह में त्रिविध शैवदर्शन संगृहीत हैं। कुमारदेव की तत्त्वप्रकाश की व्याख्या में और रामकण्ठ की नरेश्वरपरीक्षा की व्याख्या में तान्त्रिकों की गहन दार्शनिक दृष्टि और तर्कपद्धति को देखा जा सकता है।

लकुलीश-पाशुपत दर्शन में भी सूत्र, भाष्य, कारिका आदि के रूप में अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं। इस दर्शन के प्रवर्तक लकुलीश हैं। पुराणों में वर्णित २८ योगाचार्यों में ये अन्तिम

८. ऊपर चर्चित पुस्तक के उसी निबन्ध (पृ० १२९-१३९) को देखिए।

हैं। इनकी शिष्य-परम्परा लाकुल, मौसुल, वैमल और कारुक के नाम से प्रसिद्ध है और कश्मीर के क्षेमराज आदि विद्वानों ने इनकी चर्चा की है। कारोहण तीर्थ में अवतीर्ण लकुलीश-शिष्य मुसुलेन्द्र ने *हृदयप्रमाण* नामक ग्रन्थ की रचना की थी। आज यह उपलब्ध नहीं है। प्रपंचसार, ईशानशिवपद्धति, शारदातिलक जैसे ग्रन्थों में भी आवश्यक दार्शनिक अंश उपलब्ध होते हैं। नित्याषोडशिकार्णव जैसे शाक्त संप्रदाय के ग्रन्थों में भी त्रिपुरा, क्रम, कुल, त्रिक आदि मतों की विशिष्ट दार्शनिक दृष्टि का परिचय दिया गया है। इस स्थिति में तन्त्रों में दार्शनिक दृष्टि का अभाव है, यह कथन नितान्त गलत है।

इस प्रसंग में हम अभिनवगुप्त एवं क्षेमराज की उक्तियों की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट कराना चाहते हैं। ई०प्र०वि०वि० (भा० १, पृ० ११) में अभिनवगुप्त कहते हैं कि इस तरह से अपने में उन्माद को जगानेवाली और दूसरों का अपमान करनेवाली पंडिताई से हमें क्या लेना-देना है? स्पन्दनिर्णय (पृ० १६) में क्षेमराज कहते हैं कि सुकुमार हृदयवाले साधक-जनों में शास्त्रों के प्रति उपेक्षाभाव को जगाने वाली तर्क-कथाओं से हम दूर रहना चाहते हैं। हम देखते हैं कि आगम-तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थों में इसका पूरी तत्परता से पालन किया गया है। अपने पक्ष की स्थापना यहाँ की गई है। परपक्ष के निराकरण पर बहुत कम ध्यान दिया गया है। इस प्रसंग में हमारे "आगम और तन्त्रशास्त्र की सृष्टिप्रक्रिया"[१] शीर्षक निबन्ध को देखा जा सकता है। इस तरह से तन्त्रागमशास्त्र का कोई दर्शन नहीं है, यह कथन कुतर्क की श्रेणी में ही समाविष्ट होगा।

बात यह है कि जान वुडरफ जैसे पाश्चात्य विद्वानों और उनके सहयोगी भारतीय विद्वानों ने भी सर्वप्रथम जिस तान्त्रिक वाङ्मय को प्रकाशित किया, उसको देखकर ही संस्कृत साहित्य के इतिहास के लेखक डॉ० विण्टरनित्ज जैसे विद्वानों ने पुराणों के साथ तन्त्रशास्त्र के अनुशीलन को भी अरुचिकर बता दिया। इस तरह के आक्षेपों का म०म०पी०वी० काणे ने खंडन कर दिया है। यह सही है कि कुछ तान्त्रिकों ने लोकाचार की उपेक्षा कर स्वेच्छाचार का वरण कर लिया था और उनकी दानसागर-कार वल्लालसेन ने समालोचना की थी। यही कारण था कि इस तरह के संपूर्ण तान्त्रिक वाङ्मय के साथ बौद्ध धर्म में प्रवृत्त इस तरह के साहित्य की भी उपेक्षा होने लगी। पांचरात्र, पाशुपत आदि मत अवैदिक हैं, इस तरह के मतवादों ने भी इसमें सहायता की। इस उपेक्षा के कारण तान्त्रिक वाङ्मय में विकृति आने लगी। उस विकृति के कारण और व्याकरण के नियमों की अवहेलना के कारण ये ग्रन्थ भाषा और विचार की दृष्टि से कमजोर पड़ गये। ऐसे तान्त्रिक वाङ्मय को देखकर ही आजकल के पाश्चात्य और कुछ भारतीय विद्वानों की भी इसी तरह की उक्तियाँ प्रचारित हो गई कि तन्त्रशास्त्र का दार्शनिक दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं है।

१. आगम और तन्त्रशास्त्र, (पृ० ८९-९८) देखिए।

पांचरात्र आदि वैष्णवागमों से रामानुज आदि के वैष्णव दर्शनों का और पाशुपत आदि शैवागमों से शैव दर्शनों का प्रसार हुआ, इसको कौन अस्वीकार कर सकता है? सर्वदर्शन-संग्रह में पूर्णप्रज्ञ(मध्व)दर्शन का परिचय कराते समय बताया गया है कि रामानुज और मध्वाचार्य के मत पर समान रूप से पांचरात्र आगम का प्रभाव है। सात्वतसंहिता, जयाख्यसंहिता, अहिर्बुध्न्यसंहिता, लक्ष्मीतन्त्र आदि पांचरात्र आगमों में स्थापित दार्शनिक दृष्टि का वैष्णवाचार्यों ने विस्तार किया है। श्रीकण्ठभाष्य के व्याख्याता अप्पय दीक्षित ने श्वेत आदि पाशुपत योगाचार्यों का सादर स्मरण किया है और सद्योज्योति शिवाचार्य की मोक्षकारिका एवं रौरवागम के वार्त्तिककार बृहस्पतिपाद के वचनों को उद्धृत किया है। ये दोनों आचार्य शैवागमों के प्रथम व्याख्याता रहे हैं, इसकी सूचना भट्ट रामकण्ठ ने मोक्षकारिका की अपनी व्याख्या के प्रारम्भ में दी है। इस स्थिति में तन्त्रों का दार्शनिक दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं है, यह कथन सही नहीं माना जा सकता।

अद्वैतवादी आगमिकों की मान्यता है कि जैसे नट अपने मन से राम-कृष्ण, रावण-कंस आदि की भूमिका में प्रविष्ट होकर नाना प्रकार के सुख-दुःखों की अनुभूति स्वयं तटस्थभाव से करता हुआ भी दर्शकों में साधारणीकरण प्रक्रिया के आधार पर सचमुच की-सी अनुभूति पैदा करा देता है, उसी तरह से ईश्वर भी तटस्थ भाव से लीला करता है। लीला करते-करते वह बौद्ध और पौरुष अज्ञान से आवृत हो जाता है और इस तरह से उसकी शक्तियाँ और स्वरूप संकुचित हो जाते हैं। संकुचित प्रमाता के रूप में वह अपने स्वरूप को भूल बैठता है। यह स्वरूप-विस्मृति ही इनके यहाँ *बन्ध* है और स्वरूप की स्मृति ही *मोक्ष* कहलाती है। इस तरह से इनके मत में *बन्ध* और *मोक्ष* की कोई वास्तविक सत्ता नहीं है। इनकी दृष्टि में यह सारा विश्व *अहम्* का ही विलास है। चित्रकार कागज, कपड़ा या दीवाल पर अपनी कल्पना का चित्र बनाता है। यह ईश्वर ऐसा अनोखा चित्रकार है कि बिना किसी आधार के अपने आपमें इस विश्व के उन्मीलन और निमीलन की लीला करता रहता है। अपनी अहन्ता को यह परिमित प्रमाता के रूप में भौतिक शरीर तक सीमित कर देता है और फिर वही परप्रमाता के रूप में इस पूरे विश्व में विश्वाहन्ता के रूप में इसका विस्तार कर लेता है। इस स्थिति में वह इस पूरे विश्व को अपना कुटुम्ब नहीं, किन्तु स्वयं अपना ही स्वरूप मानता है।

तन्त्रागमीय दर्शन की इस संक्षिप्त रूपरेखा को प्रस्तुत कर हम इस तृतीय अधिकार को पूरा कर रहे हैं। आगे चतुर्थ अधिकार में इसीकी पृष्ठभूमि में तन्त्रागमीय साहित्य के साथ सिद्धों और भक्तों का परिचय देते हुए तन्त्रागमशास्त्र की सामयिक उपयोगिता पर प्रकाश डाला जा रहा है।

●

चतुर्थ अधिकार

आगम साहित्य

तन्त्रागमीय वाङ्मय

'तान्त्रिक' शब्द आज बदनाम-सा हो गया है। मात्र जादू-टोना और मन्त्र-यन्त्र आदि के उपयोग तक ही आज यह शब्द सीमित कर दिया गया है। धर्म अथवा संस्कृति के इतिहास-ग्रन्थों में भी तान्त्रिक धारा की पूर्ण उपेक्षा की गई है। इतिहास के ग्रन्थों में शैव और वैष्णव धारा का वर्णन मिलता है, किन्तु उनका संबन्ध तन्त्रागमीय वाङ्मय से न जोड़कर पुराणों से जोड़ा जाता है। इस त्रुटि की ओर हम पाठकों का ध्यान आकृष्ट कराना चाहते हैं।

केवल महाभारत में ही नहीं, प्राचीन बौद्ध एवं जैन ग्रन्थों में भी पांचरात्र धर्म तथा कृष्ण-बलदेव आदि का उल्लेख मिलता है। शतपथब्राह्मण में अहिंसक पांचरात्र सत्र का विधान है। पांचरात्र धर्म के अनुयायी राजा वसु उपरिचर ने अहिंसक सत्र का अनुष्ठान किया था। जैन ग्रन्थों में भी इसका उल्लेख मिलता है। शतरुद्रिय अध्याय में पशुपति शिव शूद्र तथा अतिशूद्र समझे जाने वाले लोगों के भी देवता हैं। महाभारत में श्रीकण्ठ को पाशुपत मत का आदि प्रवक्ता माना गया है। ये पांचरात्र और पाशुपत मत ही वैष्णव और शैव धर्म के मूल स्रोत हैं। बौद्ध एवं जैन धर्म से भी पहले भारतीय संस्कृति की इस धारा ने वैदिक धर्म में आवश्यक संशोधन-परिवर्धन का प्रयत्न किया, तो भी इसने कभी भी बौद्ध और जैन धर्म के समान वैदिक धर्म की सर्वथा अवहेलना नहीं की। इस धारा का वाङ्मय पहिले आगमशास्त्र और बाद में तन्त्रशास्त्र के नाम से जाना जाने लगा।

आज से लगभग 80 साल पहले भी रामकृष्ण गोपाल भांडारकर ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ ''वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड अदर माइनर रिलीजियस सिस्टम्स'' (वैष्णव, शैव और अन्य धार्मिक मत) में तान्त्रिक संस्कृति की न केवल वैष्णव और शैव, अपितु शाक्त, गाणपत्य, स्कान्द और सौर धाराओं का भी प्राथमिक परिचय देने का प्रयत्न किया था। यह प्रयत्न जहाँ तक हमारा परिचय है, बहुत आगे नहीं बढ़ पाया। तन्त्रागमशास्त्र की पांचरात्र, शैव, शाक्त, बौद्ध आदि धाराओं पर स्वतन्त्र ग्रन्थ अवश्य लिखे गये, किन्तु ये सब प्रयत्न सामूहिक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में नहीं किये गये और न इन धाराओं की परस्पर अनुस्यूतता की ओर ही विशेष ध्यान दिया गया।

इस तन्त्रागमीय संस्कृति ने जैन और बौद्ध धारा के समान वैदिक संस्कृति से ही अपने उपादान लिए अथवा ऐतिहासिकों के द्वारा निर्धारित वेदपूर्व आर्येतर सभ्यता का

भी इसको अवदान मिला, इस विवाद में हम अभी पड़ना नहीं चाहते। इस विषय में सही निर्णय तो तभी लिया जा सकेगा, जब सिन्धुघाटी में उपलब्ध लिपि को पढ़ने का निर्विवाद समाधान प्राप्त हो जाय। यों वैदिक साहित्य में भी तन्त्रागमीय संस्कृति, विशेषकर पांचरात्र और पाशुपत मत के उपादान बहुतायत से मिलते हैं और अनेक विद्वानों ने इन्हें दिखाया भी है। अन्तर इतना ही है कि वहाँ पांचरात्र और पाशुपत शब्दों के स्थान पर वैष्णव और शैव शब्दों का प्रयोग किया गया है, जो उचित नहीं है। वस्तुतः ये दोनों शब्द परवर्ती हैं और ये पौराणिक संस्कृति की अभिव्यक्ति करते हैं।

हमारी दृष्टि में पौराणिक साहित्य में किसी नवीन दार्शनिक अथवा धार्मिक सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं के बराबर किया गया है। उनमें वेद, सांख्य, योग, पांचरात्र और पाशुपत मतों के अतिरिक्त जैन और बौद्ध विचारधारा का तथा साथ ही समय-समय पर प्रचलित हुए शाक्त, गाणपत्य, स्कान्द, सौर आदि मतों के सिद्धान्तों का भी समन्वय कर समग्र भारतीय संस्कृति के निर्माण का एक योजनाबद्ध सुव्यवस्थित प्रयत्न परिलक्षित होता है। इस दृष्टि से पुराणों का अध्ययन करने पर ही हम यहाँ के धार्मिक और सांस्कृतिक इतिहास के क्रमिक विकास का सही मूल्यांकन कर सकते हैं। हमारे मत से न केवल पुराणों, अपितु सांप्रदायिक उपनिषदों का भी इसी दृष्टिकोण से अध्ययन किया जाना चाहिये। भारतीय संस्कृति के अविरल पावन प्रवाह में विभिन्न धाराओं के उद्गम के बाद ही उनको मूल धारा में मिलाने का प्रयत्न प्रारम्भ हुआ, यही मानना उचित और तर्कसंगत भी प्रतीत होता है। अल्लोपनिषद् को हम इसी प्रकार के उपक्रम की कड़ी मान सकते हैं।

वैष्णव आगमों की वैखानस, पांचरात्र और भागवत शाखाओं का विशाल साहित्य अब भी उपलब्ध है। हमने अपने संस्कृत ग्रन्थ ''वैष्णवागमविमर्शः'' में इन तीनों शाखाओं का परिचय दिया है। तिरुपति (बालाजी) की उपासना वैखानस पद्धति से और श्रीरंगम् में पांचरात्र पद्धति से होती है। आन्ध्रप्रदेश में वैखानस मत और तमिलनाडु में पांचरात्र मत आज भी जीवित है। इसी तरह भागवत मत के आधार पर पूरे भारत में भक्ति-सम्प्रदाय का प्रचलन हुआ। दक्षिण भारत में इनका पर्याप्त साहित्य उपलब्ध है। हयशीर्ष पंचरात्र में पांचरात्र संहिताओं के अतिरिक्त भागवत संहिताओं के नाम भी उपलब्ध हैं। शक्तिसंगमतन्त्र में दस प्रकार के वैष्णव मतों का उल्लेख मिलता है। इनका भी संक्षिप्त परिचय हमने उक्त ग्रन्थ में दिया है।

आजकल सर्वाधिक साहित्य पांचरात्र आगम का उपलब्ध है। जर्मन विद्वान् डॉ० ओटो श्रादर ने अहिर्बुध्न्यसंहिता की भूमिका में २१५ पांचरात्र संहिताओं[१] का उल्लेख

१. जर्मन विद्वानृ डॉ० ओटो श्रादर ने अहिर्बुःध्न्यसंहिता के विस्तृत उपोद्घात में पांचरात्र संहिताओं के साथ भागवत संहिताओं का भी समावेश कर लिया है। उनको इस सूची से हटाना जरूरी है, क्योंकि इनके अनुकरण पर यह गलती अन्यत्र भी दुहराई गई है।

किया था। मद्रास से एक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है—पेनारोमा आफ पांचरात्र लिटरेचर। इसमें अब तक उपलब्ध १०४ पांचरात्र संहिताओं का विस्तृत विवरण प्रकाशित किया गया है। इस ग्रन्थ में लगभग ३०० संहिताओं की नामावली भी दी गई है। तिरुपति के केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ (अब मानित विश्वविद्यालय) के पूर्व विद्वान् पं० आसूरि श्रीनिवास आयंगार ने इस सूची में अन्य नाम भी जोड़े हैं। पांचरात्र संहिताओं के हस्तलेखों का यहाँ सबसे बड़ा संग्रह है। इस प्रकार दक्षिण भारत की जागरूकता के कारण विशाल पांचरात्र साहित्य आज भी सुरक्षित है।

पाशुपत आगम की स्थिति ठीक इसके विपरीत है। लकुलीश पाशुपत मत के कुछ ग्रन्थ हमें मिलते हैं। लकुलीश से लेकर विद्यागुरु पर्यन्त अठारह पाशुपत आचार्यों के नाम जैन-ग्रन्थों में भी उपलब्ध हैं। लकुलीश से पूर्व के उस पाशुपत मत का, जिसकी प्रतिष्ठा महाभारत के अनुसार श्रीकण्ठ ने की, बहुत कम साहित्य उपलब्ध है। *तन्त्रागमीय धर्म-दर्शन* के पाशुपत प्रकरण में इसका परिचय देने का हमने प्रयत्न किया है। कई पुराणों में २८ पाशुपत योगाचार्यों और उनमें से प्रत्येक के चार-चार शिष्यों की लम्बी नामावली उपलब्ध होती है। शुक्ल और कृष्ण यजुर्वेद की शाखाओं, कुछ ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थों, रामायण, महाभारत, पुराण एवं स्मृति-ग्रन्थों से ही हम आज उस प्राचीन पाशुपत मत का परिचय प्राप्त कर सकते हैं। सिद्धान्तशैव संप्रदाय के मूल एवं टीका-ग्रन्थों से पांचरात्र और पाशुपत मत के दार्शनिक सिद्धान्तों का पता चलता है, ज़हाँ वे पूर्वपक्ष के रूप में उद्धृत हैं।

वामनपुराण (६.८०-९१) में वर्णव्यवस्था के अनुरूप शैवागम के चार विभाग किये गये हैं। वहाँ बताया गया है कि ब्राह्मण को सिद्धान्तशैव मत की पद्धति से, क्षत्रिय को पाशुपत विधि से, वैश्य को कालामुख और शूद्र को कापालिक विधि से शिव की आराधना करनी चाहिये। चतुर्विध शिवसाम्य की व्याख्या के प्रसंग (पृ० ११५-११६) में इन चारों मतों की चर्चा आ चुकी है। कर्णाटक में येलम्मा (भगवती रेणुका) प्रसिद्ध देवीतीर्थ है। रेणुका मन्दिर के निकटवर्ती ग्राम हुली में किसी समय कालामुख संप्रदाय के अनेक मन्दिर विद्यमान थे। आज भी वीरशैव संप्रदाय के अनुवर्तियों में जैन धर्म के समान ही व्यापारी वर्ग की प्रधानता है। जैन साहित्य में ६३ शलाकापुरुषों की चर्चा है। शैव सन्त नायनारों की संख्या भी ६३ मानी जाती है। शाक्त और बौद्ध तन्त्रों की उपासनाविधि में कापालिकों अथवा महाव्रतधरों की विधि का बहुत-कुछ अनुसरण किया जाता है।

आगमशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने शैवागमों के दस भेदों का वर्णन "शैवदर्शनबिन्दु" नामक ग्रन्थ में किया है। यहाँ उन्होंने २८ सिद्धान्तागमों का वर्णन अभिनवगुप्त की पद्धति से किया है, जहाँ कामिक आदि दस शिवागमों को द्वैतवादी तथा विजय आदि १८ रुद्रागमों को द्वैताद्वैतवादी बताया गया है। इन २८ आगमों की और उनके

२०७ उपागमों की नामावली अब पांडिचेरी के फ्रेंच इंस्टीट्यूट से प्रकाशित रौरवागम के प्रथम भाग की प्रस्तावना में देखी जा सकती है। इस पूरी नामावली को और श्रीकण्ठी-संहिता, नित्याषोडशिकार्णव आदि नौ ग्रन्थों में दी गई ६४ तन्त्रों की नामावली को हमने तालिका के रूप में अकारादि-क्रम से प्रस्तुत किया है। उसे लुप्तागमसंग्रह के द्वितीय भाग के उपोद्घात (पृ० ८६-१११) में देखा जा सकता है। वहाँ हमने तन्त्रागमशास्त्र के स्वल्प परिचित लगभग ४०० ग्रन्थों का भी अलग से परिचय दिया है।

किसी समय कोणार्क, कालपी और मुलतान (पाकिस्तान) स्थित मन्दिरों में भगवान् सूर्य की क्रमशः प्रातः, मध्याह्न और सायंकालीन उपासना की जाती थी। दक्षिण भारत और विशेष कर केरल में आज भी सुब्रह्मण्य के रूप में कुमार स्कन्द की उपासना प्रचलित है। महाराष्ट्र, गुजरात और राजस्थान आदि में भाद्रपद शुक्ल चतुर्थी को बड़े उत्साह के साथ गणपति जयन्ती मनाई जाती है और काशी में माघ कृष्ण चतुर्थी को गणपति के उपासकों की विशाल भीड़ के दर्शन होते हैं। पुराणों में तो इनकी उपासना-विधि की चर्चा है ही, साथ ही गणेश, सौर आदि उपपुराण भी उपलब्ध हैं। इनके अतिरिक्त हस्तलिखित ग्रन्थों के संग्रहालयों में इन सम्प्रदायों के अनेकानेक ग्रन्थ विद्यमान हैं।

वैष्णव, शैव और शाक्त तन्त्रों के साथ सौर, स्कान्द, गाणपत्य आदि मतों का तथा कौल, यामल आदि शास्त्रों का विस्तार से परिचय संमोहनतन्त्र के आधार पर दिया गया है। इससे हमें तन्त्रागमशास्त्र की विशालता का परिचय मिलता है। यह संमोहनतन्त्र कम्बुज[२] (कंबोडिया) से उपलब्ध शिलालेख में उद्धृत संमोहतन्त्र से भिन्न है, इसको स्पष्ट करते हुए हमने त्रिविध संमोहनतन्त्र की चर्चा कर यह बताया है कि जिस संमोहनतन्त्र में इन शास्त्रों का वर्णन है, वह शक्तिसंगमतन्त्र के चतुर्थ छिन्नमस्ता खंड से अभिन्न है। श्रद्धेयचरण श्री श्री गोपीनाथ कविराज के संदर्भ ग्रन्थ "तान्त्रिक साहित्य" से भी तन्त्रागमीय साहित्य की विशालता जानी जा सकती है। दस महाविद्या संबन्धी साहित्य का तथा स्मार्त तन्त्रों का विवरण तो अभी प्रारंभिक अवस्था में है। हालैण्ड से अभी प्रकाशित हुए तन्त्रशास्त्र और आगमशास्त्र[३] संबन्धी दो ग्रन्थों में इनका अच्छा परिचय दिया गया है। स्मार्त तन्त्रों की समृद्धि की ओर हमने अपने संस्कृत निबन्ध "आचार्यशङ्करीयः प्रपञ्चसारः"[४] में कुछ इंगित किया है।

---

२. कम्बुज (कम्बोडिया) में उपलब्ध शिलालेख का परिचय "तन्त्रयात्रा" में प्रकाशित "संमोहनतन्त्रं शक्तिसंगमतन्त्रादभिन्नम्" (पृ० १०६-१११) शीर्षक निबन्ध में हमने दिया है। इसमें चार भारतीय तन्त्रों का उल्लेख है। उनमें से एक "वीणाशिख" अब प्रकाशित हो चुका है।

३. "हिन्दू तान्त्रिक एण्ड शाक्त लिटरेचर" तथा "मिडीवल रिलीजियस लिटरेचर इन संस्कृत"—ये इनके नाम हैं।

४. "निगमागमीयं संस्कृतिदर्शनम्" (पृ० १८२-१८९) देखिए।

मनुस्मृति के टीकाकार कुल्लूक भट्ट का वैदिकी और तान्त्रिकी श्रुति का बोधक वचन प्रसिद्ध है। हारीतस्मृति का यह वचन माना जाता है। श्रीमद्भागवत और देवी-भागवत में वैदिक, तान्त्रिक और मिश्र नामक विभाग मिलते हैं। मिश्र विभाग में हम ऊपर वर्णित स्मार्त तन्त्रों को रख सकते हैं, क्योंकि इनमें वैदिक और तान्त्रिक उभयविध श्रुतियों में समन्वय स्थापित कर विषयों का प्रतिपादन किया गया है। प्रपंचसार, ईशानशिवगुरुदेवपद्धति, शारदातिलक, महाकालसंहिता, शक्तिसंगमतन्त्र आदि इसी कोटि के ग्रन्थ हैं। वैखानस आगम के ग्रन्थों में उक्त त्रिविध विभाग की भिन्न प्रकार से व्याख्या की गई है। वहाँ वैखानस आगम वैदिक, पांचरात्र आगम तान्त्रिक और भागवत आगमों को मिश्र विभाग में रखा गया है। दस महाविद्या संबन्धी समय मत के प्रतिपादक शाक्त-तन्त्रों की गणना हम स्मार्त-तन्त्रों में ही कर सकते हैं। छठी-सातवीं शताब्दी के माने गये विष्णुधर्मोत्तरपुराण में भी स्मार्त उपादान मिलते हैं।

पाशुपत मत की श्रीकण्ठ-प्रवर्तित और लकुलीश-प्रवर्तित धाराओं की चर्चा आई है (पृ० १२८)। अभिनवगुप्त ने द्विविध ज्ञानप्रवाह के रूप में इनकी चर्चा की है। अभिनवगुप्त का कहना है कि लकुलीश आदि आचार्यों ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है कि इस मनुष्य-देह में सभी देवता निवास करते हैं। कायपूजा का सिद्धान्त यहीं से प्रवृत्त हुआ लगता है। कौल शास्त्रों की मान्यता है कि जब हम पाषाण, पट, मृत्तिका आदि जड़ पदार्थों से बनी मूर्तियों में चैतन्य का आधान कर अपने इष्टदेव की उपासना कर सकते हैं, तो इस चेतन शरीर में इष्टदेव की बाह्य और आन्तर वरिवस्या क्यों नहीं कर सकते?

अनेक प्रमाणों से यह सिद्ध हो चुका है कि कौल सम्प्रदाय के आद्य प्रवर्तक मत्स्येन्द्रनाथ हैं। यह भी मान लिया गया है कि ८४ सिद्धों की नामावली के प्रथम मीननाथ मत्स्येन्द्र से अभिन्न हैं। डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने मत्स्येन्द्र का समय पाँचवीं-छठी शताब्दी बताया है। प्रथम सिद्ध मीननाथ का समय भी इसीके आसपास पहुँचता है। बहुत विस्तार में न जाकर हम इतना कह सकते हैं कि श्रीकण्ठ के श्रौत पाशुपत मत से समय मत की और लकुलीश के "सर्वदेवमयः कायः" (तन्त्रालोक, १५.६०४) इस वाक्य पर आधारित सिद्धान्त से कौल और नाथ मत की प्रवृत्ति हुई। बौद्ध तन्त्रों में वर्णित सेकयोग और हठयोग को भी इन्हींके साथ जोड़ा जा सकता है। पर यहाँ इतना अवश्य स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि मत्स्येन्द्र और गोरक्ष के काल में शताब्दियों का अन्तर है।

बौद्ध तन्त्रों की, विशेष कर अनुत्तर तन्त्रों की प्रवृत्ति कौल तन्त्रों से मिलती-जुलती है, अतः उनकी प्रवृत्ति का काल भी यही माना जाना चाहिए। असंग के द्वारा प्रयुक्त आश्रय-परावृत्ति जैसे शब्दों के आधार पर गुह्यसमाजतन्त्र का काल चौथी शताब्दी और

आर्यमंजुश्रीमूलकल्प का काल उससे भी पहले माना जाता है। वस्तुतः *परावृत्ति* शब्द का प्रयोग यहाँ योग के एक अंग प्रत्याहार के अर्थ में हुआ है। जापानी विद्वान् गुह्यसमाज का काल छठी शताब्दी ही मानने लगे हैं। आर्यमंजुश्रीमूलकल्प के तो कुछ अंश आठवीं शताब्दी तक के सिद्ध हो चुके हैं। इस ग्रन्थ में गारुड़ और भूत तन्त्रों का उल्लेख है, जिनका प्रादुर्भाव सिद्धान्तशैव, वाम और दक्ष तन्त्रों के साथ पंचब्रह्म शिव के पाँच मुखों से माना जाता है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि ये वाम और दक्ष शब्द उस अर्थ को बोधित नहीं करते, जो आजकल इनसे समझा जाता है। यहाँ वाम शब्द शाक्त तन्त्रों का और दक्ष शब्द भैरव तन्त्रों का बोधक है। इनमें मात्र पूजा के क्रम में अन्तर है, उपादानों में नहीं।

जैन तन्त्रों की प्रवृत्ति भी इसी काल में हुई होगी, किन्तु आजकल के जैन विद्वान् तन्त्र शब्द से इतने आतंकित हैं कि वे जैन वाङ्मय में तन्त्र की स्थिति को मानने के लिए तैयार ही नहीं हैं। दुर्भाग्य से तन्त्रशास्त्र का अध्ययन आज इसी दृष्टि को सामने रख कर किया जाता है कि उसमें पंचमकार जैसे तत्त्व या उनके अनुकल्प अनिवार्य हैं। वस्तुतः देखा जाय तो इनका सम्बन्ध कौल तन्त्रों तक या उनसे प्रभावित सम्प्रदायों तक ही सीमित है। जानकारी के लिए इतना बता देना आवश्यक है कि पिण्ड, पद, रूप और रूपातीत शब्द मूलतः कौल-तन्त्रों में व्यवहृत हैं और इनका प्रयोग जैन आचार्य शुभचन्द्र और हेमचन्द्र ने अपने-अपने योगशास्त्र में चतुर्विध ध्यान के रूप में किया है। राजस्थान के जोधपुर में शोध प्रतिष्ठान के संस्थापक मुनि श्री जिनविजय जी महाराज ने *त्रिपुराभारतीलघुस्तव* का संपादन किया था। लघुस्तव के कर्ता धर्माचार्य त्रिपुरा संप्रदाय की सिद्धौघ परम्परा के द्वितीय गुरु हैं। भोज के सरस्वतीकण्ठाभरण में इनकी पंचस्तवी के वचन उद्धृत हैं।

कुछ विद्वान् समय-मत और कौल-मत को आस्तिक-नास्तिक विभागों में बाँटते हैं। उनका यह प्रयास उचित नहीं है। कामिकागम आदि में भारतीय वाङ्मय को लौकिक, वैदिक, आध्यात्मिक, आतिमार्गिक और मान्त्रिक नामक पाँच विभागों में बाँट कर पुनः उनमें से प्रत्येक के पाँच-पाँच, अर्थात् कुल पचीस विभाग किये हैं। शतरत्नसंग्रहकार उमापति शिवाचार्य का कहना है कि इन विभागों का वर्णन सर्वात्मशंभु ने अपने ग्रन्थ सिद्धान्तदीपिका में किया है। इस ग्रन्थ की तीन पांडुलिपियाँ हमें पांडिचेरी के फ्रेंच शोध संस्थान से मिल गई थी। अब यह ग्रन्थ शैवभारती शोध प्रतिष्ठान से सिद्धान्तप्रदीपिका के नाम से प्रकाशित हो चुका है। इस ग्रन्थ में प्रत्येक विभाग के दो-दो या तीन-तीन उपविभागों का ही परिचय दिया गया है। पूरे ग्रन्थ को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ अतिमार्ग विभाग में पाशुपत, कालामुख और कापालिक मत के साथ कौल और शाक्त मत का समावेश किया गया है। पाशुपत मत

से यहाँ लकुलीश पाशुपत मत का ग्रहण करना चाहिए, श्रीकण्ठ के श्रौत पाशुपत मत का नहीं। इस ग्रन्थ की प्रस्तावना में हमने इस विभाग को भारतीय शास्त्रों का आगमाधारित विभाग बताया है। निगमाधारित शास्त्रीय विभाग महान् वेदान्ती मधुसूदन सरस्वती के 'प्रस्थानभेद' में देखा जा सकता है, जहाँ चतुर्दश विद्यास्थान और अष्टादश विद्यास्थान के रूप में भारतीय वाङ्मय का परिचय दिया गया है। बौद्ध तन्त्र-ग्रन्थ वसन्ततिलक की टीका में इसको शास्त्रों का परयूथ्य विभाग बताया है। वहाँ भी शास्त्रों के पाँच ही विभाग वर्णित हैं (पृ० ७२)।

कुछ विद्वानों का मानना है कि निगम (वेद) और आगम शास्त्र की मान्यता में कोई भेद नहीं है। इस विषय में हमारा नम्र निवेदन है कि महाभारतकार का यह वचन प्रसिद्ध है—"स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा"। वैदिकी और तान्त्रिकी द्विविध श्रुतियों के प्रदर्शक कुल्लूक भट्ट के वचन की चर्चा अभी (पृ० १३०) की जा चुकी है। ऋजुविमर्शिनीकार शिवानन्द कहते हैं कि त्रैवर्णिक-विषय और सर्ववर्ण-विषय के भेद से श्रुति दो प्रकार की है। स्मृतिकारों का कहना है कि अष्टांग मैथुन का त्याग करने वाला ब्रह्मचारी है। कौल आगमों में ब्रह्मचारी उसे बताया गया है, जो तीन ओष्ठ्यान्त्यों का सेवन करता हो। "वेदात् सिद्धान्तमुत्तमम्॥ सिद्धान्तादुत्तमं वामं वामाद् दक्षिणमुत्तमम्। दक्षिणादुत्तमं कौलं कौलात् परतरं नहि॥" जैसे वचन भी आगमशास्त्रों में उपलब्ध हैं। "यदन्नः पुरुषो भवति तदन्नास्तस्य देवताः" इस सिद्धान्त के अनुसार हमें इनकी व्याख्या करनी पड़ेगी। भागवत आदि में तीसरा मिश्र विभाग भी वर्णित है। यहाँ निगम और आगम के सिद्धान्तों में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न परिलक्षित होता है, जहाँ अनुकल्पों की व्यवस्था है। यहाँ आकर ऐसा प्रतीत होने लगता है कि निगम और आगम की दृष्टि में कोई अन्तर नहीं है।

वैष्णव आलवारों और आचार्यों की परम्परा में रामानुजाचार्य का आविर्भाव हुआ था। इन्होंने यामुनाचार्य के मार्ग पर चल कर वैदिकीकरण की प्रक्रिया को बल दिया, किन्तु इन्हींके प्रधान शिष्य कूरेश ने आलवारों की कृतियों की व्याख्या के रूप में विकसित तमिल साहित्य में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान किया है और तान्त्रिक परम्परा की उदात्त भावनाओं को जीवित रखा है। दक्षिण भारत में संस्कृत भाषा और तमिल भाषा के माध्यम से विकसित हुए वैष्णव साहित्य का आधार एक होते हुए भी परवर्ती काल में इनमें १८ विषयों पर मतभेद उभर आये। संस्कृत भाषा तथा वर्णाश्रमव्यवस्था का कट्टर अनुयायी वर्ग बड़कलै तथा तमिल भाषा का अनुयायी वर्ग टेंगलै नाम से प्रसिद्ध हुआ। वैष्णव धर्म की टैंगलै धारा में ही उत्तर भारत के प्रसिद्ध सन्त रामानन्द का आविर्भाव हुआ था। इन्होंने अपने *वैष्णवमताब्जभास्कर* में उन १८ विषयों का वर्णन किया है, जहाँ उनका बड़कलै संप्रदाय से मतभेद है।

रामानुज के शिष्य कूरेश की परम्परा में जिस राम-भक्ति धारा का विकास हुआ, उसका मुख्य आधार पांचरात्र आगम की अगस्त्यसंहिता है। पांचरात्र आगम में तीन-चार प्रकार की संहिताएं उपलब्ध होती हैं। अधिकांश संहिताओं में चतुर्व्यूहवाद का प्रतिपादन मिलता है। इनमें से कुछ में वासुदेव और अन्य में नारायण प्रधान उपास्य देवता हैं। राम और कृष्ण की उपासना का वर्णन करने वाली संहिताएं भी कम नहीं हैं। रामानन्द के कुछ ग्रन्थों में तान्त्रिक कर्मकाण्ड की बहुलता कुछ लोगों को अटपटी लगती है, किन्तु उनकी रचनाओं पर यह तत्कालीन पांचरात्र साहित्य का प्रभाव था। यह स्पष्ट है कि परवर्ती काल में आविर्भूत तन्त्र साहित्य में दर्शन और योगशास्त्र की अपेक्षा बाह्य कर्मकाण्ड का अधिक समावेश हो गया। पांचरात्र संहिताओं में इसे स्पष्ट देखा जा सकता है। यही कारण है कि कालान्तर में वैदिक कर्मकाण्ड की ही भाँति तान्त्रिक कर्मकाण्ड भी जनता की दृष्टि से असामयिक हो गया।

इन शास्त्रों का अध्ययन आजकल ऊपर निर्दिष्ट विभागों की अवहेलना कर ब्राह्मण, बौद्ध, जैन, हिन्दू जैसे शीर्षकों के अन्तर्गत किया जाता है। आर्य-द्रविड़, ब्राह्मण-श्रमण, बौद्ध-हिन्दू जैसे शब्द भारतीय समाज में विग्रह के बीजों को पनपाने वाले हैं। भारतीय इतिहास के ग्रन्थों में आज इन्हीं शब्दों का प्रयोग हो रहा है। हम इस बात को भूल बैठे हैं कि भारत की सर्वत्र समन्वय स्थापित करने की दृष्टि ने आगम-तन्त्रशास्त्र और उसके आधार पर विकसित सन्त साहित्य की सहायता से इन विग्रह के बीजों को भूँज दिया है। भ्रष्ट बीज में अंकुरित होने की सामर्थ्य नष्ट हो जाती है। रामायण, महाभारत और पुराणों में वैदिक, जैन, बौद्ध और आगमिक दृष्टि को समन्वित रूप में उपस्थापित करने का सराहनीय प्रयत्न हुआ है। हमें यह समझ लेना चाहिए कि राम और कृष्ण के समान बुद्ध और महावीर भी इसी धरती के सपूत थे और वैदिक दृष्टि भी चार्वाकों और कुछ आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों की बीभत्स उक्तियों के बावजूद इस संसार में कभी मिटने वाली नहीं है।

धर्मकीर्ति भारतीय दर्शन के जाज्वल्यमान नक्षत्र हैं। परवर्ती साहित्य पर इनका अक्षुण्ण प्रभाव देखने को मिलता है। अभिनवगुप्त का कहना है कि आगम की द्वैत दृष्टि का, विज्ञानवाद की क्षणिकता का और वेदान्त के मायावाद का परिष्कार कर प्रत्यभिज्ञा दर्शन की सृष्टि हुई है। बौद्ध सिद्ध कम्बलपाद की *आलोकमाला* हमारे सामने शून्यवाद की नई परिभाषा प्रस्तुत करती है। अद्वयवज्र का कहना है कि वैभाषिक आदि चारों बौद्ध-नय चित्त की मलिनता को पूरी तरह से दूर नहीं कर पाते। मन्त्रमय की दृष्टि से ही यह कार्य हो सकता है।

यह ध्यान देने की बात है कि अद्वयवज्र ने यहाँ मन्त्रनय शब्द का प्रयोग किया है, वज्रयान का नहीं। भास्कराचार्य शंकर भगवत्पाद के सिद्धान्त को बौद्ध

महायानगाथित मायावाद कहते हैं और भास्कराचार्य को शंकर के अनुयायी अनेकान्तपादावनत-शिरोबिम्ब मानते हैं। भट्ट कुमारिल का कहना है कि भर्तृमित्र आदि आचार्यों ने मीमांसा को चार्वाक सिद्धान्त का अनुगामी बना दिया और जब हम भट्ट प्रभाकर के सिद्धान्तों को देखते हैं, तो ऐसा लगता है कि वे आगमिक संवित्-सिद्धान्त से प्रभावित हैं। महाकवि भवभूति की परात्रीशिका व्याख्या का उल्लेख मिलता है।

इन सबको उद्धृत करने का तात्पर्य केवल इतना है कि हमें केवल आगमिक अथवा तान्त्रिक दर्शन का ही नहीं, सभी भारतीय दर्शनों में देश और काल की परिधि में विकसित हुई घात-प्रतिघातात्मक दृष्टियों का सूक्ष्म पर्यवेक्षण करना चाहिए। अभिनवगुप्त पर्यन्त विकसित हुई इन दृष्टियों के ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक परिशीलन के बाद ही हम नवीन भारतीय दृष्टि का उन्मेष कर सकते हैं। भारतीय संस्कृति को ही नहीं, विश्वमानवता को भी एक नया संदेश सुना सकते हैं।

विगत ढाई हजार वर्षों में विकसित यह यथार्थवादी तन्त्रागमीय साहित्य जाने क्यों भारतीय विद्वानों की दृष्टि में उपेक्षित हो गया, जिसके बिना हम न तो बौद्ध धर्म की महायान शाखा के और न जैन तथा पौराणिक धर्म के विकास का ही यथार्थ स्वरूप जान सकते हैं। बौद्ध और जैन धर्म के स्वरूप को परिवर्तित करने में तथा पौराणिक धर्म की प्रतिष्ठा में आगमिक साहित्य के अवदान को समझने का प्रयास अभी तक नहीं किया गया है। इतना ही नहीं, पूरे देश में, उत्तर और दक्षिण में विकसित भक्ति-साहित्य का, सिद्धों और सन्तों के साहित्य का तथा सूफी सन्तों का भी अध्ययन आज वेदान्त-दर्शन की विभिन्न शाखाओं की पृष्ठभूमि में तो किया जाता है, किन्तु शांकर वेदान्त को छोड़ अन्य सभी आचार्यों का वेदान्ती दर्शन इन्हीं शैव और वैष्णव आगमों से प्रभावित था, इस विषय पर सर्वाधिक प्रकाश डालने वाले प्रथम व्यक्ति श्रद्धेय कविराज जी ही थे। अपने अनेक निबन्धों और प्रवचनों में उन्होंने विस्तार से समझाया है कि सूफी मत किस प्रकार अद्वैतवादी शांकर वेदान्त की अपेक्षा शैव प्रत्यभिज्ञा दर्शन एवं अद्वैतवादी शाक्त दर्शन से अधिक प्रभावित है। वज्रयान, सहजयान और शाक्त दर्शन की अनुस्यूतता पर भी उन्होंने पर्याप्त प्रकाश डाला था। आज उनकी इन अवधारणाओं की पृष्ठभूमि में पूरे भारतीय साहित्य के पुनर्मूल्यांकन की आवश्यकता है।

उपासना के क्षेत्र में कर्म, योग और ज्ञान की अपेक्षा भक्ति के गरीयस्त्व की घोषणा तन्त्रागमीय वाङ्मय की विशिष्ट उपलब्धि है। पूरे भारत के सन्त साहित्य में इसका चूडान्त उत्कर्ष देखने को मिलता है। यही वह संबल था, जिसके सहारे यह राष्ट्र परतन्त्रता काल के एक हजार वर्षों में अपनी संस्कृति और साहित्य को सुरक्षित रख सका। महात्मा गाँधी को इस सन्त धारा की चरम परिणति माना जा सकता है। हमारा विश्वास है कि भारतीय संस्कृति की इस धारा में वह अमृतरस सिंचनी शक्ति अभी भी

मौजूद है, जिससे एक नवीन भारतीय राष्ट्र के और उसके लिए एक समग्र भारतीय संस्कृति के निर्माण का पथ प्रशस्त हो सकता है। सूफी सन्तों और ईसाई एवं यहूदी सन्तों की भक्तिधारा ने इस ओर लंबा रास्ता तय किया है। इन धाराओं को भारतीय संस्कृति के पावन प्रवाह में एकाकार कर लेने की मात्र आवश्यकता है।

इस तन्त्रागमीय साहित्य की पृष्ठभूमि में ही भारत में सहजयान के प्रवर्तक सिद्धों और संपूर्ण देश में भक्ति आन्दोलन के प्रचारक भक्तों एवं कबीर जैसे सन्तों का आविर्भाव हुआ है। इन्हीं विषयों पर आगे प्रकाश डाला जा रहा है।

●

सिद्ध और सहजयान

उत्तर भारत के मध्यकालीन तथा परवर्ती साहित्य में सिद्ध और नाथ शब्द बहुत प्रचलित हैं, किन्तु हमारी समझ में इनके सही अर्थों का निर्धारण अभी तक नहीं हो पाया है। सिद्धों और नाथों का ही नहीं, तन्त्रशास्त्र का आविर्भाव काल भी छठी से बारहवीं शताब्दी तक माना जाता है। दक्षिण भारत के आलवार और अलियार (वैष्णव एवं शैव) सन्तों का आविर्भाव काल भी प्राय: यही है। सिद्ध, नाथ, आलवार, अलियार ये सभी विभिन्न धर्मों के अनुयायी हैं, किन्तु इन सभी में दो समानताएँ निर्विवाद रूप से दिखाई पड़ती हैं। एक तो यह कि इनमें सभी वर्णों (ब्राह्मण से लेकर चांडाल तक) को समान आदर प्राप्त था और दूसरी यह कि सभी तन्त्रागमीय धर्म और संस्कृति से प्रभावित थे।

आगमशास्त्र और बौद्ध महायान ग्रन्थों का तुलनात्मक अनुशीलन प्रस्तुत न हो पाने के कारण ही हमें तन्त्रों पर विदेशी प्रभाव की गलत कल्पना करनी पड़ती है। पांचरात्र, पाशुपत, बौद्ध और जैन प्रभाव का मूल्यांकन किये बिना जैसे महाभारत और पुराणों का, आलवारों और अलियारों का अध्ययन वस्तुत: अधूरा है, उसी तरह से सिद्ध साहित्य ही नहीं, बौद्ध तन्त्रों का अध्ययन भी आगमशास्त्र, विशेष कर उसकी कौल शाखा के अनुशीलन के बिना अधूरा ही रह जायगा। अभिनवगुप्त ने अपने तन्त्रालोक में आगम और तन्त्रशास्त्र के सभी प्राचीन संप्रदायों का विस्तार से वर्णन किया है। उनकी पृष्ठभूमि में बौद्ध तन्त्रों का अनुशीलन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वज्रयान, कालचक्रयान और सहजयान—ये सब मत्स्येन्द्रनाथ के द्वारा प्रवर्तित कौल शास्त्र के ही विभिन्न रूप हैं।

अभिनवगुप्त और अघोर शिवाचार्य ने भी कौलशास्त्र का प्रथम आचार्य मत्स्येन्द्र को माना है। प्राय: अधिकांश विद्वान् मत्स्येन्द्रनाथ का समय नवीं शती का अन्तिम या १०वीं शती का प्रथम चरण मानते हैं। डॉ० शाहिदुल्ला द्वारा निर्णीत इनका सातवीं शती का समय सर्वथा भ्रामक माना जाता रहा है। इसके विपरीत डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने मत्स्येन्द्र का आविर्भाव-काल पाँचवीं या छठी शताब्दी माना है। डॉ० पाण्डेय जी ने

यह स्थापना मत्स्येन्द्रनाथ की लम्बी शिष्य-परम्परा को आधार मानकर की है। इस लंबी नामावली में गोरक्षनाथ की कहीं कोई चर्चा नहीं है। बारहवीं शताब्दी तक के किसी संस्कृत ग्रन्थ में गोरक्षनाथ की कोई चर्चा नहीं आती और न कहीं गोरक्षनाथ के गुरु के रूप में मत्स्येन्द्रनाथ की ही चर्चा मिलती है। बौद्ध ग्रन्थ सुभाषितसंग्रह में अवश्य एक स्थान पर अनंगवज्र को गोरक्ष कहा गया है। मत्स्येन्द्रनाथ को नाथ संप्रदाय का आद्य प्रवर्तक और गोरक्षनाथ को उनका शिष्य मानने का आग्रह ही मत्स्येन्द्रनाथ के आविर्भाव-काल को आगे खींच ले आने के लिए जिम्मेदार है।

डॉ० प्रबोधचन्द्र बागची को कौलज्ञाननिर्णय जैसे ग्रन्थों की पाण्डुलिपि न मिली होती और मत्स्येन्द्रनाथ का उल्लेख अभिनवगुप्त द्वारा न किया गया होता, तो शायद इनके समय में और भी खींचतान की गई होती, क्योंकि महार्थमंजरी को गोरक्षनाथ की कृति माना जाता है। यह सही है कि महार्थमंजरीकार ने अपना व्यवहार का नाम गोरक्ष और दीक्षा-नाम महेश्वरानन्द बताया है, किन्तु वे अपने गुरु का नाम महाप्रकाश और परमगुरु का नाम शिवानन्द बताते हैं। शिवानन्द के ग्रन्थ अब प्रकाशित हो चुके हैं और महेश्वरानन्द के द्वारा परमगुरु के नाम से उद्धृत सभी वचन यहाँ मिल जाते हैं। शिवानन्द के आधार पर महेश्वरानन्द का समय १३वीं शताब्दी से पहले किसी भी मूल्य पर नहीं लाया जा सकता। इसी तरह कौलज्ञाननिर्णय जैसे ग्रन्थों के रचयिता भी मूलत: मत्स्येन्द्र नहीं हैं और न मातृकाओं की उपलब्धि के आधार पर ग्रन्थलेखक का काल निश्चित किया जा सकता है। अभिनवगुप्त से पहले कुल और क्रम आगम के सिद्धों और नाथों की एक लम्बी परम्परा मिलती है और यह पूरी परम्परा मत्येन्द्र के सिद्धान्तों से अनुप्राणित है। हम मत्येन्द्र के काल की पूर्व सीमा डॉ० पाण्डेय जी के और अपर सीमा डॉ० शाहिदुल्ला के अनुसार निर्धारित कर सकते हैं, अर्थात् इसी बीच मत्स्येन्द्र का प्रादुर्भाव-काल माना जा सकता है।

छठी-सातवीं शताब्दी के आसपास बौद्ध धर्म में सहसा तान्त्रिक प्रवृत्तियों के प्रवेश की बात मानी जाती है और यह भी स्वीकार किया गया है कि इससे इतनी शीघ्रता से बौद्ध धर्म का स्वरूप परिवर्तित होता है कि उसके मूल रूप का कही पता ही नहीं चलता। इस तरह के लेखक तान्त्रिक शब्द का प्रयोग एक संकीर्ण अर्थ में करते हैं, जिसमें केवल पंचामृत, पंचमकार जैसी विधियाँ वर्णित हैं। वस्तुत: देखा जाय तो मन्त्रयान के माध्यम से इस समय बौद्ध धर्म में गुह्यपूजा का अतिरिक्त समावेश हुआ। इसके साथ ही यहाँ श्रावकयान, प्रत्येक-बुद्धयान और महायान की मान्यताएँ पूरी तरह से विद्यमान थीं और अब भी हैं। हम इस विषय के विस्तार में पड़ना नहीं चाहते। इतना स्पष्ट है कि तन्त्रागमशास्त्र में सिद्धों और नाथों की अनेक परम्पराओं के रहते हुए भी अन्ततः ८४ सिद्धों के लिए 'सिद्ध' शब्द और नौ नाथों के लिए 'नाथ'

शब्द रूढ़ हो गया। इतना हम और जोड़ सकते हैं कि सिद्धों की चर्या सेकयोग-प्रधान और नाथों की हठयोग-प्रधान रही है। नाथों की परम्परा को लकुलीश पाशुपत मत से भी जोड़ा जा सकता है।

सहजयान की प्रवृत्ति के प्रसंग में विष्णुपुराण का एक श्लोक प्रायः उद्धृत किया जाता है—"*ततः सा सहजा सिद्धिस्तासां नातीव जायते। रसोल्लासादयश्चान्याः सिद्धयोऽष्टौ भवन्ति याः॥*" टीकाकार विष्णुचित्त ने सहज सिद्धि का अर्थ औत्पत्तिक ज्ञान और श्रीधर ने स्वाभाविक सिद्धि किया है। पतंजलि मुनि की जन्मज सिद्धि से इसकी तुलना की जा सकती है। दोनों टीकाकारों ने यहाँ स्कन्दपुराण को उद्धृत कर रसोल्लास आदि आठ सिद्धियों का वर्णन किया है। अणिमा आदि आठ और खड्ग, अंजन[५] आदि आठ सिद्धियों की अपेक्षा यह अष्टसिद्धियों का तीसरा प्रकार है। विज्ञान-भैरव के ७१वें श्लोक में जग्धि और पान से प्राप्त होने वाली उल्लास, रस और आनन्द दशाओं का वर्णन मिलता है। सिद्धों की दिनचर्या से इनका पूरा सामंजस्य बैठता है।

डॉ० एस० एन० दासगुप्त योगवासिष्ठ पर विज्ञानवाद का प्रभाव मानते हैं, किन्तु इस पर प्रत्यभिज्ञा दर्शन की स्पन्द-शाखा का तथा विज्ञानभैरव सरीखे ग्रन्थों का भी पूरा प्रभाव है। हम यह भी कह सकते हैं कि प्रत्यभिज्ञाशास्त्र की पद्धति से ही शैवागम, मायावाद और विज्ञानवाद का उपयोग यहाँ भी किया गया है। योगवासिष्ठ को हम सहजयोग का विशाल ग्रन्थ मान सकते हैं। इन सब ग्रन्थों का आविर्भाव उस कालावधि से पहले हो चुका था, जिसमें भारतीय संस्कृति पर ताओवाद के रूप में विदेशी प्रभाव से बौद्ध सिद्धों के सहजयोग के आविर्भाव की बात कही जाती है।

कौलज्ञाननिर्णय में सहज तत्त्व को कामकलात्मक माना है। शक्तिसंगम-तन्त्र (१.३.७७-७९) में हंस मन्त्र को कामकला कहा गया है। कौलज्ञाननिर्णय में ही हृदय में स्थित प्राणापान-व्यापार[६] (श्वासप्रश्वास प्रक्रिया) को, जिसका आनापानस्मृति के रूप में पालि भाषा के ग्रन्थों में विवरण मिलता है, सहजदेव कहा गया है। हृदय का स्पन्दन-व्यापार सहज (स्वाभाविक) रूप से बिना प्रयत्न के निरन्तर चलता रहता है। सिद्ध भी इसी सहज गति से लोक-व्यवहार में लगा रहता था। सिद्धों की इस स्थिति का कश्मीर के शैव शास्त्रों में अनुपाय प्रक्रिया के नाम से वर्णन मिलता है। रागात्मक

---

५. खड्ग, अंजन आदि अष्टविध सिद्धियों को बौद्धों की सिद्धियाँ मान लिया गया है। यह उचित नहीं है। तन्त्रागमशास्त्र की सभी शाखाओं में इनका उल्लेख मिलता है।

६. विज्ञानभैरव के "व्रजेत् प्राणः" (श्लो० १५१) इत्यादि श्लोक के हमारे भाषा-भाष्य में इसका विशेष विवरण दिया गया है (पृ० १६७-१७२)। शैव-शाक्त तन्त्रों में अजपा जप अथवा हंसगायत्री के रूप में यह विषय चर्चित है।

वृत्ति का परिष्कार सहजयान का उद्देश्य हो सकता है। धार्मिक श्रेष्ठता का व्यामोह सही विचारों को पनपने नहीं देता। सिद्ध इस व्यामोह से मुक्त थे। सिद्धों का और सहजयान का अध्ययन इसी पृष्ठभूमि में होना चाहिए। चित्त-प्रभास्वरता ही इसका अन्तिम लक्ष्य है। सहजयोग भारतीय मनीषा की एक उत्कृष्ट अवधारणा है। इसकी सहायता से हम विश्वाहन्ता का विकास कर एक विश्वसंस्कृति की स्थापना कर सकते हैं। विश्वाहन्ता और विश्वसंस्कृति की आगे (पृ० १५०-१५६) चर्चा की जा रही है।

•

भक्ति आन्दोलन

आगम और तन्त्रशास्त्र में कर्म और ज्ञान की अपेक्षा भक्ति को अधिक महत्त्व दिया गया है। भक्ति का मूल प्रेरणास्रोत दक्षिण भारत के भक्ति-आन्दोलन को माना जाता है। दक्षिण भारत के भक्तों की भागवत महापुराण में भी महिमा गाई गई है। ऐसे अनेक वचन संस्कृत तथा दूसरी भाषाओं में भी मिलते हैं, जिनका अभिप्राय यह है कि भक्ति द्रविड़ देश में उत्पन्न हुई, कर्णाटक और गुजरात होते हुए वह वृन्दावन पहुँची तथा वहीं से वह सारे देश में फैली। आज भी हम देखते हैं कि पूरे असम प्रदेश में वह मणिपुर तक फैली हुई है, आज हमने इसकी उपेक्षा कर दी है और इस पूरे प्रदेश पर अपसंस्कृतियाँ अपना पंजा कसती चली जा रही हैं।

भक्ति संप्रदाय की भी उत्पत्ति वेद से ही मानी जाती है, किन्तु विष्णु-शिव, राम-कृष्ण संबन्धी जिस भक्ति की हम चर्चा कर रहे हैं, उसका स्पष्ट स्वरूप वहाँ लक्षित नहीं होता। हाँ, विष्णु और शिव की भक्ति के अद्यावधि परिज्ञात प्राचीनतम रूप पांचरात्र और पाशुपत मत की कुछ झलक हमें वहाँ देखने को मिल जाती है। इनकी चर्चा हम कर चुके हैं (पृ० १२७-१२८)। रुद्राध्याय तथा कृष्ण यजुर्वेद की संहिताओं में रुद्र के ईशान, तत्पुरुष, अघोर, सद्योजात, वामदेव—इन नामों के साथ आये पंचब्रह्म मन्त्रों में, जिनका समावेश पुष्पांजलि मन्त्रों में आज भी प्रचलित है, शिव के जिन पांच स्वरूपों की स्तुति की गई है, वे ही परवर्ती पाशुपत मत के मूल आधार माने जाते हैं। तो भी उपलब्ध वैदिक वाङ्मय में पांचरात्र और पाशुपत मतों का वह स्वरूप देखने को नहीं मिलता, जो इन संप्रदायों के उपलब्ध साहित्य में आज विद्यमान है। यह अलग बात है कि सिद्धान्त, गारुड़, भैरव, भूत और वाम नामक पंचविध तन्त्रों की उत्पत्ति शिव के इन पाँच मुखों से ही मानी गई है।

महामुनि पाणिनि और पतंजलि के ग्रन्थों तथा प्राचीन शिलालेखों में शिव-भागवतों और वासुदेव-संकर्षण के उपासकों का उल्लेख मिलता है। महाभारत में भी इन दोनों सप्रदायों का तथा उनके सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है। पांचरात्र (वैष्णव) संहिताओं और शैवागमों का प्रादुर्भाव किन परिस्थितियों में कब हुआ, यह बता पाना तो

कठिन है, किन्तु धर्मशास्त्रकारों ने धर्म का निर्णय करने में इनको भी एकमत से प्रमाण माना है। मूर्तियों और मन्दिरों की निर्माणविधि, प्रतिष्ठाविधि तथा पूजापद्धति का विशद वर्णन इन्हींमें मिलता है। इन शैव और वैष्णव आगमों के अनुशीलन से ऐसा प्रतीत होता है कि इनका आविर्भाव भी पुण्यभूमि आर्यावर्त में ही हुआ। अभिनवगुप्त आदि आचार्यों ने इसे स्वीकार किया है, किन्तु आज इन आगमों का परम्परागत अध्ययन केवल दक्षिण भारत में ही सुरक्षित है। ऐसा कहा जा सकता है कि भारतीय भक्ति-संप्रदाय के मूल प्रेरणास्रोत ये आगम-ग्रन्थ ही हैं।

दक्षिण भारत में जब आलवारों का वैष्णव भक्ति-आन्दोलन और नायनारों का शैव भक्ति-आन्दोलन चल रहा था, उसी समय उत्तर भारत में सिद्धाचार्यों का रहस्यवादी आन्दोलन अपने चूडान्त उत्कर्ष तक पहुँच चुका था। इनमें कुछ समानताएँ और कुछ असमानाएँ थीं, समानता यह थी कि ये सब वर्ण और जाति के बन्धनों से मुक्त थे। इसीलिए इन सभी संप्रदायों में सभी वर्णों और धर्मों के उच्च कोटि के भक्तों और सिद्धों को समान आदरभाव के साथ एक ही 'भक्तमाल' में पिरोया गया है। इनकी सबसे बड़ी असमानता यह थी कि दक्षिण भारत के भक्ति आन्दोलन के प्रेरणास्रोत आगम-ग्रन्थ थे, तो उत्तर भारत के सिद्धाचार्य रहस्यवादी तन्त्रशास्त्रों (बौद्ध, शैव, शाक्त) से प्रभावित थे। ऐसा कहा जा सकता है कि आगम-ग्रन्थों में सात्त्विक भाव की प्रधानता है, जबकि रहस्यवादी तन्त्रशास्त्र राजस और तामस भावों को अधिक उद्वेलित करता है। इसी विषमता का यह परिणाम हुआ कि अपनी शुद्ध सात्त्विकता के आधार पर दक्षिण भारत में प्रादुर्भूत भक्ति-आन्दोलन पूरे भारत में फैल गया। इसका श्रेय दक्षिण भारत के वैष्णव सन्तों (आलवारों) के साथ उन आगम-ग्रन्थों को मिलना चाहिये, जिनकी एक लम्बी परम्परा रही है और जिन्होंने विषम परिस्थितियों में उपनिषदों की परम्परा को आगे बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। भक्तों की वाणियों में ये उपदेश और भी उज्ज्वल हो उठे हैं।

आवाप और उद्वाप की प्रक्रिया के आधार पर भारतीय संस्कृति का विकास हुआ है। बौद्ध और जैन धर्म ने जब हिंसाबहुल कर्मकाण्ड के साथ वेदारण्यक का भी विरोध किया, तो आगम-ग्रन्थों के माध्यम से एक नई पूजाविधि का आलोक फैला और बौद्ध एवं जैन धर्म भी उससे अछूते न रह सके। वैदिक संस्कृति के सभी उत्कृष्ट तत्त्वों का इसमें समावेश हुआ। इसी तरह से आगम और तन्त्रशास्त्र के कर्मकाण्ड में भी अत्यधिक जटिलता आ जाने पर भक्ति आन्दोलन का प्रादुर्भाव हुआ, जिसमें भावना पर अधिक बल दिया गया, चित्त के परिष्कार को सर्वोच्च स्थान दिया गया, योगवासिष्ठ, विज्ञानभैरव जैसे ग्रन्थों का प्रादुर्भाव हुआ। यों तो इस प्रक्रिया का आरम्भ उपनिषदों और भगवद्गीता में ही हो चुका था, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इस भावना-पद्धति

का स्पष्ट विकास प्रधानतया आगम-ग्रन्थों में हुआ और सहजयान की पद्धति ने भी इसमें अपना महत्त्वपूर्ण अवदान दिया, जहाँ चित्त की प्रभास्वरता को ही सर्वोच्च स्थान मिला है।

दक्षिण भारत की इस भावनाविधि के प्रतिनिधि वैष्णव सन्त आलवार के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनके वचनों को तमिलवेद की संज्ञा दी गई है। इनकी संख्या १२ है। शैव सन्त नायनार के नाम से जाने जाते हैं। इनकी संख्या ६३ है। जैन धर्म में भी ६३ शलाकापुरुषों का वर्णन मिलता है। ऊपर सिद्धाचार्यों की चर्चा आ चुकी है। इनकी संख्या ८४ है। ऐसा कहा जाता है कि इनमें प्रधानतः बौद्ध मत के अनुयायी थे। इस तरह से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इस भक्ति आन्दोलन में सभी धर्मों और वर्णों के महान् भक्तों ने अपना योगदान किया था। वर्णाश्रमव्यवस्था में कालान्तर में प्रविष्ट दोषों का परिमार्जन भी इन सन्तों की वाणी से हुआ है। औपनिषद ब्रह्मभावना का जो स्वरूप "अहं ब्रह्मास्मि", "शिवोऽहम्", "वसुधैव कुटुम्बकम्" जैसे रूपों में श्रुति, आगम और पुराण-वचनों में मिलता है, उनका इन भक्तों की वाणियों में और इनके व्यक्तिगत जीवन में भी चूडान्त उत्कर्ष देखने को मिलता है।

शाक्त उपासना के क्षेत्र में भी दक्षिण भारत का अपना विशेष स्थान है। भारत में शक्तिपूजा की तीन विधियाँ प्रचलित हैं। इनकी चर्चा हम कर चुके हैं (पृ० ८९)। इन त्रिविध संप्रदायों की पूजाविधि का शक्तिसंगमतन्त्र में विस्तार से वर्णन मिलता है। वहाँ इन तीनों संप्रदायों में केरल सम्प्रदाय को प्रधान माना है। दक्षिण भारत में श्रीचक्र और भगवती त्रिपुरसुन्दरी की उपासना भगवत्पाद शंकराचार्य द्वारा सौन्दर्यलहरी में निर्दिष्ट समय मार्ग के अनुसार होती है। यह समय मार्ग ही केरल संप्रदाय के नाम से प्रचलित है। इसीको दक्षिण मार्ग भी कहते हैं। यह भावना-प्रधान मार्ग है। इसमें आन्तर वरिवस्या को प्रधानता दी गई है। यह आन्तर वरिवस्या कुण्डलिनी शक्ति को जगाकर, षट्चक्र का भेदन कर, सहस्रार कमल में कुल-कुण्डलिनी का अकुल शिव के साथ सामरस्य का संपादन कर पूरी की जाती है। यह एक यौगिक प्रक्रिया है। साधारण साधक इस मार्ग पर नहीं चल सकता, अतः योग्यता-संपादन के लिए उसको बाह्य वरिवस्या का सहारा लेना पड़ता है। केरल मार्ग, समय मार्ग, दक्षिण मार्ग में यह उपासना सात्त्विक द्रव्यों के द्वारा संपन्न होती है। पंचतत्त्व की उपासना में भी यहाँ दूध आदि सात्त्विक द्रव्यों के ग्रहण की अनुकल्पविधि बताई गई है।

शाक्त उपासना अधिकारी के भेद से नाना प्रकार के विधि-विधानों से विभूषित है। मानवमात्र के कल्याण के लिए यह प्रवृत्त है। सामाजिक दृष्टि से अत्यन्त निम्न स्तर के मानवों का भी उद्धार करने के लिए, उनके मन को परिष्कृत करने के लिए, उनकी आध्यात्मिक उन्नति का पथ प्रशस्त करने के लिए विहित इस साधना में पंचतत्त्व का

विधान बताया गया है, जिससे कि वे अपनी स्वाभाविक स्थिति में रहते हुए भी उस उच्च स्थिति तक पहुँच सकें। जब साधक "अहं ब्रह्माऽस्मि", "शिवोऽहम्" इन वाक्यों में प्रतिपादित ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार करने में समर्थ हो जाता है, उसमें विश्वाहन्ता का विकास हो उठता है।

इस साधनाविधि को दक्षिण भारत में उजागर करने वाले अनेक साधक विद्वान् हुए हैं, जिनमें शिवानन्द, पुण्यानन्द, अमृतानन्द, महेश्वरानन्द आदि के नाम अग्रगण्य हैं। सन्त ज्ञानेश्वर ने भगवद्गीता पर ज्ञानेश्वरी टीका लिखते समय इन्हीं आचार्यों की दृष्टि का अनुसरण किया है।

आजकल समाजवाद और साम्यवाद की बड़ी चर्चा की जाती है। पाश्चात्य संस्कृति की यह अद्भुत देन मानी जाती है, किन्तु हम यह भूल जाते हैं कि भारतीय तन्त्रशास्त्र में यह दृष्टि बहुत पहले विकसित हो चुकी थी। इस विषय पर हम आगे विचार करेंगे (पृ० १४८-१५०)। अभी हम इसी प्रसंग में सन्त कबीर के प्रेरक तत्त्वों पर दृष्टिपात करना चाहेंगे।

●

सन्त कबीर के प्रेरक तत्त्व

कबीर एक क्रान्तद्रष्टा सन्त कवि थे। उलटवासियों के माध्यम से वे अपने गूढ़ मनोभावों को व्यक्त करते थे। हेवज्रतन्त्र, स्वच्छन्दतन्त्र, कुलार्णव जैसे बौद्ध, शैव, शाक्त तन्त्रों में सन्धा-भाषा के रूप में इसी तरह के शब्दों के अभिप्रेत अर्थों का ज्ञान कराया गया है। स्वच्छन्दतन्त्र में इसको छुम्मा प्रकरण नाम दिया गया है। रहस्यवादी सिद्धों का जीवन विपरीतता से ही, उलटवासियों से ही भरा हुआ था। अद्वयवादी शैव, शाक्त और बौद्ध तन्त्रों में रहस्यवाद से ओतप्रोत अनेक प्रसंग मिलते हैं। इन प्रकरणों में अनेक स्थानों पर प्राकृत भाषाओं का प्रयोग हुआ है। स्वच्छन्दतन्त्र में प्रयुक्त छुम्मा शब्द भी संस्कृत भाषा का न होकर प्राकृत भाषा अथवा उस समय की प्रचलित लोक-भाषा अपभ्रंश का लगता है। लोक-भाषा के इन वचनों में और सहजयान की प्रवृत्तियों में सन्त कबीर के प्रेरक तत्त्वों की खोज की जा सकती है।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन में आणव, शाक्त, शांभव नामक तीन उपाय वर्णित हैं। चौथा उपाय अनुपाय प्रक्रिया के अन्तर्गत आता है। इस अनुपाय प्रक्रिया की तुलना हम सिद्धों के सहजयान से कर सकते हैं। शाक्त उपाय के द्वारा विकल्पों की शुद्धि तथा शांभव उपाय में विकल्पों का विलयन होता है। यह सारा जगत् विज्ञानभैरव का विलास है, ऐसा मानकर प्रत्येक जागतिक पदार्थ में उसीके स्वरूप को देखना विकल्प की शुद्धि है। विकल्प के शुद्ध हो जाने पर वह अन्ततः अपने विज्ञानमय स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। ऐसे व्यक्ति के लिए जप, होम, पूजा, ध्यान, तर्पण, याग आदि की कोई

आवश्यकता नहीं रह जाती। ऐसा साधक अन्तःकरण की शुद्धि पर अधिक बल देता है। यह विषय योगवासिष्ठ, मालिनीविजय, विज्ञानभैरव जैसे ग्रन्थों में विस्तार से वर्णित हुआ है। त्रिविध उपायों के प्रतिपादक तन्त्रालोक, महार्थमंजरी, योगिनीहृदयदीपिका सरीखे ग्रन्थों में भी यह विषय प्रसंगवश आया है। हम बानगी के रूप में इस विषय का दिग्दर्शन यहाँ इस निवेदन के साथ करना चाहते हैं कि सन्त कबीर का अनुशीलन इसी पृष्ठभूमि में होना चाहिये।

इष्टदेवता के सकल और निष्कल स्वरूप का वर्णन तन्त्रशास्त्र में मिलता है। अन्यत्र सकल स्वरूप को ही सगुण और निष्कल स्वरूप को निर्गुण माना गया है। विज्ञानभैरव का कहना है कि भगवान् का सकल स्वरूप इन्द्रजाल के समान, माया से निर्मित गन्धर्वनगर, मृगमरीचिका, रज्जुसर्प अथवा केशोण्ड्रक के समान, स्वप्न में देखी गई वस्तु के समान अस्थिर है, असत्कल्प है; अर्थात् इन्द्रजाल, गन्धर्वनगर आदि की सत्ता जैसे भ्रम पर आधारित है, वैसे ही यह सकल स्वरूप भी भ्रम पर आधारित होने से असार है। इस तरह की भ्रान्त बुद्धि वाले, फल की आकांक्षा से नाना प्रकार के कर्मकाण्डों में रुचि रखने वाले, भाँति-भाँति के संकल्प-विकल्पों के कारण अपने वास्तविक स्वरूप से अपरिचित व्यक्तियों के लिए यह सकल स्वरूप उपदिष्ट है। इसका उपदेश इसलिए किया जाता है कि निष्कल (निर्गुण) स्वरूप में प्रवेश पाने के लिए साधक को पहले सकल (सगुण) स्वरूप में ध्यान की योग्यता प्राप्त हो। सकल स्वरूप का यह उपदेश तत्त्व के जिज्ञासुओं के लिए नहीं है। जिनकी बुद्धि पवित्र नहीं हुई है, ऐसे ही व्यक्तियों की बुरी प्रवृत्तियों तथा नाना प्रकार के अभिनिवेशों की शान्ति के लिए बाल-बिभीषिका के रूप में यह विहित है। जैसे बच्चों की गलत जिद्द को झूठा डर दिखाकर माता शान्त कर देती है अथवा जैसे बालक को माता लड्डू या मिठाई देकर दवा पिलाती है, उसी तरह से भाँति-भाँति की सिद्धियों के नाना प्रकार के साधन बताकर मनुष्य को भगवान् की आराधना में लगाया जाता है, जिससे वे निष्कल स्वरूप को समझने के योग्य बन सकें।

वास्तव में देखा जाय तो साधक के अपने स्वात्मस्वरूप के अतिरिक्त कोई पूजनीय और तर्पणीय तत्त्व है ही नहीं, क्योंकि पूज्य-पूजक-पूजा, तर्पक-तर्पणीय-तर्पण आदि सभी त्रिपुटीस्वरूप जागतिक पदार्थ परमार्थतः चिदानन्दघन परमतत्त्व की ही विभिन्न अवस्थाएं हैं। इस स्थिति में कर्मकाण्ड का यह सारा आडम्बर व्यर्थ है। इस प्रकार कर्मकाण्ड की व्यर्थता को उजागर करने के उपरान्त विज्ञानभैरव के अन्तिम कुछ श्लोकों में जप, ध्यान, पूजा, तर्पण, होम, याग, स्नान जैसे शब्दों की आध्यात्मिक व्याख्या की गई है। हमने उस ग्रन्थ के भाषा-भाष्य में अन्य अनेक ग्रन्थों की सहायता से इस प्रकरण की विशद व्याख्या की है। उसे वहीं देखा जा सकता है।

मालिनीविजयतन्त्र (१८.७४-८१) में भी यह विषय अतिसंक्षेप में मनोभावों को बिना उद्वेलित किये बहुत ही सरलता से प्रस्तुत किया गया है। पृ० ४० पर इस उद्धरण को देखा जा सकता है। सब कुछ कह देने के बाद वहाँ साधक को अपना ध्यान कहाँ केन्द्रित करना चाहिए, इसी पर जोर दिया गया है। वहाँ बताया गया है कि जिस योगी का चित्त परमतत्त्व में स्थिर हो गया है, वह विषयों का उपभोग करते हुए भी उनके दोषों से उसी तरह से लिप्त नहीं होता, जैसे जल में रहते हुए भी कमलपत्र उससे निर्लिप्त रहता है। विष को दूर करने वाला गारुड़िक जब अपने शरीर को मन्त्रों से सुरक्षित कर लेता है, तो उस पर जहर का असर नहीं होता; उसी तरह से यह महान् शक्तिशाली योगी विषयरूपी विष को खाकर भी मोहित नहीं होता। यहाँ का अन्तिम श्लोक बौद्ध तन्त्रों में भी उपलब्ध होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इन अद्वयवादी तन्त्र-ग्रन्थों में मन की शुद्धि पर अधिक बल दिया गया है। यही कबीर की वाणी का भी मुख्य लक्ष्य है। सन्त कबीर जब मूर्तिपूजा का निषेध कर पत्थर की चाकी को पूजने के लिए कहते हैं, तो उसका अभिप्राय बाह्य आडम्बरों से ऊपर उठकर, बाह्य पूजा से विरत होकर चित्त की शुद्धि के लिए, अपनी मलिन वासनाओं के परिष्कार के लिए सर्वात्मना सेवाभाव को स्वीकार कर लेना है। चाकी की सार्थकता इसमें है कि वह हमें पिसा हुआ आटा देती है। ऐसा कोई प्रत्यक्ष लाभ हमें मूर्ति से प्राप्त होता नजर नहीं आता। मूर्तिपूजक का चित्त अन्तःकरण की निर्मलता के अभाव में भटक सकता है। सन्त कबीर अपनी शैली में व्यक्ति को जड़वाद से ऊपर उठाने के लिए उसे अपनी उपयोगिता सिद्ध करने का उपदेश देते हैं। तन्त्रागमशास्त्र की पृष्ठभूमि में किया गया अनुशीलन ही कबीर की वाणी के सही अर्थों को बता पाने में समर्थ हो सकता है और यह भी कि कबीर की यह वाणी भारतीय संस्कृति की ज्ञानगंगा के अजस्र स्रोत से पूरी तरह से जुड़ी हुई है, अपनी सीमा का कहीं भी उसने उल्लंघन नहीं किया है।

सिद्धों, भक्तों एवं सन्तों की विचारधारा के इस परिचय के साथ हम अपने लक्ष्य "एक विश्व : एक संस्कृति" के बहुत नजदीक पहुँच गये हैं। इस पृष्ठभूमि में हम तन्त्रागमशास्त्र की सामयिक उपयोगिता पर प्रकाश डाल रहे हैं।

●

तन्त्रागमशास्त्र की सामयिक उपयोगिता

अभी हमने तन्त्रागमीय वाङ्मय का संक्षिप्त परिचय देते हुए बताया है कि उत्तर भारत में सिद्धों का सहजयान और दक्षिण भारत के भक्तों का भक्ति-आन्दोलन आगम-तन्त्रशास्त्र की ही देन है। आचार्य रामानुज के शिष्य कूरेश की उदारवादी परम्परा में आचार्य रामानन्द का प्रादुर्भाव हुआ और उन्होंने सन्त कबीर, भक्त रविदास जैसे अपने

शिष्यों के माध्यम से तन्त्रागमशास्त्र की लोकोपयोगी दृष्टि का विस्तार किया। इस प्रसंग में हमने सन्त कबीर की विशेष रूप से चर्चा इसलिए की है कि आजकल निर्गुण रहस्यवादी कवि के रूप में उनको इस प्रकार प्रस्तुत किया जाता है, जैसे भारतीय परम्परा से उनका कोई सम्बन्ध ही न हो। हमने यहाँ स्पष्ट किया है कि योगवासिष्ठ, विज्ञानभैरव, मालिनीविजयतन्त्र जैसे महनीय ग्रन्थों में बाह्य शुद्धि की अपेक्षा आन्तर शुद्धि पर अधिक जोर दिया गया है और सन्त कबीर के उपदेश भी इस परिधि से बहुत बाहर नहीं जा पाये हैं। योगवासिष्ठ जैसे ग्रन्थों में गुरु से और शास्त्र से प्रातिभ ज्ञान को अधिक श्रेष्ठ माना गया है। भक्तों, सिद्धों और सन्तों में इस प्रातिभ ज्ञान का पर्याप्त स्फुरण हुआ है, तो भी यहाँ गुरु की तथा शास्त्र की कभी अवहेलना नहीं की गई। इसी प्रसंग में अब हम तन्त्रागमशास्त्र की सामयिक उपयोगिता को दिखाना चाहते हैं।

तन्त्रागमशास्त्र की सभी शाखाओं में बाह्य शुद्धि की अपेक्षा आन्तर शुद्धि को विशेष महत्त्व दिया गया है। यहाँ स्पष्ट निर्देश है कि आन्तर आराधना के बाद ही बाह्य पूजा की जाय, स्वयं देवस्वरूप बनकर ही अपने इष्टदेव की बाह्य आराधना करे। वेदों में भी अग्निहोत्र के प्रसंग में देवभाव को अंगीकार करने की बात कही गई है। शिवानन्द, अमृतानन्द, भास्करराय जैसे आचार्यों ने सुभगोदयवासना, सौभाग्यहृदयस्तोत्र, चिद्विलासस्तव, वरिवस्यारहस्य जैसे ग्रन्थों में इस आन्तर पूजा (वरिवस्या) का स्वरूप बताया है। बौद्ध तन्त्रों में भी पापदेशना, पुण्यानुमोदना, पुण्यपरिणामना, त्रिशरणगमन, आत्मभावनिर्यातन, अध्येषणा और बोधिचित्तोत्पाद नामक सात प्रकार की अनुत्तर पूजा के नाम से यह आध्यात्मिक पूजा वर्णित है। चतुर्ब्रह्मविहारभावना, सर्वधर्मप्रकृति-परिशुद्धता और सर्वधर्मशून्यताभावना भी इसी आन्तर पूजा के अंग हैं। चतुर्ब्रह्मविहारभावना में मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा परिगणित हैं। पातंजन योगसूत्र में तथा जैनाचार्य उमास्वाति के ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र में भी चित्त की निर्मलता के लिए इनका विधान है। यहाँ सुखी व्यक्ति से मैत्री करना, दुःखी मनुष्य के प्रति करुणा दिखाना, पुण्यशील को देखकर प्रसन्न होना और पापी के प्रति उपेक्षाभाव रखना भद्र पुरुष के लिए आवश्यक बताया गया है। योगभाष्यकार ने इनका विश्लेषण करते हुए बताया है कि योगी प्रथम तीन भावनाओं के सहारे समाधि में स्थिर हो सकता है, किन्तु उपेक्षाभाव में समाधि नहीं लग सकती। कारण यह है कि दुष्ट व्यक्ति की उपेक्षा करने से भी उसका चित्त अशान्त हो उठता है। ऐसी स्थिति में समाधि कैसे लग सकती है? पाशुपतसूत्र में वाणी की विशुद्धि पर विशेष ध्यान दिया गया है। स्पष्ट है कि शरीर की बाह्य शुद्धि के साथ मन और वाणी की शुद्धि पर भी यहाँ विशेष आग्रह है। वाणी की शुद्धि (वाक्संयम) विश्वमैत्री की पहली कड़ी है। इसे हम लेखन-संयम से भी जोड़ सकते हैं।

अभिनवगुप्त ने बताया है कि लकुलीश आदि आचार्यों के अनुसार मनुष्य के शरीर में सभी देवता निवास करते हैं। नाथ संप्रदाय का यह सिद्धान्त है कि इस पिण्ड (मनुष्य-शरीर) में समस्त ब्रह्माण्ड स्थित है। इसी सिद्धान्त को आगे बढ़ाते हुए बौद्ध एवं शाक्त तन्त्रों में साधक के विषय में कहा गया है कि वह स्वयं खुद ही अपना देवता है। अद्वयवज्र का कहना है कि अपने भीतर विद्यमान प्रकाश (ज्ञान=संवित्) ही अपना देवता है। प्रत्यभिज्ञादर्शन में इसकी व्याख्या प्रकाशविमर्शात्मक अहंतत्त्व के रूप में की गई है। इन दार्शनिकों का कहना है कि काष्ठ, पट, पाषाण आदि जड़ पदार्थों में जब हम चैतन्य का आधान कर अपने इष्टदेव की आराधना कर सकते हैं, तो सभी देवताओं के निवास-स्थान इस चेतन शरीर में हम अपने इष्टदेव की आराधना क्यों नहीं कर सकते?

मनुष्य-देह में विराजमान प्रकाश-विमर्शात्मक परमतत्त्व की इस परिभाषा को हम समझते हैं कि चार्वाक और आधुनिक वैज्ञानिक को भी मानने में कोई आपत्ति नहीं होगी। त्रिपुरा दर्शन में रक्त, शुक्ल और मिश्र बिन्दु से समस्त सृष्टि का आविर्भाव माना गया है। यहाँ आकर उक्त परिभाषा और भी स्पष्ट हो जाती है। आगम-तन्त्रशास्त्र का सिद्धान्त है कि प्रत्येक शरीर में बुद्धत्व अथवा शिवत्व विद्यमान है। अपने प्रयत्न से उसे उद्बुद्ध किया जा सकता है।

एक ही जन्म में मुक्ति का सिद्धान्त भी यहाँ मान्य है। प्रज्ञापारमिताशास्त्र और भगवद्गीता का भी कहना है कि अनेक जन्मों की तपस्या के बाद ही मुक्ति मिल सकती है, किन्तु शैव, शाक्त और बौद्ध तन्त्रों की यह मान्यता है कि मुक्ति एक ही जन्म में मिल सकती है। भक्तिस्तोत्र, शिवधर्म, शिवधर्मोत्तर, गुह्यसिद्धि, चण्डरोषण-तन्त्र जैसे ग्रन्थों में इस विषय को देखा जा सकता है। भक्तिस्तोत्रकार अवधूत सिद्ध ने इस प्रसंग में लिखा है कि आप तो अनेक जन्म मानते हैं। उसमें से यह जन्म आप हमारे यहाँ बिताइये। आप अवश्य मुक्त हो जायँगे। मुक्ति न मिलने पर भी आपकी कोई हानि नहीं होगी, क्योंकि आप तो अनेक जन्मों के उपरान्त ही मुक्ति मानते हैं। अस्तु.

भारतीय दर्शनों में जीवन्मुक्ति को मान्यता दी गई है। जीवन्मुक्त दशा में पहुँचे हुए योगी के सुकृत-दुष्कृत कर्मसाम्य स्थिति में पहुँच कर फलदान में असमर्थ हो जाते हैं और कर्मों के अभाव में वह नया जन्म नहीं लेता, यही उसका अन्तिम जन्म होता है। सेमेटिक धर्मों के अनुयायी जन्मान्तर की व्यवस्था को स्वीकार नहीं करते। इस तन्त्रागमीय सिद्धान्त से वे अपना सामंजस्य बैठा सकते हैं।

अष्टविध आग्रहों अथवा पाशों की चर्चा करते हुए हमने जातिग्रह, विधिनिषेध आदि के विषय में तन्त्रागमीय दृष्टि की चर्चा की है (पृ० ३८-४०)। बाह्य शुद्धि की अपेक्षा आन्तर शुद्धि की श्रेष्ठता की चर्चा भी हो चुकी है। इसके अतिरिक्त शुद्धि और

अशुद्धि के विषय में भी तन्त्रशास्त्र का अपना दृष्टिकोण है। स्वायंभुवागम के एक वचन में राग-द्वेष आदि से उत्पन्न चित्त की मलिनता को ही अशुद्धि माना गया है। विज्ञानभैरव (श्लो० १२०) में भी शुद्धि और अशुद्धि के इस आध्यात्मिक पक्ष पर ही अधिक जोर दिया गया है। तन्त्रालोक के चौथे और पन्द्रहवें आह्निक में शुद्धि और अशुद्धि के स्वरूप पर गंभीर विचार छेड़ा गया है और शुद्धि-अशुद्धि विषयक तान्त्रिक दृष्टि का सयुक्तिक समर्थन किया गया है। पर्यन्तपंचाशिका (श्लो० ९) में भी शुद्धि की परिभाषा देते हुए बताया गया है कि इदन्ता के रूप में भासित हो रहे समस्त जागतिक पदार्थों को स्वात्माहन्ता में समेट लेना ही वास्तविक शुद्धि है। महेश्वरानन्द (म०प०, पृ० ४३) ने इस वचन को उद्धृत कर इसकी व्याख्या करते समय शुद्धि-अशुद्धि व्यवस्था का सुन्दर विवेचन किया है। आज शुद्धि और अशुद्धि की इस तन्त्रागमीय व्याख्या पर ही अधिक जोर देने की आवश्यकता है।

धर्मशास्त्रों में भी शारीरिक शुद्धि को सामान्य धर्म और तत्त्वज्ञान को परम धर्म माना है। मिट्टी, जल आदि से की गई शारीरिक शुद्धि से उत्पन्न होने वाले धर्म से यह अधिक श्रेयस्कर है। शारीरिक शुद्धि के न रहने पर परमात्मा की कोई हानि नहीं है, क्योंकि परमात्मा तो आकाश की तरह निर्मल है। शुद्धि यदि की जाती है, तो उससे परमात्मा में कुछ बढ़ोतरी होने वाली नहीं है। मिट्टी आदि से शुद्ध करने पर भी शरीर तो मलिन ही रहेगा। वास्तव में तो इस बाह्य शारीरिक शुद्धि के बिना भी निर्विकल्पक ज्ञान की सहायता से मन को निर्मल बनाकर साधक स्वात्मस्वरूप में प्रतिष्ठित हो सकता है।

शुद्धि और अशुद्धि की तरह सत्तर्क और स्वानुभव की तन्त्रागमीय परिभाषा भी आज के समय के लिए विशेष अवधेय है। मालिनीविजय (१७.२८) के प्रमाण से तन्त्रालोक (४.१५) में योग के सभी छः अंगों में तर्क[७] को श्रेष्ठ माना है। तन्त्रशास्त्र की शैव, शाक्त, वैष्णव, बौद्ध आदि सभी शाखाओं में योग के प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, समाधि और तर्क नामक छः अंगों का वर्णन किया गया है। तर्क नामक अंग का विवेचन प्रधानतः प्रत्यभिज्ञा दर्शन में हुआ है। तन्त्र की अन्य शाखाओं में यह ऊह, वीक्षण, अनुस्मृति आदि नामों से जाना जाता है। सत्तर्क और स्वानुभव की व्याख्या अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक (४.३४-८६) में विस्तार से की है। वहाँ किरणागम के प्रमाण से ज्ञान की प्राप्ति के तीन साधन बताए गये हैं। वे हैं—गुरु, शास्त्र और स्वकीय प्रातिभ ज्ञान। वहीं यह भी बताया गया है कि गुरु की अपेक्षा शास्त्र और शास्त्र की अपेक्षा स्वानुभव से प्राप्त ज्ञान अधिक उत्कृष्ट है।

---

७. यहीं, पृ० ५८ और ६५ पर भी यह विषय चर्चित है। आगे उपोद्घात (पृ० १८४) में भी इस पर विचार किया गया है।

स्वपरामर्श की उत्कृष्टता को सिद्ध करने के लिए यहाँ किरणागम, पूर्वशास्त्र (मालिनीविजयतन्त्र), परात्रीशिका, ब्रह्मयामल, निशाटन आदि शास्त्रों के वचन उद्धृत किये गये हैं। तन्त्रालोक के टीकाकार जयरथ ने यहाँ स्पष्ट बताया है कि गुरु शास्त्रों का ज्ञान कराने में सहायक होता है और शास्त्रों के अध्ययन से स्वात्मस्वरूप के साक्षात्कार में सहायता मिलती है। इस प्रसंग में योगवासिष्ठ का कहना है कि मात्र शास्त्रों के अध्ययन से अथवा गुरु के प्रबोध से स्वात्मस्वरूप का ज्ञान नहीं होता, इसका बोध तो स्वयं अपने प्रयत्न से ही हो सकता है। बौद्ध तन्त्रों में स्वतः के साथ परतः भी चतुर्थ उपाय के रूप में वर्णित है, अर्थात् हम शास्त्र और गुरु की तरह अन्य व्यक्तियों से भी ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। सत्संग का इसमें बहुत बड़ा स्थान है। इतना स्पष्ट है कि इन सभी उपायों में स्वीय प्रातिभ ज्ञान को ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि आज के इस वैज्ञानिक युग में यह सिद्धान्त कितना उपयोगी है।

तन्त्रागमशास्त्र द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों में सत्तर्क एवं स्वानुभव (स्वपरामर्श) का अपना विशेष स्थान है। इन्हीं के सहारे व्यक्ति समता दृष्टि को उजागर कर एक संस्कृति की ओर आगे बढ़ सकता है। अगले परिच्छेद में अब इन्हीं विषयों पर विचार किया जायेगा।

●

पंचम अधिकार

विश्वसंस्कृति

समता-दृष्टि

आजकल समाजवाद और साम्यवाद की बड़ी चर्चा की जाती है। पाश्चात्य संस्कृति की यह अद्भुत देन मानी जाती है। हम यह भूल जाते हैं कि भारतीय तन्त्रागमशास्त्र में यह दृष्टि बहुत पहले विकसित हो चुकी थी। शक्तिसंगमतन्त्र (२.१८.२१) में समताष्टक मार्ग का उल्लेख है। तन्त्रालोक (४.२७४-२७५) में भी इसकी चर्चा आई है। टीकाकार जयरथ ने आठ प्रकार की समता के प्रतिपादक दो श्लोकों को उद्धृत किया है, जो महेश्वरानन्द की महार्थमंजरी की स्वोपज्ञ व्याख्या परिमल में भी उपलब्ध हैं। इनके अनुसार जगत् के सभी भावों, वृत्तियों, दृष्टियों, द्रव्यों, भूमिकाओं, ओवल्लियों, देवताओं और वर्णों में सब तरह से एक सरीखी दृष्टि रखना ही समता-दृष्टि कहलाती है। प्रत्यभिज्ञादर्शन के अनुसार सब कुछ शिवमय है, अत: सभी भावों और धर्मों में भी समता-दृष्टि का उदय हो, यह स्वाभाविक ही है।

इस दृष्टि के उन्मेष के उपाय के रूप में विज्ञानभैरव में ४०वीं धारणा का विधान है। आनन्दभैरवशासन में समता दृष्टि का प्रतिपादन करते हुए बताया गया है कि व्यक्ति समस्त लौकिक आचार का त्याग कर सर्वत्र समता का दर्शन करे। सभी देवताओं के प्रति, सभी वर्णों और आश्रमों के प्रति तथा सभी प्रकार के द्रव्यों के प्रति भी जो समता दृष्टि का विकास करता है, वह सभी तरह के बन्धनों से मुक्त हो जाता है। नन्दिशिखाशास्त्र में समता-दर्शन को सर्वश्रेष्ठ व्रत माना है और भर्गशिखाशास्त्र में इसे वीरव्रत कहा गया है। इस विषय का विवेचन तन्त्रालोक (१२.१२-२०) तथा परात्रीशिकाविवृति (पृ० २३५) में भी किया गया है। शिवदृष्टि में सभी पदार्थों की समरसता (पृ० १८), शिवरूपता और सत्यता (पृ० ३४-३५, १२५-१२७) तथा सर्वात्मकता (पृ० १९४-१९५, २०८) का सयुक्तिक प्रतिपादन मिलता है।

योगवासिष्ठ तो इस समता-सिद्धान्त का खजाना ही है। वहाँ बार-बार विभिन्न अवसरों पर इस सिद्धान्त को स्मरण किया गया है और इसका महत्त्व बताया गया है। सम, साम्य, समत्व, समबुद्धि जैसे शब्दों का प्रयोग भगवद्गीता में अनेक स्थानों पर देखने को मिलता है। इन सभी वचनों में समता-दृष्टि का ही गुणगान किया गया है। "समत्वं योग उच्यते" (२.४८) यह भगवती गीता का उद्घोष है। प्रो० मुकुटबिहारी-लाल ने इसी आधार पर अपने ग्रन्थ का नाम ही "साम्ययोगमीमांसा" रखा है। यहाँ उन्होंने अनेक प्राच्य और पाश्चात्य ग्रन्थों और विचारकों के उद्धरणों के सहारे इस

साम्ययोग की विशद विवेचना की है और इसी पृष्ठभूमि में उन्होंने समाजवाद को भी पुष्ट भारतीय आधार देकर साम्यवाद को भी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से मुक्त करने का प्रयास किया है। इसी मार्ग से संसार को सुख-शान्ति की ओर ले जाया जा सकता है।

शास्त्रों में बताया गया है कि परम पुरुषार्थ मोक्ष की तरफ मुड़ने पर ही हमें उपनिषद्, भगवद्गीता और तान्त्रिक दर्शन की समता-दृष्टि प्राप्त हो सकती है। यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि हमने तो साधारण मनुष्य को मोक्ष का अधिकारी माना ही नहीं, तब यह कैसे संभव होगा? इसका सीधा-सा उत्तर यह है कि तन्त्रशास्त्र की यह मान्यता नहीं है। यह हम कह सकते हैं कि तन्त्रशास्त्र की इस दृष्टि को अभी पूरी सामाजिक मान्यता नहीं मिली है। जब तक भारतीय समाज में इस समता-दृष्टि का विकास नहीं होता, प्रत्येक मनुष्य को जब तक मोक्ष का अधिकारी नहीं माना जाता, तब तक भारतीय समाज वर्ग-संघर्ष पर आधारित द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से अथवा अन्य अपसंस्कृतियों के आक्रमण से अपने को नहीं बचा सकेगा।

भारतीय संस्कृति में समता की सिद्धि के अनेक मार्ग बताए गये हैं। प्रो० मुकुट-बिहारीलाल जी ने उक्त ग्रन्थ की प्रस्तावना में लिखा है—"कर्मयोग ही इसमें सर्वोत्तम है। इसके द्वारा सांसारिक समृद्धि (अभ्युदय) और आध्यात्मिक निःश्रेयस दोनों की सिद्धि संभव है। विश्वकल्याण के निमित्त साम्यभाव एवं निष्काम कर्म जीवनसिद्धि और सामाजिक कल्याण का सर्वश्रेष्ठ सुलभ साधन है। शुकदेव और शंकराचार्य आदि कतिपय विशिष्ट प्रतिभासम्पन्न महापुरुष बचपन में ही संन्यास ग्रहण करने के अधिकारी हो सकते हैं, पर जनसाधारण के लिए गृहस्थाश्रम की श्रेष्ठता स्वीकार करना आवश्यक है। कौटुम्बिक कर्तव्यों की उपेक्षा तथा सामाजिक जीवन का तिरस्कार सर्वथा हानिकारक है। संसार में रहकर प्रकृतिजन्य गुणों का उपभोग करते हुए मानव धीरे-धीरे संयम, ज्ञान और सत्कर्मों के द्वारा अपनी सद्भावनाओं को परिपुष्ट तथा अपने मनुष्यत्व का विकास कर सकता है। नैतिक गुणों का विकास तो समाज में ही संभव है। संयमी पुरुष संसार में रहते हुए अपना जीवनोत्कर्ष कर सकता है, संयमविहीन व्यक्ति जंगल में रहकर भी कुछ नहीं कर सकता। संसार की झंझटों से घबरा कर संन्यास के अलंकार को ग्रहण कर लेना सर्वथा निरर्थक है। कषायों का परिपाक होने पर संन्यास ग्रहण किया जा सकता है, पर समत्व की सिद्धि, लोकात्मोत्कर्ष की अभिवृद्धि और स्वार्थ का त्याग ही संन्यास के ध्येय हैं" (पृ० ७-८)। प्रस्तुत ग्रन्थ (पृ० ४०-४२) में महाभारत के कुछ उपाख्यान प्रसंगवश दिये गये हैं। उनके मन्तव्य से प्रो० साहब की यह उक्ति समरस है।

अभी (पृ० १४३-१४७) हमने तन्त्रागमशास्त्र की सामयिक उपयोगिता की चर्चा की है। इन सब विषयों पर विचार कर तथा उनके साथ अपने-अपने धर्म और

संस्कृति के उपादानों की देश और काल के अनुरूप व्याख्या कर, उनमें सामंजस्य बैठाकर हम प्रथमत: समग्र भारतीय संस्कृति और तब विश्वसंस्कृति का निर्माण कर सकते हैं। इसके बिना परस्पर अविश्वास से ग्रस्त इस संसार में एकता स्थापित नहीं की जा सकती। अत: पहले द्वैत दृष्टि के सहारे "परस्परदेवो भव" इस आधुनिक उपदेश को मान्यता देते हुए परस्पर के अविश्वास को दूर कर चित्त की शुद्धि पर बल देना होगा और तब अद्वय दृष्टि का सहारा लेकर अपने में विश्वाहन्ता का विस्तार करना होगा। इस दृष्टि का विस्तार होने पर ही संयुक्त राष्ट्रसंघ जैसी संस्थाएं सारे विश्व में राजनैतिक एकता स्थापित कर सकेंगी और मानवजाति विश्वनागरिकता से आबद्ध हो सकेगी।

देश, काल आदि का भेद रहते हुए भी विश्व की विचारधारा में आध्यात्मिक स्तर पर सर्वत्र समानता अधिक मिलती है। संपूर्ण विश्व के उपलब्ध साहित्य में इस तरह की समानता को सामने लाना चाहिए। तभी मानवता के मानसिक विकास का सही मूल्यांकन हो सकेगा। कालक्रम से और देशक्रम से विकसित वैदिक, जैन और बौद्ध वाङ्मय में हमें समानता अधिक मिलती है। इस त्रिस्तरीय अनुशीलन की ओर से हमें आँखें नहीं मूँद लेना चाहिए। ऐसा किये बिना हम प्रारंभिक वैदिक धर्म और आज के सनातन धर्म में, श्रावकयान से मन्त्रयान तक विकसित बौद्ध धर्म में तथा दिगम्बर से लेकर स्थानकवासी संप्रदाय तक विकसित जैन धर्म में इतना दृष्टिभेद कैसे आ गया? इस प्रश्न का सही उत्तर नहीं दे पावेंगे। आज की आवश्यकता यह है कि संकीर्ण मतवादों से ऊपर उठकर, परलोक की चिन्ता को थोड़ी ढील देकर, वर्तमान मानवता के परिष्कार के लिए संपूर्ण विश्व में पूरी मानवता के द्वारा उपार्जित ज्ञान का सदुपयोग किया जाय, एक विश्वसंस्कृति का विकास किया जाय। ऐसा होने पर ही राज्य, राष्ट्र, भाषा, जाति, संप्रदाय आदि में विभक्त मानवजाति एकताबद्ध हो सकती है, राष्ट्रों के विभाजन की प्रक्रिया रुक सकती है और विभिन्न भू-खण्डों में विभक्त राष्ट्र परमार्थत: संघबद्ध हो सकते हैं। इस कार्य को कौन आगे बढ़ावेगा?

इसी प्रश्न की पृष्ठभूमि में हम यहाँ चर्चित विश्वाहन्ता जैसे विषयों पर क्रमश: प्रकाश डालना चाहेंगे।

●

विश्वाहन्ता

विश्वाहन्ता का अभिप्राय है, ब्रह्मा से लेकर तृण पर्यन्त समस्त विश्व में अपनी अहन्ता का, अपनी सत्ता का, सार्वात्म्यभावना का साक्षात्कार। पूर्णाहन्ता शब्द भी इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन के आदि-ग्रन्थ शिवदृष्टि में "सर्वं सर्वात्मकम्" अर्थात् प्रत्येक वस्तु में पूरा संसार समाविष्ट है, इस सिद्धान्त की

स्थापना की गई है। कश्मीर के आगमाचार्यों ने इस दृष्टि का विश्वाहन्ता पर्यन्त विकास किया। इस दर्शन का अध्येता अपने भीतर सर्वात्मता का साक्षात्कार करने में समर्थ हो जाता है। इसी दर्शन की पृष्ठभूमि में अरविन्द की दृष्टि का विकास हुआ। बंगभूमि तान्त्रिक दर्शन और संस्कृति से विशेष रूप से अनुप्राणित रही है। कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ टैगोर ने शान्तिनिकेतन में विश्वभारती विश्वविद्यालय की स्थापना की। यजुर्वेद का मन्त्र "यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्" यहाँ का आदर्शवाक्य है। यह विश्वभारती विश्व के प्राच्य और पाश्चात्य विद्वानों का आह्वान विश्व की एकनीडता के लिए करती है। वहाँ की त्रैमासिकी पत्रिका विश्वभारती पर अंकित इन वाक्यों पर आप ध्यान दीजिए—

अथेयं विश्वभारती। यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्। प्रयोजनम् अस्याः समासतो व्याख्यास्यामः। एष नः प्रत्ययः—सत्यं ह्येकम्। पन्थाः पुनरस्य नैकः। विचित्रैरेव हि पथिभिः पुरुषा नैकदेशवासिन एकं तीर्थमुपसर्पन्ति-इति हि विज्ञायते। प्राची च प्रतीची चेति द्वे धारे विद्यायाः। द्वाभ्यामप्येताभ्याम् उपलब्धव्यमैक्यं सत्यस्याखिल-लोकाश्रयभूतस्य—इति नः संकल्पः। एतस्यैव ऐक्यस्य उपलब्धिः परमो लाभः, परमा शान्तिः, परमं च कल्याणं पुरुषस्य—इति हि वयं विजानीमः। सेयमुपासनीया नो विश्वभारती विविधदेशग्रथिताभिर्विचित्रविद्याकुसुममालिकाभिरिति हि प्राच्याश्च प्रतीत्याश्चेति सर्वेऽप्युपासकाः सादरमाहूयन्ते।

म० म० विधुशेखर भट्टाचार्य की लेखनी से प्रसूत इस वाक्प्रसूनांजलि में कितना लालित्य, कितना गुंजन, कितनी सरसता, कितनी सरलता है। इस भावगंभीर संकल्प को आजकल का साम्यवादी बंगील प्रशासन क्या पूरा कर सकेगा?

बादरायण के ब्रह्मसूत्र के समन्वयाध्याय में समस्त श्रुतियों में समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया गया है। भारतीय संस्कृति की यह दृष्टि निरन्तर गतिशील रही है। प्राचीन धर्मों और दर्शनों में जिस तरह से इसने समन्वय स्थापित किया, उसी तरह से यह आज के समस्त धर्मों, मत-मतान्तरों और वादों के भी परस्पर विरोधों को दूर कर इस समन्वित दृष्टि का विकास करने में समर्थ है। तन्त्रागमीय दर्शन ने कभी व्यवहार का अतिक्रमण नहीं किया। विश्व के प्रत्येक प्राणी में वह अपने-अपने स्वत्व के संकोच को दूर कर विश्वाहन्ता के विकास का पथ प्रशस्त करता है। मनुष्य धर्म, भाषा, राज्य, राष्ट्र आदि के घरौंदों में बँट कर अपने को सिकोड़ लेता है। विश्वाहन्ता के प्रकाश से इसे दूर किया जा सकता है। इसी स्थिति में विश्वसंस्कृति का भी विकास हो सकता है। विश्वभारती की उक्त वाक्यावली समस्त विश्व के विद्वानों के समक्ष एक प्रेरणाप्रद संदेश पहुँचाती है। इसी स्थिति में विश्वसंस्कृति का भी विकास हो सकता है। यह विश्वसंस्कृति ही विश्व की एकनीडता को स्थापित कर सकती है।

तान्त्रिक दर्शन और योग की कुछ बातें आज हमारे लिए समालोच्य हो सकती हैं, किन्तु उनकी विश्वाहन्ता दृष्टि आज के विश्व के लिए वरदान स्वरूप है। तन्त्रागमीय दर्शन इस विश्व को अलीक या माया का खेल नहीं मानता। उसकी दृष्टि से यह जगत् उतना ही सत्य है, जितना प्रत्येक दर्शन का अपना परमतत्त्व। हम यह भी कह सकते हैं कि यह सब कुछ परमतत्त्वमय है, उसीकी शक्तियों का विलास है। परमतत्त्व अपनी कुछ शक्तियों को समेट कर परिमित, अपनी देह तक सीमित प्रमाता बन जाता है और पुन: वही अपनी शक्तियों का विस्तार कर अपरिमित प्रमाता, पूर्ण प्रमाता हो जाता है। यहाँ परिमित प्रमाता जीव और अपरिमित प्रमाता परमतत्त्व है। अज्ञ जीव की अहन्ता यद्यपि अपने शरीर तक ही सीमित रहती है, किन्तु वह भी अपनी इस अहन्ता का विस्तार पुत्र-कलत्र, बन्धु-बान्धव, राष्ट्र आदि तक कर सकता है। इसी पद्धति से सारे विश्व के साथ अपनी अहन्ता का विस्तार कर लेना ही तो विश्वाहन्ता दृष्टि कही जाती है।

इस विश्वाहन्ता दृष्टि का प्रतिपादन तन्त्रागमीय ग्रन्थों में, विशेष कर कश्मीर और केरल में विकसित प्रत्यभिज्ञा दर्शन के ग्रन्थों में विस्तार से हुआ है। जीव और शिव ये दो भिन्न तत्त्व नहीं हैं। जीव ही शिव है और शिव ही जीव। जीव जब जान जाता है कि मैं ही शिव हूँ, तो उसको यह सारा विश्व शिवस्वरूप ही नजर आता है और इस तरह से वह सारे विश्व को अहन्ता से ओत-प्रोत पाता है। यही स्थिति शास्त्रों में विश्वाहन्ता के नाम से जानी जाती है। विरूपाक्षपंचाशिका (श्लो० ४) में इस स्थिति को विश्वदेहभाव नाम दिया गया है।

इस विश्वदेहभाव को विकसित करने के उपाय के रूप में यहाँ सहज योग का सहारा लिया जाता है। विरूपाक्षपंचाशिका, परमार्थसार, तन्त्रालोक जैसे ग्रन्थों में इसका प्रसंगवश अथवा प्रधान रूप से वर्णन मिलता है। यह सहज योग सिद्धों को परम प्रिय रहा है, किन्तु केवल सिद्धों को केन्द्र-बिन्दु मान कर किया गया इसका अनुशीलन अधूरा ही माना जायगा। विज्ञानभैरव में इस स्थिति तक पहुँचने के लिए ११२ धारणाओं का निरूपण किया गया है, जिनकी चरम परिणति सहज समाधि में होती है। इसमें प्रतिपादित प्रत्येक धारणा का विनियोग अन्ततः विश्वाहन्ता के विकास में, अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होने में ही किया जाता है। योगदर्शन (४.३३) ने भी चितिशक्ति के अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाने को ही योग का चरम लक्ष्य माना है।

हम यह बता चुके है (पृ० १४१) कि विज्ञानभैरव के अन्त में सहज योग के अनुरूप जप, तर्पण, स्नान, ध्यान आदि की वे व्याख्याएँ दी गई हैं, जिनको आजकल सिद्धों और सन्तों की अनोखी स्वच्छन्द कल्पना माना जाता है। यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि तन्त्रागमशास्त्र की कुछ शाखाओं की विसंगतियों के कारण आज इस पूरे शास्त्र का विशाल वाङ्मय उपेक्षित कर दिया गया है। बौद्ध धर्म को भारत से बाहर निकाल दिया गया, इस आक्षेप को उछालने वाले इस शास्त्र की उपेक्षा की ओर ध्यान

नहीं देते। अर्धसत्य को पूरा सत्य मानने से यह सब कुछ हुआ। वास्तव में इनके बिना भारतीय वाङ्मय की किसी भी शाखा का अध्ययन अधूरा ही रहेगा।

वैदिक-अवैदिक, आस्तिक-नास्तिक सभी दर्शनों में योगशास्त्र की प्रक्रिया को स्वीकार किया गया है। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि प्रारम्भ से लेकर आज तक इसका एक ही रूप रहा। कुछ मूल मान्यताएँ समान रहते हुए भी इस शास्त्र का भारतवर्ष में आश्चर्यजनक विकास हुआ है। इस ग्रन्थ का यह प्रतिपाद्य विषय नहीं है। यहाँ इतना ही कहा जा सकता है कि तान्त्रिक योग की विश्वाहन्ता दृष्टि उन संकीर्ण मानवीय भावनाओं को दूर करने में सर्वाधिक समर्थ हो सकती है, जिनके कारण आज का मानव-समाज मनोवैज्ञानिक रूप से रोगशय्या पर पड़ा हुआ है। इस विश्वाहन्ता दृष्टि का विकास विश्वसंस्कृति के माध्यम से किया जा सकता है।

●

विश्वसंस्कृति

विश्वसंस्कृति कोई बनी-बनाई वस्तु नहीं है। मानव के प्रयत्न से मानवता के कल्याण के लिए अभी उसे बनाना है। सभी देशों के रचनात्मक सहयोग से विश्वमानवता का विकास हो सकता है और संयुक्त राष्ट्रसंघ जैसी विश्वसंस्थाओं की सहायता से एक विश्वनागरिकता की स्थापना की जा सकती है। ''वसुधैव कुटुम्बकम्'' का उद्घोष करने वाले भारतवर्ष में इस दृष्टि का विकास बहुत पहले हो चुका था। इसीलिए स्वामी विवेकानन्द ने विश्वमानवता और विश्वभ्रातृत्व की स्थापना पर जोर देते हुए छुआछूत जैसे सामाजिक भेदभावों के बहिष्कार की सलाह देते हुए ''मातृदेवो भव, पितृदेवो भव'' जैसे औपनिषद वाक्यों की तर्ज पर ''दरिद्रदेवो भव, मूर्खदेवो भव'' जैसे वाक्यों की रचना की है। इससे उनका पूरी मानवता के लिए स्नेहभाव झलकता है।

समाजवादी चिन्तक आचार्य नरेन्द्रदेव ने भारतीय संस्कृति के तीन प्रमुख तत्त्वों की चर्चा की है। इनमें तीसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व विश्वभावना है। भारतीय संस्कृति के दो पहलू रहे हैं—एक व्यक्तिवादी, तो दूसरा समष्टिवादी, अर्थात् विश्वजनीन। इन्हींको हम व्यक्तिगतमानस और लोकमानस कह सकते हैं। उनका कहना है कि इस उभयविध मानस के परिष्कार के लिए हम सभी प्राचीन संस्कृतियों के कालातीत तत्त्वों के स्थान पर नूतन नैतिक मूल्यों का समावेश कर एक समग्र विश्वसंस्कृति का निर्माण कर सकते हैं। आचार्य जी संस्कृति को चित्तभूमि की खेती मानते हैं। उनका कहना है कि व्यक्तियों के चित्त के साथ-साथ लोकचित्त के कार्यक्षेत्र का विस्तार भी आवश्यक है। यह लोकचित्त ही राष्ट्रचित्त और विश्वचित्त के रूप में विकसित होता हुआ विश्वसंस्कृति का स्वरूप धारण कर सकता है। स्पष्ट है कि आचार्य जी को संस्कृति की आध्यात्मिक व्याख्या पसन्द है।

प्रो० मुकुटबिहारीलाल जी ने ''साम्ययोगमीमांसा'' में विश्वसंस्कृति की पृष्ठभूमि को तैयार करने के लिए विश्वशान्ति और विश्वकल्याण की तथा विश्व-बन्धुत्व की भावना के विकास की चर्चा की है। उनका कहना है कि ''वसुधैव कुटुम्बकम्'' यह भारतीय संदेश ही विश्वबन्धुत्व का मुख्य आधार बन सकता है। अन्तरराष्ट्रीय सहयोग की चर्चा करते हुए उन्होंने अपनी एक विस्तृत टिप्पणी (पृ० १८५-१८६) में बताया है कि हिटलर और मुसोलिनी जैसे नाजी और फासिस्ट मनोवृत्ति वाले लोग विश्वभावना और सर्वमानवसौहार्द को स्वीकार नहीं कर सकते। अत: हमें इटली के राष्ट्रपिता मेजनी और भारत के राष्ट्रपिता गाँधी जी के विचारों का अनुसरण कर विश्वशान्ति और विश्वसहयोग की स्थापना के लिए आगे बढ़ना चाहिए। विश्वसंस्कृति की स्थापना का यही प्रशस्त मार्ग है।

विश्वसंस्कृति का अभिप्राय है, सारे विश्व की संपूर्ण मानवता का एक सरीखे संस्कारों से सुसंस्कृत होना। इसमें सबसे बड़ी बाधा धर्म-परिवर्तन (धर्मान्तरण) की है। भगवद्गीता (३.३५) ने पर-धर्म को भयावह माना है। धर्मान्तरण से मुक्त मानव जाति ही एक विश्वसंस्कृति की ओर आगे बढ़ सकती है। इस अध्यात्मप्रवण विश्वसंस्कृति के निर्माण में आगम-तन्त्रशास्त्र का विशेष अवदान रहेगा, क्योंकि इसमें वर्ण-वर्ग-जाति के बन्धनों से मुक्त समस्त मानवता की हितकामना निहित है। आधुनिक विज्ञान इस कार्य को नहीं कर सकता, क्योंकि वह बाह्य स्थूल भौतिक विश्व तक ही सीमित है। मानव-मन की जटिलता को वह समझ नहीं सकता। भीतर झाँकने की उसमें सामर्थ्य नहीं है। वर्गविद्वेष, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद पर आधारित आधुनिक मतवाद भी इस कार्य को नहीं कर सकते। इसके विपरीत उपनिषदों से लेकर तन्त्रशास्त्र की विभिन्न शाखाओं में विकसमान भारत का अध्यात्मप्रवण दर्शन मानव-मन की गुत्थियों को सुलझाने में निरन्तर सचेष्ट रहा है और वह मानव जाति के मानसिक विकास में, सांस्कृतिक धरातल पर पूरी तरह से उसे परिष्कृत करने में सर्वाधिक सहायक हो सकता है।

यह तभी संभव होगा, जब इस्लाम और ख्रीष्ट धर्म अपने संकीर्ण दृष्टिकोण को छोड़ कर, धर्म-परिवर्तन की अवांछनीय प्रक्रिया को बन्द कर, धमकाने वाली भाषा का प्रयोग किये बिना समस्त जागतिक मतवादों में भारतीय समन्वय प्रक्रिया के आधार पर सहिष्णुता की भावना को जगा सकें। इसके लिए आवश्यक है कि हम संकीर्ण धार्मिक दृष्टि को छोड़कर, परलोक की चिन्ता को थोड़ा शिथिलकर, वर्तमान मानवता के मानसिक परिष्कार के लिए आजतक उपार्जित सारे मानवीय आध्यात्मिक ज्ञान का सदुपयोग करे। तभी समग्र मानवीय संस्कृति का, अथ च विश्वसंस्कृति का विकास सम्भव हो सकेगा।

संस्कृति शब्द पूरे विश्व को जोड़ने वाला शब्द है। इसमें यदि हम भारतीयता के उपादानों का भी समावेश करें, तो अनायास एक विश्वसंस्कृति का निर्माण हो सकता है। भारतीय संस्कृति संसार की प्राचीनतम संस्कृतियों में से एक है। इस संस्कृति की वृद्धि करने में अनेकों मानव-वंश प्राचीन काल से संलग्न रहे हैं। वर्तमान समय में भी यह निरन्तर विकास के पथ पर अग्रसर है। कतिपय परिवर्तन तथा क्रान्तियाँ इसके विकास की उज्वल कड़ियाँ बनी हैं। संसार की विविध सभ्यताएँ इस संस्कृति में घुल-मिलकर एक हुई हैं। अन्य संस्कृतियों ने कुछ अंशों में अगर इसे उपकृत किया है, तो इससे उन्होंने बहुत कुछ पाया भी है। वास्तव में भारतीय संस्कृति विश्वसंस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण अंग है।

इस प्रसंग में हम स्वामी विवेकानन्द, योगी अरविन्द और महात्मा गांधी के अवदानों को भी भुला नहीं सकते। इन्होंने न केवल भारतीय संस्कृति को भौतिक आक्रमण से बचाया, किन्तु पाश्चात्य संस्कृति को भी अध्यात्म की ओर उन्मुख करने का प्रयत्न किया। एक विश्व, एक संस्कृति और एक राज्य की स्वर्णिम कल्पना बड़ी लुभावनी है। विचारक इस ओर सोचने लगे हैं। इसको मूर्त रूप देने के लिए संयुक्त राष्ट्र-संघ की स्थापना की गई है, किन्तु आज पूरा विश्व विभिन्न गुटों में बँटा है। यह गुटबाजी एक दूसरे को खा जाना चाहती है। इस परिस्थिति में एक विश्वसंस्कृति अथवा एक राज्य की कल्पना कैसे साकार हो सकती है? इसके लिए तो यह आवश्यक है कि भारतीय सहिष्णुता की विश्व-जनमानस में प्रतिष्ठा हो।

हमें आशा है कि राम-कृष्ण, बुद्ध-महावीर, कबीर-गांधी का यह देश केवल जेन्दावेस्ता (पारसी धर्मग्रन्थ), जो ऋग्वेद का सहोदर ग्रन्थ है; न केवल सिख गुरुओं का ग्रन्थसाहिब, जो भारतीय सन्त-परम्परा की ही उत्कृष्ट देन है; अपितु बाइबिल और कुरान जैसे अन्य धर्म-ग्रन्थों से, ईसाई सन्तों और सूफी फकीरों के उपदेश से भी तादात्म्य स्थापित कर न केवल समग्र भारतीय संस्कृति, अपितु विश्वसंस्कृति का भी निर्माण कर कलह और कटुता के वातावरण से विश्व को त्राण दिला सकेगा।

संघर्ष, बिभीषिका, परस्पर अविश्वास और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की ओर तीव्र गति से बढ़ रहा यह विश्व तभी त्राण पा सकता है, जब "वसुधैव कुटुम्बकम्" और "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" का दिव्य संदेश विश्वसंस्कृति को समर्पित किया जा सके। यह तभी हो सकता है, जब भारत इसको देने में समर्थ हो। दुनिया के सभी धर्मों और संस्कृतियों के अनुयायी यहाँ बसते हैं। वे यदि शान्तिपूर्वक यहाँ रहना सीख जाँय, तो विश्वसंस्कृति की सर्जना का मार्ग खुल सकता है।

यह कार्य अनायास ही नहीं हो जायगा, इसको एक परिपूर्ण स्वरूप देने के लिए हमें अथक प्रयत्न करना होगा, हमें क्रमशः आगे बढ़ना होगा। "भारतीय संस्कृति का समग्र स्वरूप" (पृ० ४-७) शीर्षक ग्रन्थ की प्रस्तावना (अपनी बात) में निर्दिष्ट ११

लक्ष्यों को हृदयंगम करना होगा। आगे हृदयंगम करने की इसी प्रक्रिया को समझने का प्रयत्न किया जा रहा है।

●

विश्वसंस्कृति का क्रमिक विकास

'सेक्युलर स्टेट' के 'धर्मनिरपेक्ष राज्य' अनुवाद ने पूरे देश को अनियन्त्रित अर्थ और काम के शिकंजे में फँसा दिया है (पृ० ६७-७४ देखिए)। तथाकथित राजनेताओं और बुद्धिजीवियों में इसका प्रभाव तीव्र गति से बढ़ा है। धीरे-धीरे पूरा देश नैतिकता-विहीन होता चला जा रहा है। धन और विद्या को संमान मिले, इसमें किसको एतराज हो सकता है? किन्तु नैतिकताविहीन धन और अहंकारभरी विद्या से समाज का क्या कल्याण होगा? आज देश को चरित्रवान्, अर्थ-परिशुद्ध व्यक्तियों की आवश्यकता है। आगमिक संस्कृति ने कुल, जाति, धन और विद्या की अपेक्षा चरित्र को वरीयता दी है। आज उसीकी देश को आवश्यकता है।

पुरातन की आज जिस प्रकार उपेक्षा हो रही है, उसका एक अच्छा उदाहरण मनुस्मृति है। सनातन धर्म में विद्यमान सारे अनर्थों की जड़ आज इस स्मृति को मान लिया गया है। ऐसे महानुभाव आचार्य नरेन्द्रदेव की दी गई सनातन धर्म (भारतीय संस्कृति) की परिभाषा से अपरिचित हैं और काका कालेलकर के निष्कर्ष से भी। सनातन धर्म के परिष्कार के लिए सम्पन्न हुए अन्य अनेक आन्दोलनों की पृष्ठभूमि में ही हम आर्यसमाजी विचारों की भी समीक्षा कर सकते हैं। सनातन धर्म ने आजीवक, लोकायत, जैन, बौद्ध, वैष्णव, शैव, शाक्त आदि आन्दोलनों के उदात्त तत्त्वों को ग्रहण करने में कभी परहेज नहीं किया। सिद्धों, नाथों, सन्तों और गुरुओं ने इसी दृष्टि का अनुसरण किया है। महात्मा गांधी और आचार्य नरेन्द्रदेव इसी परम्परा के प्रतिनिधि हैं। सनातन धर्म किसी एक ग्रन्थ या धर्मोपदेष्टा पर आधारित नहीं है, अथ च सभी उत्कृष्ट अवदानों को स्वीकार करने में कभी संकोच नहीं करता। जेन्दावेस्ता, बाईबिल और कुरान को भी वह उतनी ही महत्ता देता है। इसे हम विश्व का उदारतम धर्म (संस्कृति) मान सकते हैं। सनातन धर्म संबन्धी काका कालेलकर के विचारों को हम पहले दे चुके है (पृ० ५१)। उसी प्रसंग में यह भी सप्रमाण बताया जा चुका है कि हिन्दू धर्म के स्थान पर हमें इसी शब्द को स्वीकार करना चाहिए।

इस सनातन धर्म के संपूर्ण स्वरूप को समझने के लिए हमें मोहेंजोदड़ो-हड़प्पा संस्कृति के साथ वैदिक साहित्य और जैन-बौद्ध वाङ्मय की पृष्ठभूमि में आगमशास्त्र की पांचरात्र और पाशुपत शाखाओं का भी अनुशीलन करना होगा। पाशुपत-सूत्रों के रचयिता लकुलीश का प्रादुर्भाव ईसा की पहली-दूसरी शताब्दी में कायावरोहण में हो चुका था। हड़प्पा-संस्कृति से इनका संबन्ध जोड़ा जा सकता है। इनके मौसुल, कारुक

आदि शिष्यों का तथा उनके हृदयप्रमाण आदि ग्रन्थों का उल्लेख प्राचीन टीकाकारों ने किया है। तन्त्रागमशास्त्र में जातिग्रह को एक प्रकार का पाश माना जाता है। विभिन्न धर्मों और वादों के अनुयायी यहाँ बसते हैं। आगम और तन्त्रशास्त्र के दृष्टिकोण के आधार पर इन सबको एकजुट किया जा सकता है।

वैदिक विश्वबन्धुत्व की भावना के साथ आज हमें भगवान् बुद्ध की महाकरुणा को एवं भगवान् महावीर की कठोर तपस्या को मिलाना होगा। साथ ही आगम और तन्त्रशास्त्र में तथा सिद्धों, सन्तों और गुरुओं की वाणियों में बताई गई समता-दृष्टि का भी विस्तार करना होगा। आज की दुनिया केवल राजनीतिक संघर्ष से ही नहीं, धार्मिक और सांस्कृतिक विविधताओं से भी भरी हुई है। राजनीतिक लाभ के लिए धार्मिक तथा सांस्कृतिक क्रियाकलापों का भी सहारा लिया जा रहा है और एक समग्र भारतीय संस्कृति के निर्माण में बाधाएँ पहुँचाई जा रही हैं। अपनी कमजोरियों को पहिचान कर हमें उन्हें भी दूर करना होगा। इसके लिए दूसरों को दोषी बनाने से हमारा कोई लाभ होने वाला नहीं है और न इस तरह से विघटन की प्रक्रिया ही रुक सकेगी।

दक्षिण के वैष्णव और शैव सन्तों पर तथा उत्तर के सिद्धों, नाथों और सन्तों पर तन्त्रागमशास्त्र का गहरा प्रभाव रहा है। भक्त नरसी मेहता की वाणी भी इनसे आप्यायित है, जो महात्मा गाँधी की आध्यात्मिक शक्ति की प्रेरणास्रोत रही है। आज कबीर, नामदेव, ज्ञानेश्वर, रविदास आदि की तथा गुरुओं की वाणियों का अनुशीलन इस दृष्टिकोण से नहीं किया जाता। इनको नवीन दृष्टिकोण का उद्भावक मानकर एक संकीर्ण घेरे में डाल दिया जाता है। सूफी सन्तों के अध्ययन में भी यही त्रुटि रह गई है। इसके निवारण के लिए हमें संस्कृत वाङ्मय की, विशेष कर तन्त्रागमीय शास्त्र की और उसमें भी कश्मीर के प्रत्यभिज्ञाशास्त्र की सहायता लेनी होगी, जिसका उपदेश सामान्य जन के कल्याण के लिए ही हुआ।

वैयक्तिक साधना का अपना स्थान है। वह भी मानव के कल्याण के लिए प्रवृत्त है। किन्तु व्यक्तिगत उन्नति के साथ सामूहिक उन्नति की भावना की, पारलौकिक उपलब्धि के साथ ऐहलौकिक नैतिकता की, सीमित रूप में ही सही ह्रासवाद के स्थान पर विकासवाद और भाग्यवाद के स्थान पर पुरुषार्थ की भारतीय जनमानस में प्रतिष्ठा हो, इस पर अधिक जोर दिया जाना चाहिए। ऐसा करने पर ही हम श्रद्धेय गुरुचरण श्री श्री गोपीनाथ कविराज महाशय के बताए अखंड महायोग के माध्यम से और पूर्णयोग की पद्धति से योगी अरविन्द की अतिमानस सृष्टि को धरती पर उतार सकते हैं। एक विश्व और एक संस्कृति की कल्पना भी तभी साकार हो सकती है।

औपनिषद दर्शन और सांख्य-योग दर्शन की परम्परा में ही यहाँ एक ओर महावीर और बुद्ध का प्रादुर्भाव हुआ, तो दूसरी तरफ पाशुपत और पांचरात्र मतों का। बुद्ध और महावीर ने

वेद का प्रामाण्य जहाँ सर्वात्मना अस्वीकार कर दिया, वहीं उपनिषद्, सांख्य, योग, पाशुपत और पांचरात्र मतों ने मध्यम मार्ग का अवलंबन किया। इसीके परिणामस्वरूप भगवद्गीता में इन मतों के समन्वय का प्रथम श्लाघ्य प्रयत्न परिलक्षित होता है। परस्पर सहिष्णुता के भाव के विकास के कारण ही यह संभव हो सका है। इसके बाद सहिष्णुता और समन्वय के फलस्वरूप ही यहाँ दीर्घकाल तक पौराणिक संस्कृति का विकास हुआ, जो भारतीय इतिहास का स्वर्णयुग माना जाता है। भागवत महापुराण में विष्णु के दस अवतारों में बुद्धदेव और चौबीस अवतारों में जैनों के आद्य तीर्थंकर ऋषभदेव भी समाविष्ट हैं। "कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्" यहाँ बुद्धदेव की वाणी मुखरित होती प्रतीत होती है। गीतगोविन्दकार जयदेव गाते हैं—"केशव धृत बुद्ध शरीर जय जगदीश हरे"। प्रत्येक सनातनी धार्मिक कृत्यों के प्रारम्भ में संकल्प-वाक्य का उच्चारण करता हुआ कहता है—"बौद्धावतारे"। यदि कोई यह कहता है कि विष्णु के दस अवतारों में परिगणित बुद्धदेव बौद्ध धर्म के प्रवर्तक भगवान् बुद्ध से भिन्न हैं, या इनकी गिनती मोहक अवतारों में होती है, तो यह उस पर अपसंस्कृतियों का ही प्रभाव माना जायगा।

भारतीय संस्कृति ने आज हिंसाप्रधान वैदिक कर्मकाण्ड को भी छोड़ दिया है और बौद्ध धर्म की उन उपासना-विधियों को भी, जिनके असंगत आचरण से बौद्ध धर्म में स्वयं ही विदेशी प्रभाव के आगे टिक सकने की शक्ति शेष नहीं रह गईं थी। इसके विपरीत वैदिक, औपनिषद, जैन, बौद्ध और पौराणिक संस्कृति के संमिलित उत्कृष्ट उपादानों से बनी भारतीय संस्कृति एक हजार वर्ष की विपरीत परिस्थितियों का सामना करते हुए आज तक टिकी रही और अब वह स्वतन्त्रता की साँस ले रही है।

इन संकटपूर्ण घड़ियों में भारतीय संस्कृति सन्तों की अमृतमयी वाणी से अपनी जीवनी शक्ति अर्जित करती रही है। सन्त कबीर, जायसी, अमीर खुसरो, रसखान और अन्य अनेक सूफी सन्तों ने, अकबर और दाराशिकोह जैसे राजपुरुषों ने इस्लाम का भारतीयकरण करने में पूरा योगदान किया है। आगरा का ताजमहल हो या बीजापुर का गोलगुम्बद, इस्लामिक संस्कृति के साथ ये हमारी भावात्मक एकता के प्रतीक हैं। हिन्दुओं और मुसलमानों ने कंधे से कंधा मिलाकर भारतीय स्थापत्यकला, संगीत-शास्त्र और चित्रकला का विकास किया है और स्वतन्त्रता-संग्राम का संचालन भी। पाश्चात्य संस्कृति और विज्ञान का प्रभाव तो आज पूरे देश में स्पष्ट दिखाई पड़ता है।

इस प्रकार आज की भारतीय संस्कृति के अजस्र प्रवाह में वैदिक, औपनिषद, जैन, बौद्ध, पौराणिक, सन्त, इस्लाम और पाश्चात्य संस्कृतियों की धाराओं का जल मिलकर बह रहा है। इन सभी धाराओं के साथ संपूर्ण भारतीय जनमानस में भावात्मक एकता स्थापित होने के बाद ही समग्र भारतीय संस्कृति के निर्माण का और तब विश्वसंस्कृति के भी विकास का पथ प्रशस्त होगा।

भारतीय संस्कृति संसार की प्राचीनतम संस्कृतियों में से एक है। इस संस्कृति की वृद्धि करने में अनेकों मानव-वंश प्राचीन काल से संलग्न हैं। वर्तमान समय में भी यह निरन्तर विकास के पथ पर अग्रसर है। कतिपय परिवर्तन तथा क्रान्तियाँ इसके विकास की उज्ज्वल कड़ियाँ बनी हैं। संसार की विभिन्न सभ्यताएँ इस संस्कृति में घुल-मिल कर एक हुई हैं। अन्य संस्कृतियों ने कुछ अंशों में अगर इसे उपकृत किया है, तो इससे उन्होंने बहुत कुछ पाया भी है। वास्तव में भारतीय संस्कृति विश्वसंस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। इसीके सहारे पूरी मानवता में एक विश्वदृष्टि का विकास हो सकता है।

●

विश्वदृष्टि

"मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव" (१.११) तैत्तिरीयोपनिषद् के इन वाक्यों में माता, पिता, आचार्य (गुरु) और अतिथि का देवता के समान आदर करने की शिक्षा दी गई है। गणेशपुरी के सन्त स्वामी मुक्तानन्द जी के आश्रम में हमने इसी तरह का एक वाक्य देखा—"परस्परदेवो भव"। तैत्तिरीयोपनिषद् के उक्त चार वाक्यों के साथ इसको जोड़ कर देखें, तो इसका अभिप्राय होगा—हम एक-दूसरे को देवता मान कर आपस में एक-दूसरे का आदर-सत्कार करें।

कुछ दिन बाद किसी कारण से बड़ोदरा जाना हुआ। वहाँ के संस्कृत महाविद्यालय की पत्रिका में पुनः हमने इस वाक्य को देखा। वहाँ बताया गया था कि पश्चिम समुद्रगामिनी पवित्र नर्मदा नदी[१] के तट पर स्थित नारेश्वर तीर्थ में निवास करने वाले श्रीमद् रंगावधूत स्वामी जी ने तैत्तिरीयोपनिषद् का अनुसरण करते हुए—"छात्रदेवो भव, परस्परदेवो भव" इन दो नये वाक्यों की कल्पना की थी। अभी हम स्वामी विवेकानन्द जी के दो वाक्यों की—"दरिद्रदेवो भव, मूर्खदेवो भव" चर्चा कर चुके हैं (पृ० १५३)। हमें यहाँ केवल "परस्पर-देवो भव" वाक्य पर ही चर्चा करनी है।

भगवद्गीता (३.११) मनुष्यों और देवताओं को एक-दूसरे के कल्याण में प्रवृत्त होने का उपदेश करती है, तो ऊपर का वाक्य मानवों को ही एक-दूसरे के कल्याण में प्रवृत्त होने को प्रेरित करता है। स्वात्मदेवतावाद की ऊपर चर्चा आ चुकी है। "स्वात्मैव देवता प्रोक्ता ललिता विश्वविग्रहा" (३५.१२) तन्त्रराजतन्त्र का यह वचन भगवती त्रिपुरसुन्दरी के साथ

---

१. पुराणों में तथा अन्यत्र भी २८ पाशुपत योगाचार्यों और उनके ११२ शिष्यों की नामावली मिलती है। इनमें अनेक पाशुपताचार्यों के, न्याय और वैशेषिक दर्शन के प्रवर्तक गौतम और कणाद के तथा अग्निवेश आदि आयुर्वेदाचार्यों के नाम मिलते हैं। माना जाता है कि नर्मदा नदी के पवित्र तट पर भृगुकच्छ (भड़ौच) के आसपास ही इनके तपोवन थे। स्वर्गीय प्रभुदत्त ब्रह्मचारी जी ने अपनी *नर्मदा-परिक्रमा* में इनका वर्णन किया है।

और ''सर्वं शिवमयम्'' (४.३१३) स्वच्छन्द-तन्त्र का वचन शिव के साथ साधक की अभिन्नता का उपदेश करते हैं। इसी दृष्टि का सहारा लेकर योगी अरविन्द ने मानव-मन की अत्युन्नत स्थिति की कल्पना की थी और श्रद्धेयचरण श्री श्री गोपीनाथ कविराज ने अखण्ड महायोग के माध्यम से यहाँ तक पहुँचने का मार्ग बताया था। योगी अरविन्द के अतिमानस योग का और महामनीषी कविराज जी के अखण्ड महायोग का संक्षिप्त परिचय हम आगे (पृ० १६५-१७१) अभी देने जा रहे हैं। इन्हीं सारी दृष्टियों का अनुसरण करते हुए हमें भी सभी मानवों के हित के लिए, उनके दुःख को दूर करने के लिए परस्पर में आदरभाव का विकास कर विश्वदृष्टि का उन्मीलन करना चाहिए।

न चाहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्॥

इस वाक्य में करुणामूर्ति भगवान् बुद्ध का यही संकल्प तो स्पष्ट होता है कि राज्य, स्वर्ग और मोक्ष की भी मुझे कोई आकांक्षा नहीं है। मैं तो केवल दुःखी प्राणियों के दुःख को दूर करना चाहता हूँ। ''*विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि। शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥*'' (५.१८) भगवद्गीता के इस वाक्य में उपदिष्ट समता-दृष्टि का हम अपने में विकास करें और स्कन्दपुराण की—

नश्यन्तु दुःखानि, जगत्यपैतु लोभादिको दोषगणः प्रजाभ्यः।
यथात्मनि भ्रातरि चात्मजे वा तथा नरस्यास्तु जनेऽपि भावः॥

इस उक्ति के अनुसार अपने में यह शुभ अभिलाषा जगावें कि सभी प्राणियों के दुःख दूर हो जाँय, पूरी जनता लोभ आदि दोषों से मुक्त हो जाय और मानव एक-दूसरे के प्रति वैसा ही व्यवहार करे, जैसा वह स्वयं अपने प्रति, अपने भाई या पुत्र के प्रति करता है। ऐसा व्यक्ति परस्पर एक दूसरे के प्रति अनायास ही देवत्व की भावना को जगा सकता है। महाकवि मातृचेट ने महात्मा बुद्ध की श्रेष्ठता को इस प्रकार समझाया है—

अकृत्वेर्ष्यां विशिष्टेषु हीनाननवमत्य च।
अगत्वा सदृशैः स्पर्धां त्वं लोके श्रेष्ठतां गतः॥

अर्थात् विशिष्ट जनों के प्रति ईर्ष्याभाव, कनिष्ठ जनों के प्रति अनादरभाव और समान स्थितिवालों के प्रति स्पर्धाभाव का परित्याग करके ही आपने श्रेष्ठता अर्जित की है। कहने का अभिप्राय यह है कि इस प्रकार के आचरण से प्रत्येक मानव में इस दृष्टि का उन्मेष हो सकता है कि वह परस्पर एक दूसरे के साथ आदरभाव को बढ़ाता रहे। प्रो० मुकुटबिहारीलाल जी ने उक्त ग्रन्थ (पृ० १७६) में बताया है कि गाँधी जी स्पर्धा की नीति को अनैतिक मानते थे। गाँधी जी ने मातृचेट को नहीं पढ़ा होगा। महात्माओं की मनोवृत्तियों में इसी तरह की अद्भुत समानताएँ मिलती हैं। उन्हींके सहारे हम अपने में विश्वदृष्टि का विकास कर सकते हैं।

विश्वदृष्टि का विकास हो जाने पर मानव व्यक्तिगत एवं सामूहिक रूप में आपस में किस तरह का व्यवहार करेगा? इस प्रसंग में भारतीय मनीषा ने जो मार्गदर्शन किया है, अब उसीको यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

●

विश्व-व्यवहार

अद्वैतवादी शैव और शाक्त दार्शनिक स्वात्मदेवता के अतिरिक्त अन्य किसी की भी सत्ता को स्वीकार नहीं करते और बौद्ध दार्शनिक अपने-पराये के झगड़े से बचने के लिए आत्मा को ही अस्वीकार कर देते हैं। एक नीति-वाक्य का कहना है कि किसी को अपना और दूसरे को पराया मानना हलके आदमियों की मनोवृत्ति है। उदार मन वाले व्यक्ति के लिए तो यह सारी पृथ्वी अपना कुटुम्ब है। शतकत्रयकार भर्तृहरि ने ऐसे मानवों को चार श्रेणियों में बाँटा है। सज्जन पुरुषों के लिए वहाँ बताया गया है कि ये अपने स्वार्थ को भी छोड़कर दूसरों का काम करने में लग जाते हैं। सामान्य जन अपने काम को बिना बिगाड़े दूसरों का काम भी करते हैं। तृतीय श्रेणी के आदमी अपना काम साधने के लिए दूसरों का काम बिगाड़ने में कोई संकोच नहीं करते। इन सबसे घटिया मनुष्य की एक चौथी कोटि भी है, जो बिना किसी प्रयोजन के दूसरों का काम बिगाड़ती रहती है।

इस जगत् में स्वार्थ को छोड़कर दूसरों की सहायता करने वाले सज्जन और निरर्थक दूसरों का काम बिगाड़ने वाले दुर्जन सदा से रहते आये हैं। ''दुष्टों के साथ दुष्टता का व्यवहार करना'', ''कुटिल व्यक्ति के साथ सरलता से पेश न आना'', ''हमारे साथ जो जैसा व्यवहार करता है, उसके साथ उसकी तरह का व्यवहार करना'', ''अपने हित के लिए पृथ्वी का भी परित्याग कर देना'' जैसी शिक्षा देने वाले वाक्य भी शास्त्रों में मिलते हैं और 'धम्मपद' जैसे बौद्ध ग्रन्थों में यह भी बताया गया है कि वैर करने से कभी वैर शान्त नहीं होता, उसको तो सद्भावना से ही शान्त किया जा सकता है। प्रत्यभिज्ञादर्शन के उद्भावक उत्पलदेव ने सामान्य मानवता के भी उपकार के लिए इस शास्त्र की रचना की थी।

महाकवि बाण ने दृढ़ संकल्पशक्ति वाले व्यक्ति के लिए कहा है कि उसके लिए यह सारी पृथ्वी घर के आँगन के समान, समुद्र सामान्य नहर के समान, पाताल खेल के मैदान के समान और सुमेरु पर्वत दीमक की बाँबी के समान हो जाता है। आधुनिक संसाधनों के कारण आज सामान्य मनुष्य के लिए भी यह सब कुछ सुलभ हो गया है, तो भी संकल्पशक्ति के प्रभाव को इससे झुटलाया नहीं जा सकता। नये-नये क्षेत्रों में नये-नये अवदान उस संकल्पशक्ति के कारण ही मिल पाते हैं। यह सही है कि आज शारीरिक दृष्टि से मानव एक-दूसरे के समीप आ गया है, किन्तु मानसिक दृष्टि से वह

बहुत दूर होता जा रहा है। मनुष्य आपस में पहले भी लड़ता था, किन्तु आज के इस परमाणु युग में इस संसार की स्थिति बहुत भयावह हो गई है, चारों तरफ संघर्ष की ज्वालाएँ ही सुलग रही हैं। भगवद्‌गीता में वर्णित आसुरी वृत्ति का सर्वत्र नग्न ताण्डव देखने को मिल रहा है। ''मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना'' इस सुभाषित के अनुसार आज भारत में भी परस्परविरोधी नाना प्रकार की प्रवृत्तियाँ काम कर रही हैं। कुछ लोग धन की विषमता को, अन्य लोग मनुष्य की बढ़ती जा रही विषय-वासनाओं को, कुछ समझदार व्यक्ति सर्वत्र फैलाए जा रहे भौतिकवाद को और सामान्य जन राजनीति में प्रविष्ट मनुष्य की अदूरदर्शिता एवं दुरवस्था को इसका कारण बताते हैं।

आज एक व्यक्ति के प्रति दूसरे व्यक्ति में, एक जाति के प्रति दूसरी जाति में और एक देश के प्रति दूसरे देश में महत्त्वाकांक्षा और अहंकार के कारण आपस का अविश्वास बढ़ता जा रहा है। कुछ लोग व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और आर्थिक सहायता के बहाने सारी दुनिया को अपने वश में करना चाहते हैं। अन्य ऐसे भी राष्ट्र हैं, जो सामूहिक हित को मान्यता देते हुए सारे संसार को जीत लेना चाहते हैं। ये सब समन्वय, सामंजस्य, सहनशीलता, उदारता जैसे शब्दों से परिचित ही नहीं हैं और परस्पर के अविश्वास के कारण नये-नये महाविनाशक हथियारों का निर्माण करने में लगे हुए हैं। परस्पर के इस अविश्वास से मानवता का उद्धार कैसे हो? इसका एक सीधा-सा उपाय भारतीय शास्त्रों में बताया गया है—''आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्''। अर्थात् व्यक्ति को जो व्यवहार स्वयं अपने तई अप्रिय लगे, वैसा व्यवहार वह दूसरों के प्रति कभी न करे। इसीमें धर्म का सार छिपा हुआ है। इसे पूरी तरह से समझ लेना चाहिए। इसी तरह के अन्य वचन भी मिलते हैं। जैसे कि अठारह पुराणों में व्यासदेव ने दो बातें विशेष रूप से बताई हैं कि परोपकार से पुण्य तथा दूसरों को पीड़ा पहुँचाने से पाप होता है। इसी तरह का एक और वचन है—

प्रत्याख्याने न दाने च सुखदुःखे प्रियाप्रिये।
आत्मौपम्येन पुरुषः प्रमाणमधिगच्छति॥

अर्थात् दूसरे को अपमानित अथवा संमानित करने में, सुखःदुख पहुँचाने अथवा उनके मनोनुकूल अथवा प्रतिकूल व्यवहार करने में व्यक्ति को स्वयं अपने को ही प्रमाण के रूप में देखना चाहिए कि मुझे इनमें से कौन-सा व्यवहार अच्छा लगता है। इस प्रकार अपने ही उदाहरण का सहारा लेकर चलने वाले महानुभाव कभी किसी दूसरे का अहित नहीं करते। अपने उदाहरण से सर्वत्र समदृष्टि का सहारा लेने वाले व्यक्ति की प्रशंसा भगवद्‌गीता में भी की गई है।

''आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पश्यति'' इस वचन का अभिप्राय भी पूर्वोक्त सभी वचनों से भिन्न नहीं है कि जो हमें अच्छा लगता है, वह दूसरों को भी

अच्छा लगेगा और जो हमें अच्छा नहीं लगेगा, उसे दूसरा भी पसन्द नहीं करेगा। अतः इस मानवीय मन की भावना के अनुसार प्रतिकूल आचरण को छोड़ना और अनुकूल आचरण (व्यवहार) को करना ही मानव का परम धर्म है। इस तरह के व्यवहार से व्यक्ति समस्त मानवता के हितसाधन के साथ उसकी उदात्त भावनाओं के विकास में और समस्त लोक की सुख-समृद्धि में भी सहायक बन सकता है। अपने समान ही समस्त प्राणियों को देखने वाली यह परम उदात्त प्रवृत्ति सभी का कल्याण करने में और सभी की अभिलाषाओं को पूरा करने में सदा समर्थ रहती है। इस शुभ प्रवृत्ति के विकास में दुनिया के सभी धर्म और दर्शन सदा सचेष्ट रहे हैं। परमपिता परमात्मा के हम सभी प्रिय पुत्र हैं, इस भावना का सर्वत्र विकास हो, यह अति आवश्यक है। वेदों में भी गाया गया है—"अमृतस्य पुत्राः"। यह मानव परमपिता परमात्मा का पुत्र है, "माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः" भूमि मेरी माता है, मैं पृथिवी का पुत्र हूँ।

आजकल तो स्वार्थ में आकंठ डूबे हुए मनुष्य दूसरों के अहित में ही अधिक लगे रहते हैं। दूसरों की प्रतारणा में लगा मानव एक क्षण के लिए भी यह विचार नहीं करता कि यदि ऐसा ही व्यवहार दूसरा भी उसके साथ करेगा, तो उसे कैसा लगेगा? जो व्यक्ति चाहता है कि हमारे साथ कोई बुरा व्यवहार न करे, किन्तु वह स्वयं सदा दूसरे के साथ अच्छा बर्ताव नहीं करता; स्वयं अपने प्रति किये गये अत्याचार और अपमान को सहन नहीं कर सकता, किन्तु दूसरे के साथ इस तरह का आचरण बिना हिचक के करता रहता है, तो इससे बढ़कर धृष्टता दूसरी क्या हो सकती है? हमें इस बात पर विचार करते रहना चाहिए कि कड़वी बात कहने पर, मारपीट करने और अत्याचार या अपमान करने पर जैसे हमें दुःख होता है, उसी तरह की पीड़ा दूसरों को भी पहुँचेगी।

वास्तव में यह सारी परेशानी अपनापन और परायेपन के कारण है। हमारी दृष्टि में कुछ अपने और अन्य पराये हैं। हम अपनों की भलाई और सुख-समृद्धि चाहते हैं तथा उनकी परेशानियों को दूर करने में लग जाते हैं, अपनी सुख-समृद्धि के लिए दूसरों की उपेक्षा करना चाहते हैं, या उनको नुकसान पहुँचाने में भी कभी-कभी लग जाते हैं, उन पर अमानुषिक अत्याचार करने से भी नहीं डरते। इस तरह यह अपने-पराये का भेद पूरी दुनिया में फैला हुआ है। यह भेद व्यक्ति, जाति या देश के भेद से विभिन्न रूपों में देखने को मिलता है। एक व्यक्ति अपने सुख और अनुकूलता के लिए, अपने कुटुम्ब, अपनी जाति और अपने देश की सुख-समृद्धि के लिए अन्य व्यक्तियों, जातियों और देशों पर भी अत्याचार करने से नहीं हिचकिचाता। यदि सारी मानवजाति इसी अपने-पराये के फेर में पड़ी रहेगी, तो इस दुनिया में सुख और शान्ति की आशा कैसे की जा सकती है?

अत: यह आवश्यक है कि अपने-पराये की इस संकीर्ण दृष्टि को मिटाने का सतत प्रयत्न किया जाय और सर्वत्र एकात्मता की अनुभूति को जगाया जाय। जब सर्वत्र एकात्मता की अनुभूति जग जायगी, जब सभी स्वात्मीय जन के रूप में ही दिखाई देने लगेंगे, तब कौन किसको पीड़ित करेगा? यदि सबका दु:ख अपना ही दु:ख हो जायगा, समवेदना का यह भाव मानव में जग उठेगा, तब कहीं भी पापदृष्टि या अत्याचार का भाव जागेगा ही नहीं। सर्वत्र सत्य, अहिंसा, करुणा आदि के रूप में समवेदना ही हिलोरें लेती हुई दिखाई देंगी।

यह एकात्मता की अनुभूति, समवेदना का भाव ही भगवद्गीता में दैवी संपत्ति के रूप में वर्णित है। इस भावना से ओत-प्रोत व्यक्ति साक्षात् देवस्वरूप बन जाता है। यदि पूरा मानवसमाज इस भावना से भर जाय, तो यह मनुष्यलोक साक्षात् देवलोक बन सकता है और इस पूरे विश्व में शान्ति का साम्राज्य छा सकता है। इसके लिए आवश्यक है कि हम पूरे विश्व के कल्याण के लिए समता-दृष्टि का सर्वत्र विस्तार करे। इसीके अभाव में यह संसार सर्वत्र कलह से भरा हुआ है, सर्वत्र पीड़ितों की चीत्कार सुनने को मिलती है और मानव का जीवन क्लेश से भरा हुआ है। विश्व में शान्ति की स्थापना के लिए इस दुनिया में रहने वाले समस्त नीतिविशारदों को संभूय-समुत्थान की प्रक्रिया का सहारा लेकर ईमानदारी से लोकहित की भावना को आगे बढ़ाना चाहिए। कुटिलनीति के सहारे विश्वशान्ति की स्थापना कभी नहीं की जा सकती। संकीर्ण दृष्टि को व्यापक बनाने का निश्छल प्रयत्न होना चाहिए। अपने-पराये की शृंखला को काट डाला जाय और सर्वत्र स्वात्मदेवता की विश्वदृष्टि का विकास किया जाय, तभी विश्वशान्ति की स्थापना हो सकती है, एक विश्व और एक संस्कृति की सुन्दर कल्पना साकार हो सकती है।

भारत में वसिष्ठ-वाल्मीकि, बुद्ध-महावीर और महात्मा गांधी के समान पूरे विश्व में जरथुष्ट्र, मोत्सू, सुकरात, इब्राहम, ईसामसीह, मुहम्मद जैसे महापुरुषों का जन्म हुआ है। मानव-मन का धीरे-धीरे विकास होते रहने से योगी अरविन्द के अनुसार एक दिन दिव्य मानवता का आलोक फैलेगा। महामनीषी श्री श्री गोपीनाथ कविराज महाशय की दृष्टि में अखण्ड सहयोग की सहायता से भी हम इस स्थिति तक पहुँच सकते हैं। अखण्ड संस्कृति अथवा विश्वसंस्कृति के निर्माण के बाद ही यह संभव हो सकेगा। उसके विकास की पहली सीढ़ी होगी—*"आत्मन: प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्"*। हमें अपने प्रति जो व्यवहार पसंद नहीं है, उस तरह का व्यवहार हम दूसरों के प्रति भी न करें।

भारतीय संस्कृति के इस दिव्य संदेश को वैचारिक संघर्ष में भटक रहे विश्व मानवाधिकार आयोग और संयुक्त राष्ट्रसंघ को सर्वप्रथम हृदयंगम करना चाहिए।

योगी अरविन्द का पूर्ण योग और महामनीषी श्रद्धेय कविराज जी का अखण्ड महायोग मानव के व्यक्तिगत एवं सामूहिक मन को यहाँ तक पहुंचाने में सहायक हो सकते हैं। कर्म और ज्ञान की, योग और सांख्य की परस्पर सापेक्षता का भारतीय शास्त्रों में वर्णन मिलता है। विश्वदृष्टि के उन्मेष के साथ एक विश्व और एक संस्कृति की कल्पना को साकार करने के लिए भी पूर्ण योग और अखण्ड महायोग की अपेक्षा होगी। अत: अब संक्षेप में सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में उनके स्वरूप पर प्रकाश डाला जा रहा है।

•

पूर्ण योग

योगी अरविन्द द्वारा प्रतिपादित योग पूर्ण योग कहलाता है। यह नाम उन्होंने स्वयं दिया है। पूर्ण योग का लक्ष्य है, भागवत चेतना की अतिमानसी शक्ति को उतार कर मन, प्राण और देह में इस प्रकार से लाना कि इनका दिव्य रूपान्तरण हो जाय और इनकी सहायता से ही भगवान् का प्रत्यक्ष साक्षात्कार किया जाय। अभिप्राय यह है कि जड़ तत्त्व में दिव्यत्व की अवतारणा के लिए इस योग की आवश्यकता है। इस योग की साधना किसी नियत मानसिक अवबोधन की या ध्यानोपासना की विधि मन्त्र-जप आदि के रूप में नहीं चलती। इसके लिए तो अपेक्षित है, सच्ची अभीप्सा का अन्तर्मुखी-ऊर्ध्वमुखी संप्रेषण, उस दिव्य सत्ता और उसकी लीला के प्रति पूर्ण आत्मोद्घाटन, जो सर्वत्र विद्यमान है एवं जिसकी उपस्थिति हमारे हृदय में निरन्तर बनी रहती है।

योगी अरविन्द लेखन को भी पूर्ण योग का अंग मानते हैं और कहते हैं कि केवल लेखन ही नहीं, वास्तव में कोई भी काम योग बन सकता है। विज्ञानभैरव के इस श्लोक से—"योगिनां तु विशेषोऽयं सम्बन्धे सावधानता" (श्लो० १०४) इस कथन की पुष्टि होती है। योगी अरविन्द के मत में यह सारा जीवन ही योग है। वे कहते हैं कि जो लोग सच्चे मन से श्री माँ के निमित्त काम करते हैं, उनके लिए तो वह काम ही अभीष्ट चेतना को प्राप्त कराने का साधना बन जाता है, भले ही वे ध्यान-चिन्तन में बैठते तक न हों या योग-साधना की दृष्टि से कुछ भी न करते हों। एक स्थान पर तो वे आसन और प्राणायाम के विषय में भी कहते हैं कि इनकी सहायता से मानसिक दोषों का निर्मूलन हो ही जाय, यह आवश्यक नहीं है। शाक्त क्रमदर्शन से भी इस विषय की पुष्टि होती है। योगी अरविन्द का कहना है कि हमें तो अन्य सारी चिन्ताएँ छोड़कर अपने को यथार्थ में भागवत सत्य और भागवत प्रेम का पात्र बनाना चाहिए। इसका प्रथम चरण होगा—पूर्ण आत्मनिवेदन और आत्मशुद्धि, पूर्ण आत्मोद्घाटन और अपने अन्तर के उन सबका परित्याग, जो इसमें बाधक हैं।

इस पूर्ण योग की साधना के लिए, एक पूर्णतया विकसित अध्यात्मीकृत समाज के विकास के लिए और मानवीय विविधता में एकता की संसिद्धि के लिए निश्चित रूप से मार्ग-दर्शन स्वयं ही प्राप्त होता है। मानव का सच्चा धर्म है देवत्व को प्राप्त करना और अपने पार्थिव जीवन की सत्ता को तदनुसार ढालना। यही विकास का वास्तविक अर्थ भी होता है। योगी अरविन्द ने स्पष्ट किया है कि मन, प्राण और जड़तत्त्व—तीनों आध्यात्मिक मन अथवा अतिमन के द्वारा प्रादुर्भूत हुए आत्मा के ही परिणाम हैं। मनुष्य अपने मन का अतिमन में विकास करके इसी जीवन में जड़ जगत् में आत्मा के वास्तविक सत्य का, प्राण के उच्चतम धर्म का साक्षात्कार कर सकता है। आत्मा ही सच्चिदानन्द-स्वरूप और इसके एवं जगत् के बीच किसी प्रकार का कोई भेद नहीं है। जो भेद जान पड़ता है, वह केवल इस कारण से है कि हम इस जगत् को अज्ञान (अर्थ) की दृष्टि से देखते हैं, ज्ञान की दृष्टि से नहीं[2]। इस विकास-प्रक्रिया का चरम रूप विशुद्ध आध्यात्मिक जीवन, अर्थात् दिव्य जीवन होता है।

शक्तितत्त्व को योगी अरविन्द ने अतिमानसी शक्ति कहा है। यह तब तक प्रकट नहीं होती, जब तक हम सब प्रकार के अहंभाव से अपने को मुक्त न कर लें। यह शक्ति अपने को व्यक्त ही केवल ऐसे प्राणी में करेगी, जिसने पूर्ण आन्तरिक अवस्था प्राप्त कर ली हो। एक अन्य स्थान पर इच्छा शक्ति और कर्म(क्रिया) शक्ति का उल्लेख करते हुए वे कहते हैं कि यह भी इस परिबद्ध व्यक्तित्व और उसके अहंकार का प्रस्फुटन न होकर दैवी और आध्यात्मिक शक्ति होगी, मानवमूर्ति के माध्यम से उन्मुक्त रूप से कार्य करती हुई उस परात्पर विश्वमूर्ति, अखिल विश्व के आत्मा परमात्मा की ही इच्छा और कर्म(क्रिया) शक्ति होगी। वे यह भी कहते हैं कि जिन महापुरुषों में यह आध्यात्मिक चेतना बहुत विकसित हो जाती है, उनमें एक विशेष क्रियात्मक आध्यात्मिक शक्ति आ जाती है।

पूर्ण योग की कसौटी दिव्य रूपान्तरण है और शक्तितत्त्व की सहायता से यह प्राप्त हो सकता है। पहले अपनी प्रकृति का रूपान्तरण, फिर भौतिक और आध्यात्मिक रूपान्तरण और अन्त में अतिमानसी रूपान्तरण। अतिमानसी जीवन के लिए दो तत्त्व आवश्यक हैं—एक तो पूर्ण सतत समानता का भाव तथा दूसरा उसके ज्ञान के संबन्ध में पूरी निश्चितता। समानता सचमुच पूर्ण हो, इसके लिए आवश्यक है कि वह निरपवाद और अपरिवर्ती हो, सहज एवं स्वैच्छिक हो। अतिमानसी जगत् के समस्त प्राणियों का परस्पर सम्बन्ध मित्र, सहयोगी और बराबर वालों का होगा। इसी अभिप्राय का स्कन्द-पुराण का वचन अभी (पृ० १६०) उद्धृत किया गया है। इस स्थिति में हमारा पृथ्वी-लोग अतिमानसी जीवन के लिए उपयुक्त भूमि बन जायगा।

---

२. विष्णुपुराण का यह श्लोक देखिये—''विज्ञानरूपमखिलं जगदेतदबुद्धयः। अर्थस्वरूपं पश्यन्तः.........''।

अतिमानसी सृष्टि संभव हो सके, इसके लिए यह भी आवश्यक है कि जिस तत्त्व का मनुष्य-शरीर बना हुआ है, उसीमें भारी परिवर्तन हो। तब इस सृष्टि में कोई धर्म आदि नहीं होंगे। जो भागवत इकाई विश्वभर में प्रकट होगी, प्राणीमात्र उसीकी अभिव्यक्ति, उसीका विभिन्न रूपों में पल्लवन-पुष्पन होगा। मनुष्य आज जिनको देवता कहता है, वे भी फिर नहीं रह जायेंगे, क्योंकि नई सृष्टि में वे स्वयं भी भाग लेते होंगे। धरती पर अतिमानसी तत्त्वों का अवधारण इन्हें भी करना होगा।

अभी ऊपर के अनुच्छेद में कहा गया है कि जिस तत्त्व का मनुष्य-शरीर बना हुआ है, उसीमें भारी परिवर्तन हो। अतिमानसी सृष्टि के प्रसंग में यह एक प्रमुख प्रश्न है। सांख्यदर्शन की दृष्टि से यह सृष्टि त्रिगुणात्मक है, सुख-दुःख-मोहात्मक है। इस प्राकृतिक सृष्टि में दिव्य भाव का उन्मेष हो ही नहीं सकता। प्रत्यभिज्ञा दर्शन में मायीय सृष्टि भी वर्णित है। मायीय सृष्टि के उपादान शुद्धाशुद्ध सात तत्त्व और महामायीय सृष्टि के उपादान पांच शुद्ध तत्त्व हैं। महामाया, कुण्डलिनी शक्ति, परा वाक्—ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। आणव, मायीय और कार्म नामक त्रिविध मलों से आवृत सकल प्रमाता का शरीर प्राकृतिक, आणव और मायीय मल से आवृत प्रलयाकल का शरीर मायीय एवं केवल आणव मल से आवृत विज्ञानाकल का शरीर महामायीय है। यह विज्ञानाकल अन्ततः मन्त्र(विद्या), मन्त्रेश्वर(ईश्वर), मन्त्रमहेश्वर(सदाशिव) और शिव-शक्ति का स्वरूप धारण कर लेता है। इस प्रकार यहाँ सात प्रकार के प्रमाताओं की स्थिति मानी गई है। क्या यह संभव है कि प्राकृतिक और मायीय सृष्टि के उपादानों की कोई सत्ता न रह जाय और शुद्ध महामायीय सृष्टि ही बची रह जाय? इस प्रसंग में यह दर्शनीय है कि योगी अरविन्द परमसत् के सात आयामों की चर्चा करते हैं, जिनमें वह मूर्तिमान् होता है। वे हैं—सत्, चित्, आनन्द, अतिमानस, मानस, जीवन और जड़तत्त्व। हम विज्ञानाकल की उन्मनी अवस्था से अतिमानस स्थिति की तुलना कर सकते हैं।

अतिमानसी तत्त्वों का अवतरण और अवधारण एक अत्यन्त कठिन कार्य है। योगी अरविन्द का कहना है कि हमारा जीवन सरल कार्यों के लिए नहीं, कठिन कार्यों को पूरा करने के लिए ही है। वे यह भी कहते हैं कि कोई भी काम किसी दूसरे से न ऊँचा समझा जाना चाहिए और न नीचा ही। किसी भी कार्य में संपूर्णता आ सके, इसके लिए यह आवश्यक है कि मानव की जीवनगत कार्यप्रणालियों के पाँचों प्रधान पक्षों को ध्यान में रखा जाय। ये पाँच पक्ष हैं—शारीरिक, प्राणिक, मानसिक, चैत्तिक और आध्यात्मिक।

गुरु के सम्बन्ध में योगी अरविन्द का कहना है कि गुरु तो उसे कहेंगे, जो चेतना और आत्मसत्ता के उच्चतर स्तरों तक पहुँच चुका हो और जिसे उस चेतना की

अभिव्यक्ति का प्रतिनिधि माना जाता हो। ऐसा गुरु अपने प्रवचन और उससे भी अधिक अपने प्रभाव और उदाहरण से ही सहायता नहीं करता, बल्कि अपनी अनुभूतियों को दूसरों तक संप्रेषित कर सकने की क्षमता द्वारा भी करता है। एक-दूसरे प्रसंग में वे कहते हैं कि बिना गुरु के भी अतिमानसी रूपान्तरण को प्राप्त किया जा सकता है। प्रत्यभिज्ञाशास्त्र के प्रातिभ ज्ञान से यह समरस है।

योगी अरविन्द के इस दर्शन और पूर्ण योग की हम सांस्कृतिक दृष्टि से व्याख्या कर सकते हैं। बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था को प्रत्यभिज्ञा दर्शन एवं सिद्ध साहित्य ने भी नकार दिया है। जीवन्मुक्त दशा की प्राप्ति ही उनका चरम ध्येय है। एक ही जन्म में मुक्ति की बात को आगमिक शास्त्र की सारी शाखाओं ने मान लिया है। इन सबने मानवमात्र को दीक्षा का अधिकारी माना है और बाह्य कर्मकाण्डों की अपेक्षा आन्तर चित्तशुद्धि पर अधिक जोर दिया है। मालिनीविजयतन्त्र की ऊपर (पृ० ४०, १४३) चर्चा हो चुकी है। इसी अभिप्राय के वचनों से आगम-तन्त्रशास्त्र की विभिन्न शाखाओं के ग्रन्थ और सिद्ध-साहित्य भी भरा पड़ा है। आगे विभिन्न भारतीय भाषाओं के माध्यम से विकसित सन्त-साहित्य के, विशेष कर कबीर जैसे निर्गुणी सन्तों के साहित्य में हमें इस दृष्टि का चूडान्त उत्कर्ष देखने को मिलता है। विश्वदृष्टि और विश्वव्यवहार शीर्षकों में अभी हमने देखा है कि हम अपने मन में पूरी मानवता के प्रति समादरभाव का विकास कर सकते हैं। वैष्णव दार्शनिकों ने शुद्धसत्त्व की स्थिति को स्वीकार किया है। यह स्थिति इस त्रिगुणात्मक प्राकृत सर्ग में भी प्राप्त की जा सकती है। इस स्थिति में मानव राग-द्वेष आदि समस्त क्लेशों से मुक्त हो सकता है। महात्मा गांधी की कल्पना के अनुसार उस स्थिति में राजकीय नियन्त्रण की भी कोई आवश्यकता नहीं रह जायगी।

यदि पूरी मानवता यहाँ तक पहुँच सके, तो उसका आगे का पग दिव्यभाव, अतिमानस सृष्टि की ओर ही बढ़ेगा। क्या यह संभव होगा? अभी तो राम-कृष्ण और बुद्ध-महावीर के उपदेशों की भूमि की मानसिकता शोचनीय स्थिति तक पहुँच गई है। आकाशवाणी, दूरदर्शन और सिनेमा उसको विपरीत दिशा की ओर ही ढकेल रहे हैं।

●

अखण्ड महायोग

महायोग का अर्थ है, अनन्त प्रकार के असंश्लिष्ट और विक्षिप्त भावों का एक सूत्र में संयोजन एवं उनकी तादात्म्य रूप में प्रतिष्ठा। शिव के साथ शक्ति का योग, आत्मा के साथ परमात्मा का योग, एक आत्मा के साथ दूसरी आत्मा का योग, महाशक्ति के साथ आत्मा का योग, लोक और लोकोत्तर का परस्पर का योग, लोकों के साथ लोकातीत का योग आदि सभी महायोग के अन्तर्गत हैं।

काल तात्त्विक दृष्टि से महाकाल और खण्डकाल में विभक्त है। महाकाल अखण्ड और निरन्तर सृष्टिशील है, तो खण्डकाल अतीत, वर्तमान और अनागत रूप से त्रिधा विभक्त है। अनादि काल से यह काल का स्रोत चला आ रहा है। आलंकारिक भाषा में कहा जा सकता है कि यह विचित्र काल-सरिता निरन्तर अनागत से प्रवाहित होकर वर्तमान का स्पर्श करती हुई अतीत के गह्वर में लीन हो जाती है। किन्तु ऐसी भी स्थिति आती है, जहाँ त्रिकाल नहीं। वहाँ एकमात्र नित्य वर्तमान अखण्ड काल विराजमान रहता है। वहाँ सभी वस्तुएँ नित्य प्रकाशमान रहती हैं। किसीका भी परिणाम नहीं होता। इस अखण्ड महाकाल में उपर्युक्त महायोग की स्थिति ही अखण्ड महायोग के नाम से जानी जाती है।

वर्तमान युग में बंगाल के प्रभु जगद्बन्धु, योगी अरविन्द, मेहर बाबा और पांडिचेरी की माँ किसी न किसी अंश में इस महायोग के उपासक रहे हैं। श्री अरविन्द का अतिमानस अवतरण (डिवाइन डीसेंट) इसी महायोग का एक अंश है। प्रभु जगद्बन्धु के 'चन्द्रपात' आदि ग्रन्थों में इसका आंशिक विवरण मिलता है। वस्तुत: अखण्ड महायोग की पूर्णता अमरत्व की प्राप्ति, निराकार प्रेम और अन्ततः साकार प्रेम-साधना में है।

इस योग में अन्ततोगत्वा जगत् का वैचित्र्य रहने पर भी भेद नहीं रहता। एक की प्राप्ति से सबकी प्राप्ति का नित्य संबन्ध लगा रहता है। जगत् की वर्तमान स्थिति में यह नहीं है। एक की मुक्ति से सभी की मुक्ति, एक की प्राप्ति से सभी की प्राप्ति, चाहे वह पूर्ण रूप से हो, चाहे आंशिक रूप से; तभी हो सकती है, जब समष्टि या महासमष्टि की दृष्टि से समग्र जगत् में तादात्म्य प्रतिष्ठित हो।

अखण्ड महायोग की साधना में तात्त्विक दृष्टि से दो वस्तुओं की पूर्ण अपेक्षा है—एक तो मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ प्रयत्न और दूसरा परमात्मा का परम अनुग्रह। मनुष्य के लिए चाहिए—पुरुषकार और एकीकरण। पुरुषकार द्वारा तत्त्वों का लय करना पड़ता है। यह सारा जगत् पृथ्वी से लेकर महामाया पर्यन्त विस्तृत है। प्रथम तत्त्व जितना व्यापक है, दूसरा तत्त्व उससे अधिक व्यापक है। इसी प्रकार अन्तिम तत्त्व सर्वाधिक व्यापक है। व्याप्य तत्त्व से व्यापक तत्त्व में उत्थान का एकमात्र उपाय है—कर्मगत कौशल। दूसरा तत्त्व प्राप्त होते ही उसके मण्डल की अधिगति (प्राप्ति) होती है। अन्तिम तत्त्व तक जाने पर समग्र विश्व उसके अधिकार में आ जाता है। इस प्रकार मनुष्य के श्रेष्ठ प्रयत्न पुरुषकार द्वारा साधक एकीकरण की प्रक्रिया को पूरी करता है।

योगसाधना की दूसरी धारा है—परमेश्वर की महाकरुणा के प्राप्त होने पर अपनी आश्रित सत्ता को अनुगृहीत करना। परमेश्वर की कृपा मनुष्य की कर्मगत या ज्ञानगत योग्यता से नहीं प्राप्त होती। कर्म का फल ऐश्वर्य है और ज्ञान का कैवल्य। ये दोनों महाकृपा के उद्बोधक नहीं हैं। महाकृपा का स्फुरण किसी जीव पर परमेश्वर की

स्वातन्त्र्य शक्ति से होता है। इस कृपा का संचार होने पर मनुष्य में शिवत्व आ जाता है। उस समय वास्तविक दृष्टि से परमात्मा की क्रियाशक्ति काम करने लगती है। उसका पूर्ण विकास होने पर शिवत्व पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो जाता है।

कर्म और कृपा के समन्वय से ही योगी अखण्ड महायोग के मार्ग में आगे बढ़ता है।

अखण्ड महायोग का उद्देश्य है—गुरुकृपा के प्रभाव से काल की निवृत्ति। खंड रूप में यह अनादि काल से होती चली आ रही है, किन्तु उससे समग्र विश्व का सामूहिक कल्याण पूर्ण रूप से निष्पन्न नहीं होता। इसके लिए आवश्यक है कि मोक्षपथ की ओर आरोहण का कार्य समाप्त कर, महाशक्ति के साथ अपना तादात्म्य सिद्ध कर, स्वयं महाशक्ति सम्पन्न होकर योगी महाप्रेम की साधना के लिए इसी संसार में अवतरण करे। इस अवतरण का उद्देश्य है—विशुद्ध प्रेम की साधना। महाकरुणा से प्रेरित होकर बुद्धदेव ने महाबोधि की प्राप्ति हो जाने पर भी निर्वाण में प्रवेश न कर सभी दु:खी जीवों के उद्धार का शिव-संकल्प लिया था। महाप्रेमावस्था के सिद्ध हो जाने पर योगी महाप्रकाशमय हो जाता है। कालसंकर्षिणी शक्ति की क्रिया के पूर्ण हो जाने पर काल तो रहता ही नहीं, अविद्या और माया की स्थिति भी नहीं रहती। काल-राज्य के पूर्णतया निवृत्त हो जाने पर गुरु-राज्य की भी आवश्यकता नहीं रहती।

यही पूर्ण अद्वैत का स्वरूप है, ब्रह्मरूपी आत्मा का अपना स्वरूप है। वह अनन्त प्रकार से आनन्दमय लीला करता है, फिर भी लीलातीत नित्य साक्षी के रूप में प्रतिष्ठित रहता है। उस समय इस प्राकृत जगत् का कुछ भी नहीं रहता, फिर भी सब कुछ रहता है। इस महायोग को 'अखण्ड' इसलिए कहा जाता है कि यह खंडित नहीं होता। प्रत्येक वस्तु के साथ प्रत्येक वस्तु का अभेद प्रतिष्ठित होता है, फिर भी उसका अपना स्वरूप नष्ट नहीं होता।

इस अखण्ड महायोगी की सिद्धि का चरम लक्ष्य है—समग्र विश्व के सामूहिक कल्याण के लिए व्यष्टि रूप से योगविशेष के द्वारा अमरत्व-प्राप्ति के उपरान्त समष्टि या महासमष्टि की दृष्टि से इस सारे जगत् में तादात्म्य प्रतिष्ठित कर क्रमश: निराकार और साकार प्रेम के उन्मेष के माध्यम से जगत् के सर्वविध दु:खों के प्रहाण के साथ अखण्ड आनन्द के आलोक की उद्भावना करना।

श्रद्धेय कविराज जी के इस आध्यात्मिक अखण्ड महायोग को आधिभौतिक स्थूल दृष्टि से अखण्ड संस्कृति के माध्यम से कुछ समझा जा सकता है। आधुनिक जगत् स्वत्व के संकोच के कारण दु:खी है। यह स्वत्व धर्म, राष्ट्र, राज्य, भाषा, जाति, कुटुम्ब, कबीले आदि के नाना प्रकार के विभ्रमों में पड़कर बँटा हुआ है। अखण्ड संस्कृति के माध्यम से इन विभ्रमों को तोड़ पाने के उपरान्त ही अखण्ड स्वत्व का बोध संभव हो सकता है। कविराज जी को पुष्पदन्त के महिम्नस्तव का—

रुचीनां वैचित्र्याद् ऋजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥

यह श्लोक अत्यन्त प्रिय था। सहिष्णुता और समन्वय भारतीय इतिहास की विशेषता रही है। यह प्रक्रिया अब भी निरन्तर क्रियाशील है। त्याग और तपस्या के उच्च आदर्शों से अनुप्राणित साधु-सन्तों की परम्परा परस्पर के स्थूल भेदों को मिटाने में निरन्तर सचेष्ट रही है। योगी अरविन्द, महात्मा गांधी आदि महामानव इसी परम्परा की अलख जगाते रहे हैं। इन्होंने आधुनिक विश्व के वर्तमान धर्मों और विभिन्न वादों के विरोधी दृष्टिकोणों में सहिष्णुतापूर्वक समन्वय स्थापित कर अखण्ड संस्कृति के निर्माण का मार्ग प्रशस्त किया है, जिससे विश्वसमष्टि में इस अखण्ड संस्कृति के आविर्भाव से स्वत्व का संकोच दूर हो और "वसुधैव कुटुम्बकम्" की उदात्त भावना का विकास हो। जहाँ प्रत्येक वस्तु के साथ प्रत्येक वस्तु के अभेद के प्रतिष्ठित होने पर भी अपने स्वरूप के नष्ट होने का कोई प्रसंग नहीं है, वहाँ विश्व के किसी भी वाद, धर्म अथवा संस्कृति के स्वत्व के लोप का भय क्यों उपस्थित होगा?

अखण्ड महायोग के उपासक के स्थूल व्यापार की इतिकर्तव्यता इस अखण्ड संस्कृति के माध्यम से व्यष्टि एवं समष्टि में स्वत्व का विस्तार कर, उसमें विश्व के प्रति भ्रातृभाव का उन्मीलन कर समाप्त होती है। इस प्रकार यहाँ स्वत्व का विस्तार होता है, लोप नहीं। अखण्ड महायोगी के आध्यात्मिक स्थूल चिन्तन में यह स्थूल व्यापार भी निरन्तर जुड़ा रहता है, जिससे कि दुःख-व्याधि-ग्रस्त यह समग्र विश्व अपने स्थूल रूप में भी शान्ति और प्रेम के आलोक से आलोकित हो सके। इसी स्थिति में एक विश्व और एक संस्कृति की स्थापना मूर्त रूप ग्रहण कर सकती है। इसके लिए मानव को सामूहिक नेतृत्व की अपेक्षा है।

•

सामूहिक नेतृत्व

भारत में सामूहिक नेतृत्व का विकास अभी तक हो नहीं पाया है। आज पाँच पूर्व-प्रधानमन्त्री जीवित हैं और वे समय-समय पर अपनी-अपनी डफली और अपना-अपना राग अलापते भी रहते हैं। देश की समस्याओं पर मिल-जुल कर बैठने, उन पर विचार कर किसी एक निष्कर्ष तक पहुँचने की भावना का इनमें विकास ही नहीं हुआ है। देश में दो या तीन राजनीतिक दलों की स्थापना भी इसीलिए नहीं हो पा रही है कि कोई किसी के नियन्त्रण में तो रहना नहीं ही चाहता, वह सब पर अपने ही विचारों को थोपना भी चाहता है। सामूहिक नेतृत्व का इनमें पूरा अभाव है। निम्न श्लोक में इनकी पूरी तस्वीर सामने आ जाती है—

बहवो यत्र नेतारः सर्वे पण्डितमानिनः।
सर्वे महत्त्वमिच्छन्ति तद्व्यक्तमवसीदति॥

प्राचीन गणतन्त्रों के विनाश से संबद्ध यह उक्ति है। जिस गणतन्त्र में ढेर सारे नेता हो जाते हैं, सभी एक-दूसरे से अपने को बढ़-चढ़ कर मानते हैं और सभी अपने वर्चस्व को स्थापित करने में लगे रहते हैं, तो ऐसा गणतन्त्र अवश्य ही कष्ट में पड़ जाता है। आज भारत की भी तो यही स्थिति हो रही है।

भारत में प्राचीन काल में राजनेतृत्व भी वयोवृद्ध विद्वानों एवं तपस्वी मनीषियों से नियन्त्रित रहा है। अब इसका कोई मूल्य नहीं रह गया है। युवाशक्ति के गीत गाये जा रहे हैं, जो पूरी तरह से विपथगामी है और अनियन्त्रित आचरण करता है। शिक्षा के क्षेत्र में भी यही स्थिति है। पहले अनुभवी प्रौढ़ विद्वानों की नियुक्तियाँ होती थीं। अब स्नातक बन जाने के तुरन्त बाद वह विश्वविद्यालयों में भी नियुक्ति पा जाता है। वृद्धजन भी स्वार्थ में इतने डूबे हुए हैं कि देश की उनको नाममात्र की भी चिन्ता नहीं है कि वह किधर जा रहा है।

भारत में ही नहीं, पूरे विश्व में प्राचीन पूजास्थलों का विध्वंस कर बनाये गये नये पूजा-स्थल वास्तव में बर्बरता, असभ्यता, उद्दाम अहंकार, असहिष्णुता और हठवाद के प्रतीक हैं। इनको बिना हटाये विश्व में धार्मिक सहिष्णुता और परस्पर सहयोग एवं सामंजस्य की भावना का विकास हो ही नहीं सकता, विश्व-जनमत को इससे अवगत कराया जाना चाहिए था। यहाँ तो उलटा हो रहा है। अपना-अपना बहुमत जुटाने की धुन में लगे राजनीतिज्ञ देश की अखण्डता और सांस्कृतिक एकता को भी बेच देने के लिए पूरी तरह से तैयार हैं। जातिवाद को उखाड़ फेंकने में लगे ये राजनीतिज्ञ नये वर्ग-विद्वेष को जन्म देकर समाज को उद्विग्नता और नई-नई आशंकाओं से भरते जा रहे हैं।

जहाँ अयोग्य व्यक्तियों का आदर और योग्य व्यक्तियों का अनादर होने लगता है, तब वह समाज और प्रशासन अवश्य ही पतनोन्मुख हो उठता है। दलतन्त्रवादी राजनीतिज्ञों को इस पर गंभीरता से विचार करना चाहिए। इसके लिए आवश्यक है कि समाज में किसी भी स्थिति में योग्य व्यक्तियों का आदर हो, उद्दण्डता तिरस्कृत हो और वृद्ध-जनों का संमान हो। राजनीति में, विशेषकर जनतन्त्र में सामूहिक नेतृत्व अपेक्षित है। अहंकार से भरा भारतीय नेतृवृन्द दो या तीन दलों की शासनपद्धति के संचालन में बाधक है। इस तरफ हमें अविलम्ब ध्यान देना चाहिए। देश में सामूहिक नेतृत्व का विकास हो, यह बहुत आवश्यक है। यह तभी संभव है, जब भारतीय जनमानस में संभूय-समुत्थान की, मिलकर एक मत से देशहित के कार्यों में लग जाने की भावना जग सके। धीरे-धीरे विश्व की पूरी मानवता में इस तरह की कार्य-संस्कृति का विकास होने पर ही, अपनत्व का विस्तार होने पर ही पूरे विश्व में सांस्कृतिक एकता स्थापित हो सकती है।

●

संभूय समुत्थान

सामूहिक नेतृत्व की भावना की अपेक्षा अधिक उन्नत स्थिति है—संभूय समुत्थान की। सामूहिक नेतृत्व की भावना जहाँ नेताओं तक ही सीमित है, वहीं संभूय समुत्थान में जनसामान्य का भी सहयोग अपेक्षित रहता है। यह सहयोग कृष्ण के गोवर्धन-धारण में गोपबालों की लकुटियों जैसा हो सकता है और महात्मा गाँधी के अहिंसक स्वतन्त्रता आन्दोलन जैसा भी। सामूहिक नेतृत्व तब असफल हो जाता है, जब गणतन्त्र के विनाश के कारणों को बताने वाले अभी उद्धृत श्लोक की-सी स्थिति पैदा हो जाती है। भारत में आज इस स्थिति को सर्वत्र देखा जा सकत है। यह माना जाता है कि आजकल जापान में प्रत्येक क्षेत्र में सामूहिक नेतृत्व की तथा संभूय समुत्थान की भावना सर्वाधिक है।

देश में जनतन्त्र के संचालन के लिए दो या तीन दल पर्याप्त हैं। इसके विपरीत आप भारत में देखिए कि यहाँ कितने दल इस देश का उद्धार करने में लगे हुए हैं। इनकी संख्या बढ़ती ही चली जा रही है। नेताओं की अहंभावना के चलते और इन दलों की परस्परविरोधी भावनाओं के शत्रुभाव का स्थान लेते देखकर इनसे क्या आशा की जा सकती है कि इस देश में केवल दो या तीन दलों की शासनप्रणाली का विकास हो सकेगा? इसके लिए तो अब सामान्य जनता को ही आगे आना होगा।

आज से लगभग ढाई हजार साल पहले कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र की रचना की थी। उसमें एक प्रकरण है संभूय समुत्थान। धर्मस्थीय नामक तृतीय अधिकरण के १४वें अध्याय में कर्मकर-कल्प के साथ यह विषय भी चर्चित है। 'संघभृताः' और 'संभूयसमुत्थातारः' इन दो शब्दों की वहाँ चर्चा आई है। 'संघभृताः' की तुलना हम आधुनिक ठेकेदारी प्रथा से एवं 'संभूयसमुस्थातारः' साझा खेती और साझा व्यापार से कर सकते हैं। वेतन लेकर काम करने वालों (कर्मकरों), साझे में खेती करने वालों (कृषकों) और साझा व्यापार करने वाले व्यापारियों (वैदेहकों) के लिए यहाँ कुछ नियम दिये गये हैं। व्यक्ति के बीमार हो जाने पर, अपनी जगह दूसरे प्रतिनिधि को भेज देने पर, किसीके साझा व्यापार से रजामन्दी से हट जाने पर, चोरी करके उसको स्वीकार कर लेने पर यहाँ इस तरह की व्यवस्था बताई गई है कि मिलकर उन्नति के लिए किये गये इस प्रकार के कार्यों में कोई व्यवधान उपस्थित न हो। बिना किसी सूचना के संघ से हट जाने वाले और दुबारा चोरी करने वाले के लिए यहाँ दण्ड की भी व्यवस्था है।

बहुत ही संक्षेप में दी गई इस व्यवस्था की हम देश और काल के अनुरूप व्याख्या कर सकते हैं कि संभूय समुत्थान की भावना का अधिकाधिक विकास हो सके। परस्पर निश्छल विश्वास के आधार पर ही इस तरह की भावना में निखार आ

सकता है। इस निश्छल विश्वास को जगाने और स्थिर करने में इस पूरे प्रकरण का समयानुकूल व्याख्या के साथ विनियोग अपेक्षित है।

भारतीय जनता में संभूय समुत्थान की और नेतृवृन्द में सामूहिक नेतृत्व की भावना के जगाने पर ही यह संभव हो सकता है। यदि समग्र भारतीय संस्कृति के आधार पर इनमें भ्रातृभाव-आत्मभाव का विकास हो सके, तो हम विश्वाहन्ता, विश्वदृष्टि और विश्वव्यवहार प्रकरणों में प्रदर्शित पद्धति से अपने जीवन को देवभाव तक पहुँचा सकते हैं।

हिन्दुत्व, धर्मनिरपेक्षता जैसे असांस्कृतिक शब्दों का बहिष्कार कर हमें धर्मान्तरण की प्रक्रिया से मुक्त, सहिष्णु भारतीय समाज के निर्माण में लग जाना चाहिए और गणतन्त्र में शत्रुभाव को फैलाने वाले राजनीतिक दलों एवं राजनेताओं का बहिष्कार करना चाहिए। राजनेताओं में सहिष्णुता एवं समन्वय की भावना का संचार अपेक्षित है। इसके बिना हम जनतन्त्र में दो या तीन दलों के निर्माण की पहली और प्रधान आवश्यकता को पूरा नहीं कर सकते और उसके अभाव में देश में भावात्मक एकता भी स्थापित नहीं हो सकती। नैतिकता के सभी आयामों से संपन्न भयमुक्त भारतीय समाज ही यह कार्य कर सकता है। तभी हम आसानी से एक विश्व और एक संस्कृति के अपने लक्ष्य की ओर तेजी से आगे बढ़ सकते हैं।

●

उपसंहार

अमेरिका के तत्कालीन राष्ट्रपति रुजवेल्ट के भ्रमणशील दूत मिस्टर वेंडेल विल्की की हमने प्रस्तावना में चर्चा की है। उनकी चर्चा यहाँ हम फिर इसलिए करना चाहते हैं कि एक तरह से इस पुस्तक का नाम उन्हींकी पुस्तक से उधार लिया गया है। मि० विल्की को भारत आने के लिए मना कर दिया गया था और इनकी पुस्तक में भारत और नेहरू का नाम अवश्य है, किन्तु महात्मा गांधी की कहीं कोई चर्चा नहीं है। हमारे लिए इस पुस्तक में कुछ है भी नहीं। रूस और चीन की इसमें विस्तार से चर्चा है। इस प्रसंग में न मालूम क्यों श्री लालबहादुर शास्त्री और पं० दीनदयाल उपाध्याय जी की अकाल मृत्यु हमारे मन में कौंध उठी। हम आधुनिक अमेरिका को यह सुझाव देना चाहते हैं कि वे मि० विल्की की इस पुस्तक के 'एक ही दुनिया' शीर्षक अन्तिम अध्याय को अवश्य पढ़ें। विल्की की अमेरिका को संसार का नेतृत्व करने की सलाह उचित नहीं है, किन्तु वह चल रहा है उसी रास्ते पर। आर्थिक दृष्टि संसार को पतन की ओर ले जायेगी। भारत भी तेजी से उसी ओर बढ़ रहा है। यों उसको ऐसा करना नहीं चाहिए था। विश्वशान्ति का पवित्र उद्देश्य उससे पूरा नहीं हो सकेगा। इसके लिए तो हमें अध्यात्म में प्रविष्ट होना पड़ेगा। पूरी दुनिया के साथ बिना भेदभाव के समग्र सांस्कृतिक दृष्टि का विकास तभी संभव हो सकेगा। यह कार्य भारत कर सकता है। यह तब संभव है, जब अमेरिका का आत्मविश्वास भारतीय जनमानस में भी उद्वेलित हो।

इस पुस्तक को लिखते समय काका कालेलकर की पुस्तक "समन्वय संस्कृति की ओर" हमारे आत्मविश्वास को बढ़ाने वाली रही है। यह पुस्तक हमें अपने कल्याणमित्र प्रो० सत्यप्रकाश मित्तल से मिली। इस पुस्तक के कुछ महत्त्वपूर्ण अंशों को प्रसंगवश हमने यहाँ उद्धृत किया है। उनकी समीक्षा कर लेना हम उचित समझते हैं। एक स्थान पर इन्होंने लिखा है—"हम कहने लगे 'सनातन धर्म' और परदेशी लोगों ने इसको नाम दिया हिन्दू धर्म" (पृ० ९)। वहाँ आगे के पूरे ग्रन्थ में सनातन धर्म शब्द खोजने पर ही मिलेगा, परदेशियों के द्वारा प्रयुक्त शब्द का ही प्रयोग सर्वत्र हुआ है। संस्कृति के साथ भी हिन्दू शब्द जुड़ा हुआ है। हमारी समझ में 'हिन्दू-धर्म की विशेषता' (पृ० ६१-७५) के स्थान पर 'सनातन-धर्म' शब्द का प्रयोग अवश्य होना चाहिए था। यह अच्छा ही हुआ कि कुछ प्रकरणों के शीर्षकों में भारतीय शब्द भी मिलता है। प्रयोग में आ जाने पर गलत शब्दों के प्रचलन को भी रोक पाना कठिन हो जाता है। जैसा कि आजकल 'धर्मनिरपेक्ष' शब्द है। यह अच्छा हुआ है कि काका साहब ने 'सेक्युलर' (पृ० १७७-१७९) शब्द को ही शीर्षक बनाया है।

दुनिया के जिन प्रधान छः धर्मों की इन्होंने प्रारम्भ (पृ० ८-११) में चर्चा की है, उनका संक्षिप्त परिचय हम दे चुके हैं (पृ० ५१)। इसी विषय पर इन्होंने आगे भी

विविध रूपों में अपने बहुमूल्य विचार प्रकट किये हैं। एक जगह वे लिखते हैं कि हर धर्म की अच्छी चीज ग्रहण करना ही पर्याप्त नहीं है, अपनी बुराई को छोड़ना भी आवश्यक है। वे कहते हैं कि इसके लिए ऊपर-ऊपर से परस्परविरोधी तत्त्वों के भीतर भी परस्पर-पोषक समन्वय को देखने की और साधने की वृत्ति की जरूरत है (पृ० १६)। यह बहुत उपयोगी सलाह है। हिन्दू संस्कृति की चर्चा करते हुए वे कहते हैं कि इस संस्कृति में जो परस्पर सहिष्णुता, समझौता और सहयोग है, वह सचमुच अद्भुत है। दुनिया के लिए यह एक अच्छा बोध पाठ भी है (पृ० १७)। गाँधी जी के सर्वधर्म-समभाव की व्याख्या ये "सब धर्मों के लिए एक सा आदर" करते हैं। यही हमें भी अभिप्रेत है, इसकी चर्चा भी पहले (पृ० ५६-५८) हो चुकी है। इस विषय की चर्चा अपनी पुस्तक में वे स्थान-स्थान पर करते हैं।

एक जगह वे लिखते हैं कि अपनी बुद्धि का प्रामाण्य चलाने में खतरा है (पृ० २५)। वे ही अन्यत्र (पृ० ३८) लिखते हैं कि बुद्धि की यह कसौटी पक्षपातरहित, अपवादरहित सभी धर्म-ग्रन्थों पर लागू होनी चाहिए। वे यह भी लिखते हैं कि व्यक्ति-प्रामाण्य, ग्रन्थ-प्रामाण्य और परम्परा-प्रामाण्य के बन्धनों में फँसकर मनुष्य ने बुद्धि-प्रामाण्य और अनुभव-प्रामाण्य को भी गौण किया (पृ० ५८), किन्तु वास्तव में कम से कम भारत में ऐसा है नहीं। इस ग्रन्थ में तर्कशक्ति और प्रातिभ ज्ञान की श्रेष्ठता पर बहुत कुछ लिखा जा चुका है। उनके सहारे अनायास इस समस्या का समाधान किया जा सकता है। बौद्ध धर्म को भुला देने का भारत पर आक्षेप किया जाता है, किन्तु ऐसा आक्षेप करने वाले स्वयं यह भूल जाते हैं कि इस देश में तन्त्रागमशास्त्र को भी पूरी तरह से भुला दिया गया और महाभारत को घर में रखने से इसलिए मनाकर दिया गया कि ऐसा करने से गृहकलह बढ़ जायगा। यही कारण है कि सुधारवादी आन्दोलन बाह्य दुष्प्रचार के आगे नतमस्तक हो जाता है। काका साहब की पुस्तक में भी यह सब देखने को मिलता है।

धर्माभिमानी लोगों के लिए काका कालेलकर कहते हैं कि अपने विचारों से या रिवाजों से जिनका मेल नहीं बैठता, उनके बारे में सहानुभूति रखना उनके लिए कठिन होता है। पूरी शक्ति लगाकर कोशिश करें, तो वे सहिष्णुता तक जा सकते हैं (पृ० २६)। आगे (पृ० ५८) सहिष्णुता शब्द की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं कि कल की इस सहिष्णुता का आज का नाम है—कोएग्झिस्टेंश। एक जगह वह सवाल उठाते हैं कि जब भारत में दुनिया के सब धर्म आकर बसे हैं, तब उनका आपस में सलूक कैसा हो? वे ही इसका उत्तर भी देते हैं कि हर एक के लिए अपना-अपना धर्म अच्छा है। कोई किसी का धर्मान्तर न करे। हर एक को अपनी मर्जी के अनुसार उपासना करने दी जाय। इस प्रकार सहिष्णुता की बुनियाद पर शान्ति की स्थापना की

जा सकती है (पृ० ४५)। यही तो हमने भी यहाँ (पृ० १५५) लिखा है कि दुनिया के सभी धर्मों और संस्कृतियों के अनुयायी भारत में बसते हैं। वे यदि शान्तिपूर्वक यहाँ रहना सीख जाँय, तो अनायास ही विश्वसंस्कृति का मार्ग खुल सकता है।

इस सहिष्णुता की स्थापना के लिए काका साहब ने (पृ० ४५ एवं पृ० ७३) आद्य शंकराचार्य द्वारा स्थापित पंचायतन पूजा का आदर्श दिखाया है। इस प्रसंग में षडायतन, सर्वायतन, निरायतन जैसे शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं। शास्त्रोक्त पंचायतन और षडायतन पूजा का परिचय[1] हमने भी दिया है। यहाँ पंचायतन पूजा का जो क्रम बताया गया है, वह एकदम सही है, किन्तु यहाँ की दो बातें समालोच्य हैं। एक तो यह कि इस पूजा-पद्धति का स्वरूप छठी शताब्दी की रचना के रूप में प्रसिद्ध विष्णुधर्मोत्तरपुराण में भी मिलता है। इसकी विशेष चर्चा हमने अपने ग्रन्थ *"तन्त्रागमीय धर्म-दर्शन"* के स्मार्त-तन्त्रों से संबद्ध प्रकरण[2] में की है। दूसरी समालोच्य बात है एकेश्वरवादी भारत-धर्म की (पृ० ७३)। इस पूरे प्रकरण को ही यहाँ हिन्दू-धर्म और एकेश्वरवाद शीर्षक दिया गया है। यहाँ यह समझ लेना जरूरी है कि पंचायतन पूजा का एकेश्वरवाद से कोई सम्बन्ध नहीं है। कोरा एकेश्वरवाद सेमेटिक धर्मों की देन है। कुछ भारतीय सुधारवादियों ने भी इसको मान्यता दे दी है। इन प्रकरण का उपसंहार करते हुए काका कालेलकर ने लिखा है कि अब इसी आयतन को बढ़ाते-बढ़ाते सर्वायतन तक जाना है। हमारी प्रस्तुत पुस्तक (पृ० ९८-९९) में इसकी प्रक्रिया को भी देखा जा सकता है।

मानव धर्म की चर्चा करते हुए काका कालेलकर लिखते हैं कि अगर सभी धर्मों के एक विशाल धर्म-कुटुंब की स्थापना इस देश में हो सकती है, तो सारी मानवता और सब मानव-समाजों का जिसमें अन्तर्भाव हो सके, ऐसा एक कुटुंब धर्म भी हमारे लिए होना चाहिये। उस कुटुंब-धर्म का मूल सूत्र है—*"उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्"* (पृ० ५१)। वे पुनः लिखते हैं—वही उदारता अगर दुनिया के सभी धर्म हमसे सीख लें, तो उनकी कुछ भी हानि होने वाली नहीं है (पृ० ५४)। अपने ग्रन्थ में हमने इसकी विश्वव्यवहार (पृ० १६१-१६५) के रूप में व्याख्या की है।

इन सब विषयों की चर्चा करने के उपरान्त काका साहब ने विस्तार से हिन्दू, जैन, बौद्ध और सिक्ख धर्म का परिचय दिया है। ये सभी भारतीय धर्म हैं। इनकी परस्पर अनुस्यूतता का यहाँ अच्छा विश्लेषण किया गया है। यहाँ (पृ० ६३) सर्वधर्म-सद्भाव और जीवमात्र की पवित्रता को हिन्दू-धर्म की विशेषता बताया है। भारतीय सुधारवादियों ने वेदान्त दर्शन को हिन्दू-धर्म का प्रधान आधार बताया है। उसीकी आवृत्ति यहाँ भी की गई है। यहाँ भी केवल वेदान्त की ही चर्चा मिलती है (पृ० ६५,

१. "तन्त्रागमीय धर्म-दर्शन" का स्मार्ताधिकार (पृ० ८१७-८१९) द्रष्टव्य।

२. उक्त ग्रन्थ के स्मार्ताधिकार में इस उपपुराण की चर्चा की गई है (पृ० ८१८, ८२९-३०)।

६८, १४५)। इस प्रसंग में यह बता देना जरूरी है कि *"यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्"* इस वाक्य का जैन धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह यजुर्वेद का वाक्य है और इसका विश्लेषण ऊपर के वाक्य के साथ विश्वाहन्ता का परिचय देते समय हम कर चुके हैं (पृ० १५१)। इसी तरह त्रिवेणी-समन्वय (पृ० ८१-८५) प्रकरण में भारतीय धर्मों में समन्वय के बाबत आपने जो कुछ कहा है, वह तन्त्रागमशास्त्र की सहायता से बहुत पहले हो चुका है। इस विषय पर हम पर्याप्त प्रकाश डाल चुके हैं (पृ० १३३)।

बौद्ध धर्म का परिचय देते हुए आप लिखते हैं—"गांधी जी का खयाल था कि बौद्ध धर्म में जो कुछ भी हितकारी उपदेश और दार्शनिक ग्राह्यांश था, उस सबको हिन्दू-धर्म ने हजम कर लिया है। हिन्दू-धर्म ने बौद्ध धर्म को देश से निकाल नहीं दिया, उसे हजम करके अपने अन्दर समा लिया है (पृ० ८७)"। इस विषय में हम अपने विचार अभी ऊपर बता चुके हैं (पृ० १७६)। काका साहब उस संकल्प-वाक्य की दो जगह (पृ० ८९ एवं पृ० १४५) चर्चा करते हैं, जहाँ बुद्धावतार को आदरपूर्वक स्मरण किया गया है। आगे वे लिखते हैं—"बौद्ध, इस्लाम और ईसाई, इन तीन महान् धार्मिक परम्पराओं के पुनर्विचार, पुनर्गठन और नवजीवन की आवश्यकता है। इन धर्मों के पुरोहितों और मिशनरियों से इन धर्मों की पुनर्व्यवस्था और पुनर्व्याख्या नहीं हो सकेगी" (पृ० १७५)। इस सम्बन्ध में भी प्रस्तुत ग्रन्थ में पर्याप्त लिखा जा चुका है। बौद्धों का समावेश हम यहाँ इसलिए उचित मानते हैं कि नवबौद्ध दीक्षा हिन्दू-द्वेष पर आधारित है। ऊपर के संकल्प-वाक्य के विपरीत वहाँ राम-कृष्ण आदि को भूल जाने के लिए कहा जाता है। ईसाई मिशनरियाँ भी तो यही सब कुछ कर रही हैं।

गुरुमत या सिक्ख सम्प्रदाय पर यहाँ (पृ० ९३-१००) बहुत ही सुलझे विचार प्रकट किये गये हैं। गुरु नानकदेव का सादर स्मरण करते हुए यहाँ उन सारी स्थितियों को स्पष्ट किया गया है कि यह धर्म हिन्दू-धर्म से अलग है ही नहीं। उन्होंने सिक्खों की विलगाव की भावना का त्याग कर देने की सयुक्ति सलाह दी है। हम इस पूरे प्रकरण से पूरी तरह से सहमत हैं। गुरु-ग्रन्थ साहब में आई सन्तवाणियों का यहाँ अच्छा परिचय दिया गया है। हमें बताया गया है कि इनमें संस्कृत के श्लोक भी हैं।

काका साहब ने पहले लिखा है कि कोई किसीका धर्मान्तरण न करे (पृ० ४५), किन्तु आगे (पृ० १०१) धर्म-परिवर्तन के प्रसंग में मत-परिवर्तनों के सवाल पर वे वास्तविक धरातल को छोड़कर कुछ आध्यात्मिक बन गये हैं। इस प्रश्न को वे सांस्कृतिक धरातल पर सुलझा सकते थे, जिसमें विचारों की निरन्तरता के साथ उनकी परिवर्तनशीलता की व्याख्या भी सरलता से की जा सकती थी। इस पूरे प्रकरण (पृ० १०१-११४) के साथ सहमति बना पाने में हम अपने को असमर्थ-सा पा रहे हैं।

विश्व-समन्वय (पृ० ११४-११९) एक अच्छी प्रक्रिया है, किन्तु इसका आधार धर्म न होकर, संस्कृति होना चाहिये। आस्तिक-नास्तिक विभाग का आधार धर्म हो सकता है।

सांस्कृतिक दृष्टि में इसका कोई मूल्य नहीं हो सकता। तरुण वर्ग धर्मों को सुधारने की कोशिश भले ही करता रहे, अभिनव सांस्कृतिक समन्वय जैसे गंभीर निर्माण-कार्य में उनका कोई योगदान नहीं हो सकता। हम देखते हैं कि हिन्दुओं को समझाने के लिए सब कोई तैयार रहते हैं, किन्तु वे ही सज्जन अच्छी बातें, नया संदेश ईसाइयों और मुसलमानों तक पहुँचाने की हिम्मत नहीं जुटा पाते। सर्वधर्म-समभाव के कारण गांधी जी यह कार्य नहीं कर सके, उलटे टर्की के खिलाफत आन्दोलन को समर्थन देकर उन्होंने जिना जैसे जिन्न को खड़ा कर दिया। आज गाँधी जी की अपेक्षा जिना को अधिक महिमा-मण्डित करने का षड्यन्त्र चल रहा है। गांधी जी की असफलता का कारण ब्रिटिश कुटिलनीति को माना जा सकता है, किन्तु वह तो किसी न किसी रूप में आज भी कार्यरत है और अब अमेरिका भी उसमें शामिल हो गया। अब तो आणविक विस्फोट की दृढ़ता ही सांस्कृतिक विस्फोट को आगे बढ़ा सकती है।

समन्वय-संस्कृति का उद्गमस्थान भारत को माना जाय, यह तो ठीक ही है, किन्तु यह प्रक्रिया यहाँ बहुत पहले ही प्रारम्भ हो चुकी थी। हमने अपने *"भारतीय संस्कृति के नये आयाम"* नामक ग्रन्थ में संस्कृति-संगम प्रथम एवं द्वितीय का विस्तार से परिचय दिया है। 'संस्कृति-संगम' शब्द का प्रयोग काका साहब ने भी किया है (पृ० १४६)। हम गांधी जी को तृतीय संस्कृति-संगम के प्रवक्ता मान सकते हैं। यह काम अभी नहीं हो पाया है। हमें सभी भारतीय धर्मों के समान ही इस्लाम और ईसाई धर्म को भी इसकी परिधि में लाना होगा। तभी सर्वधर्म-समन्वय (पृ० १५४-१५५) पूरा हो सकेगा।

संस्कृति-समन्वय (पृ० १५६-१७६) शीर्षक के अन्तर्गत यहाँ तीन विषयों पर विचार किया गया है—१. भारतीय संस्कृति क्या है? २. भारतीय संस्कृति की प्रतिभा, ३. एशिया की सांस्कृतिक विरासत। यह पूरा प्रकरण पूरी तरह से उपादेय है, किन्तु भारतीय संस्कृति की दृष्टि से मानवकुल में प्रचलित सभी प्रधान धर्म सही हैं, इसको मान्यता नहीं दी जा सकती। *यह हमें समझ लेना चाहिए कि गलत निष्कर्ष के आधार पर कभी भी सही मार्ग का चुनाव नहीं किया जा सकता।* निरन्तरता और परिवर्तनशीलता संस्कृति का विशेष तत्त्व है। अपने सार्वभौम सिद्धान्तों को बिना त्यागे उपदेय तत्त्वों का ग्रहण इसकी जीवन्तता है। भारतीय धर्मों में यह हुआ है। दुनिया के अन्य सभी धर्मों के विषय में हम ऐसा नहीं कह सकते। इस प्रक्रिया के पूरा होने पर ही विश्वबन्धुत्व की भावना आकार ग्रहण कर सकेगी और यह प्रबुद्ध मानव विश्व-शान्ति की स्थापना में समर्थ हो सकेगा।

साम्यवादियों को और तथाकथित धर्मनिष्ठों को यहाँ (पृ० १८०) एक ही सरीखा बताया गया है। "चतुष्कोणीय संघर्ष" (पृ० २४-२७) शीर्षक प्रकरण में हमने भी

इसे दिखाया है। गाँधी जी के सर्वधर्म-समभाव व्रत के तीन सबूत यहाँ दिये गये हैं— १. खिलाफत, २. पोप का अधिकार और ३. तिब्बती बौद्ध धर्म (दलाई लामा को संरक्षण)। खिलाफत आन्दोलन के विषय में अभी हम लिख चुके हैं (पृ० १७९) और पोप की सारी दुनिया को ईसाई बनाने की घोषणा भी हम सुन चुके हैं। ये तीनों सबूत धर्म से सम्बद्ध हैं। बंगलादेश को स्वतन्त्र होने में हमने सहायता की। परिणाम क्या निकला? इनसे विश्वात्मैक्य की स्थापना नहीं हो सकेगी।

यह कार्य तो *'साम्ययोगमीमांसा'* (पृ० २१३-२१५) में वर्णित साम्ययोग की सहायता से सांस्कृतिक धरातल पर ही किया जा सकता है। भगवद्गीता द्वारा प्रतिपादित साम्ययोग का सुन्दर विश्लेषण प्रो० मुकुटबिहारी लाल जी ने 'साम्ययोगमीमांसा' में किया है। काका साहब खुद भी जागतिक रोग का सांस्कृतिक इलाज (पृ० २२०) सुझा ही चुके हैं। विश्वसंस्कृति के माध्यम से ही यह संभव है। एक विश्व एक संस्कृति का स्वप्न तभी साकार हो सकता है।

यह तब संभव होगा, जब विज्ञान और अध्यात्म में समन्वय स्थापित हो सकेगा। काका साहब का कहना है कि विज्ञान से हमें तीन बातें सीखनी होंगी, तभी समन्वय-दृष्टि विकसित होगी। विज्ञान में व्यक्तिनिष्ठा, ग्रन्थनिष्ठा और वचननिष्ठा का अभाव होता है। वहाँ सत्यनिष्ठा, आत्मनिष्ठा और जीवननिष्ठा मान्य होती है (पृ० २१९)।

काका कालेलकर ग्रन्थ के प्रारम्भ में जिन छ: धर्मों की चर्चा करते हैं, अन्त में भी उनका उल्लेख करते हुए संस्कृत के अहंश्रेयसी शब्द को याद करते हैं। वे कहते है कि अहंश्रेयसी ही दुनिया का सबसे बड़ा सवाल और सबसे बड़ा रोग है। आज दुनिया में यही तो सब जगह चल रहा है। आदमी अपने सिवाय दूसरों को तुच्छ समझता है, आपसी होड़ (स्पर्धा) सब जगह चल रही है। भागवतकार ने इस स्पर्धा को इस तरह से अभिव्यक्ति दी है— *''नैतदेवं यथात्थ त्वं यदहं वच्मि तत्तथा''* (११.२२.५), अर्थात् जो तुम कहते हो; वह ठीक नहीं है, जो मैं कह रहा हूँ, वही सही है। तत्त्वों की संख्या से संबद्ध प्रश्न का उत्तर देते समय यह कहा गया है। इस प्रकरण के अन्त में भागवतकार ने कहा है— *''सर्वं न्याय्यम्''*, अर्थात् ऋषिप्रोक्त होने से यह सब सही है। भारतीय दर्शनों में एक से लेकर इक्यावन तक तत्त्वों का परिगणन हुआ है। जैन आगमों में तो मतवादों की संख्या ३६३ बताई गई है। शैव स्वच्छन्दतन्त्र (१०.६८०-८१) भी इसका समर्थन करता है। जैन ग्रन्थकारों ने भागवत द्वारा चलाई गई समन्वय की प्रक्रिया को अधिक स्पष्ट किया है। वे कहते हैं—

श्रोतव्य: सौगतो धर्म: कर्तव्य: पुनरार्हत:।
वैदिको व्यवहर्तव्यो ध्यातव्य: परम: शिव:॥

यहाँ बौद्ध, जैन, वैदिक और शैव, इन चार धर्मों के प्रति आदरभाव प्रकट किया गया है। भारत में आजकल विद्यमान सभी धर्मों के उदात्त अंशों को भी लेकर हम इनमें

परस्पर सामंजस्य बैठा सकते हैं, यदि हम अपनी-अपनी अहंश्रेयसी को छोड़ने के लिए कटिबद्ध हो जाँय, आपसी स्पर्धा से विरत हो जाँय।

इस प्रकार हमने यहाँ मिस्टर वेंडेल विल्की और काका कालेलकर के विचारों को प्रस्तुत किया है। एक विश्व और एक संस्कृति के निर्माण में मि० विल्की के विचारों की कोई उपयोगिता नहीं हो सकती। उनके विचार आर्थिक जगत् और इस विश्व पर अमेरिकी प्रभाव की स्थापना तक ही सीमित हैं। इसके विपरीत काका कालेलकर के विचारों को हमने अपने मत की पुष्टि के लिए प्रस्तुत किया है। हम देखते हैं कि उनके विचार एक विश्व और एक संस्कृति के निर्माण में अतीव सहायक हैं। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए हमने प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना की है।

इसके बाद हम इस उद्देश्य की पूर्ति में प्रमुख सहायक तत्त्वों की संक्षेप में चर्चा करना चाहते हैं कि थोड़े शब्दों में हम अपने मन्तव्य को समझा सकें। त्रिगुणात्मक प्रकृति में रहने वाला मानव क्या राग-द्वेष आदि दोषों से अपने को मुक्त रख सकेगा? इनके रहते क्या वह एक विश्व और एक संस्कृति के निर्माण की ओर डग भर सकेगा? यह एक प्रमुख प्रश्न है। इसका हमें समाधान खोजना होगा। इसके लिए यह आवश्यक है कि इस पुस्तक की सम्पूर्ण सामग्री का हम बहुत संक्षेप में विश्लेषण करें।

पहले हम उन सामान्य समस्याओं की चर्चा करना चाहेंगे, जिनके विषय में इस ग्रन्थ में जो कहा गया है, उससे अधिक हमें कुछ कहना नहीं है। भारतीय प्रचार-माध्यमों की निराशाजनक प्रणाली का उसमें पहला स्थान है। समाचारपत्र, आकाशवाणी और दूरदर्शन ही नहीं, इन सबके लिए काम करने वाले बुद्धिजीवियों की मानसिकता भी अपसंस्कृतियों के प्रचार से बहुत बुरी तरह से प्रभावित है। हम कह सकते हैं कि पेट्रो-अमेरिकन डालर के तले पूरी दुनिया का प्रचारतन्त्र दबा हुआ है। भारतीय संस्कृति के सही स्वरूप से परिचित होने के बाद ही यह उसके प्रभाव से मुक्त हो सकता है।

सभ्यता और संस्कृति के घालमेल के साथ सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक स्थिति पर भी हम अपनी परम्पराओं से विमुख होकर वैचारिक दलदल में धँसते जा रहे हैं, किसी भी देश की सभ्यता उसकी आर्थिक सम्पन्नता की और संस्कृति आध्यात्मिक उन्नति की सूचना देती है। नृत्य, गीत आदि कलाओं का सभ्यता में समावेश होगा, संस्कृति में नहीं। वर्णों, जातियों को तोड़ने की नहीं, उनमें घुसी ऊँच-नीच की भावना के परिष्कार की अपेक्षा है। सर्वत्र समता-दृष्टि का विकास हो, यह जरूरी है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद किसी समस्या का समाधान नहीं है। यह तो राग-द्वेष की भावना को बढ़ावा ही देता है। श्रमण-ब्राह्मण के समान हिन्दू और मुसलमान शब्द भी परस्पर के कलह को बढ़ाने वाले हैं। पूरी भारतीय प्रजा को किसी एक शब्द से संबोधित किया जाय, यह जरूरी है। जब तक यह नहीं होता, तब तक के लिए

'हिन्दू' शब्द के स्थान पर 'सनातन' शब्द का प्रयोग होना चाहिए, क्योंकि यह शब्द भारतीय संस्कृति की समस्त उदार भावनाओं का प्रतिनिधित्व करता है। भारत में भी आर्थिक उन्नति का आधार सर्वात्मना द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को ही मान लिया गया है। यह उचित नहीं है। अर्थ और काम को हमें धर्म के नियन्त्रण से मुक्त नहीं कर देना चाहिए।

श्रमण-ब्राह्मण की तरह इस देश में आर्य-द्रविड़ की समस्या को उभाड़कर दक्षिण और उत्तर भारत में कलह के नये बीज बो दिये गये हैं। संस्कृत भाषा और भारतीय संस्कृति का विश्लेषण करते हुए हमने इसका समाधान प्रस्तुत किया है (पृ० ८४)। इसी तरह से सेमेटिक धर्मों की अपेक्षा भारतीय धर्मों की विशेषता पर प्रकाश डालते हुए (पृ० ८८) आगे (पृ० ९९) बताया गया है कि तन्त्रागमीय दृष्टि से सभी शास्त्रों का प्रामाण्य स्वीकार किया जा सकता है। भावात्मक एकता के उपादानों की भी यहाँ (पृ० ९८-१०४) विशद चर्चा की गई है, जिनके आधार पर दुनिया के समस्त धर्मों में भी एकता स्थापित की जा सकती है। इतना ही नहीं, (पृ० १०७) के अन्तिम अनुच्छेद में बताई गई पद्धति से हम पूरे भारतीय तत्त्वज्ञान की पृष्ठभूमि में ऐहलौकिक दृष्टि से भी समस्त विश्व के व्यक्तिगत और समाजगत आचारों की समीक्षा कर सकते हैं।

वर्णाश्रम धर्म के प्रतिपादक भारतीय शास्त्रों में गृहस्थाश्रम को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। अन्य तीन आश्रम गृहस्थाश्रम पर ही आश्रित हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ (पृ० ४०-४२) में महाभारत की कुछ कथाएँ दी गई हैं। उनसे गृहस्थाश्रम के महत्त्व पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। ऋषि और मुनि शब्दों का विश्लेषण करते हुए (पृ० ४५) हमने बताया है कि ऋषि गृहस्थ होते हुए भी सभी एषणाओं से मुक्त था। असमय के संन्यास ने इस व्यवस्था को विकृत बना दिया। इस विकृति को दूर करने की आज आवश्यकता है।

इसके अभाव में सहजयोग के माध्यम से हम आगे बढ़ सकते हैं। योगवासिष्ठ सहजयोग का विशाल ग्रन्थ हमारे पास है। कौलज्ञाननिर्णय में सहज तत्त्व को कामकलात्मक माना है। शक्तिसंगमतन्त्र (१.३.७७) में हंस मन्त्र को कामकला कहा है। कौलज्ञाननिर्णय में ही हृदयस्थित प्राणापान-व्यापार (श्वास-प्रश्वास प्रक्रिया) को, जिसका आनापानस्मृति के रूप में पालि-ग्रन्थों में विवरण मिलता है, सहजदेव कहा गया है। हृदय का स्पन्दन सहज, स्वाभाविक रूप से बिना प्रयत्न के निरन्तर चलता रहता है। सिद्ध भी इसी सहज गति से लोक-व्यवहार में लगा रहता है। सिद्धों (सन्तों) की इस सहज स्थिति (समाधि) का वर्णन सन्तों (भक्तों) के भारतीय भाषाओं के साहित्य में भी हुआ है। सिद्धों की इस स्थिति का काश्मीर शैवशास्त्र के ग्रन्थों में अनुपाय प्रक्रिया के नाम से वर्णन मिलता है। इसका एक प्रयोजन रागात्मिका

वृत्ति का परिष्कार भी माना जा सकता है। सहज योग भारतीय मनीषा की एक उत्कृष्ट अवधारणा है। इसकी सहायता से हम विश्वाहन्ता का विकास कर एक विश्वसंस्कृति के निर्माण का पथ प्रशस्त कर सकते हैं।

स्वामी विवेकानन्द ने विश्वमानवता और विश्वभ्रातृत्व की स्थापना पर जोर देकर छुआछूत जैसे सामाजिक भेदभावों के बहिष्कार की सलाह देते हुए ''मातृदेवो भव, पितृदेवो भव'' जैसे उपनिषद्-वाक्यों की तर्ज पर ''दरिद्रदेवो भव, मूर्खदेवो भव'' जैसे वाक्यों की रचना की है। इससे उनका पूरी मानवता के लिए स्नेहभाव झलकता है। इसी तरह के वाक्य ''परस्परदेवो भव'' के आधार पर विश्वदृष्टि के उन्मेष की चर्चा यहाँ (पृ० १५९-१६१) की गई है।

समाजवादी चिन्तक आचार्य नरेन्द्रदेव ने भारतीय संस्कृति के तीन प्रमुख तत्त्वों की चर्चा की है। इनमें तीसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व विश्वभावना है। भारतीय संस्कृति के दो पहलू रहे हैं। एक व्यक्तिवादी, तो दूसरा समष्टिवादी, अर्थात् विश्वजनीन। इन्हींको हम व्यक्तिगतमानस और लोकमानस कह सकते हैं। उनका कहना है कि इस उभयविध मानस के परिष्कार के लिए हम सभी प्राचीन संस्कृतियों के कालातीत तत्त्वों के स्थान पर नूतन नैतिक मूल्यों का समावेश कर एक समग्र विश्वसंस्कृति का निर्माण कर सकते हैं। आचार्य जी संस्कृति को चित्तभूमि की खेती मानते हैं। उनका कहना है कि व्यक्तियों के चित्त के साथ-साथ लोकचित्त के कार्यक्षेत्र का विस्तार भी आवश्यक है। यह लोकचित्त ही राष्ट्रचित्त और विश्वचित्त के रूप में विकसित होता हुआ विश्वसंस्कृति का स्वरूप धारण कर सकता है। स्पष्ट है कि आचार्य जी को संस्कृति की आध्यात्मिक व्याख्या पसन्द थी।

यह कार्य तभी संभव हो सकता है, जब इस्लाम और ख्रीष्ट धर्म अपने संकीर्ण दृष्टिकोण को छोड़कर, धर्म-परिवर्तन की अवांछनीय प्रक्रिया को बन्द कर समस्त जागतिक मतवादों में भारतीय समन्वयप्रक्रिया के आधार पर सहिष्णुता की भावना को जगा सकें। आजकल कुछ व्यक्ति और राष्ट्र धमकी भरी भाषा का प्रयोग कर रहे हैं। इसके रहते समग्र मानवीय संस्कृति, विश्वसंस्कृति का विकास हो नहीं सकता।

इसके लिए तो यह अपेक्षित है कि हम महात्मा बुद्ध की तरह ''एहि पश्यक'' का उद्घोष करे। काका कालेलकर ने पूर्व सूचित अपने ग्रन्थ (पृ० ९१) में लिखा है कि भगवान् बुद्ध का धर्म *एहि पश्यक* धर्म है। इसका अभिप्राय यह है कि हमारे पास आओ, हमारी बात की परीक्षा करो। भगवान् बुद्ध स्वयं भी कहते हैं कि जैसे सुवर्ण के खरे-खोटेपन को कसौटी पर कस कर पहिचाना जाता है, उसी तरह से मेरी बातों को भी परीक्षा के उपरान्त ही ग्रहण किया जाय। उनका यह वचन शान्तिरक्षित के *तत्त्वसंग्रह* में इस प्रकार का उपलब्ध है—

तापाच्छेदाच्च निकषात् सुवर्णमिव पण्डितैः।
परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं मद्वचो न तु गौरवात्॥ (श्लो० ३५७७)

जैन सम्प्रदाय के ग्रन्थ षड्दर्शनसमुच्चयटीका में भी इसी अभिप्राय का यह वचन उपलब्ध है—

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः॥ (श्लो० ४४)

हमारा भगवान् महावीर के प्रति कोई पक्षपात नहीं है और न कपिल मुनि आदि के प्रति कोई द्वेष की भावना ही है। जो भी व्यक्ति युक्तिसंगत बात कहता है, उसे स्वीकार किया जाना चाहिए।

बौद्ध एवं जैन आचार्यों का ही नहीं, वायुपुराण का भी कहना है कि आगमशास्त्र, अनुमान एवं प्रत्यक्ष प्रमाण तथा युक्तियों के सहारे किसी की भी बात की परीक्षा के उपरान्त ही विद्वान् को उस पर विश्वास करना चाहिए। पुराणों में वायुपुराण का विशेष महत्त्व है। छठीं-सातवीं शती के महाकवि बाण के हर्षचरित में इसका उल्लेख है। वायुपराण का मूल वचन इस प्रकार है—

आगमादनुमानाच्च प्रत्यक्षादुपपत्तितः।
परीक्ष्य निपुणं भक्त्या श्रद्धातव्यं विपश्चिता॥ (५३.१२२)

यह वचन लिंगपुराण (१.६१. ६२-६३) में भी उपलब्ध है। वहाँ 'भक्त्या' के स्थान पर 'बुद्ध्या' पाठ है। यह पाठ अधिक संगत लगता है। यह भी ध्यान देने की बात है कि वायुपुराण (१०४.१६, ८१-८२) में ही षड्दर्शन के रूप में ब्राह्म, शैव, वैष्णव, सौर, शाक्त तथा आर्हत दर्शन परिगणित हैं।

यह धार्मिक सहिष्णुता, अच्छी बात को कहीं से भी ग्रहण करने की लालसा ही भारतीय संस्कृति का उज्ज्वल स्वरूप है। दुनिया के सभी धर्मों को इस तरह के विषयों पर ध्यान देना चाहिए। तभी दुनिया में शान्ति का साम्राज्य स्थापित हो सकता है।

वचनों की यह परीक्षा कैसे की जाय? इसके लिए आगमशास्त्र में षडंग योग का प्रतिपादन हुआ है। विभिन्न स्थानों में अनुस्मृति, तर्क, ऊह, वीक्षण (अभिवीक्षण), अपोहन—जैसे शब्दों के माध्यम से तर्कशक्ति[३] को योग के विशिष्ट अंग के रूप में देखा गया है। आचार्य पाणिनि से प्राचीन आचार्य यास्क मुनि ने निरुक्त (१३.१२) में बताया है कि ऋषि-परम्परा के लुप्त होने पर तर्कशक्ति ही ऋषि का कार्य करेगी। ऊपर के उदाहरणों से स्पष्ट है कि निरुक्तकार की इस उक्ति को बौद्ध, जैन और सनातन धर्म में

३. षडंग योग के श्रेष्ठ अंग तर्क के विषय में यहाँ बहुत कुछ लिखा जा चुका है। अधिक जानकारी के लिए नित्याषोडशिकार्णव का संस्कृत उपोद्घात (पृ० ११७-११९) तथा विज्ञानभैरव का हिन्दी उपोद्घात (पृ० ३३-३५) देखा जा सकता है।

भी समादर मिला है। गुरुत:, शास्त्रत:, स्वत: के साथ परत: को भी ज्ञान की प्राप्ति का साधन बताया गया है। योगवासिष्ठ में स्वत: प्राप्त प्रातिभ ज्ञान को इनमें श्रेष्ठ माना गया है। इस प्रातिभ ज्ञान से संपन्न व्यक्ति अपनी तर्कशक्ति के सहारे समस्त धार्मिक उक्तियों की परीक्षा कर उनके त्याज्य अंशों का परिहार और उपादेय अंशों को अंगीकार कर सकता है। विश्वसंस्कृति की स्थापना का यह प्रमुख सहायक तत्त्व होगा।

यह काम वही कर सकता है, जो सामूहिक हित के लिए अपने व्यक्तिगत हित को छोड़ सकता हो। भगवान् बुद्ध ने यह किया था। बोधि-प्राप्ति के बाद उन्होंने प्रतिज्ञा की थी कि जब तक इस संसार में एक भी दु:खी प्राणी है, तब तक मैं निर्माण-लाभ नहीं करूँगा। यह श्लोक बहुत प्रसिद्ध है कि मुझे राज्य की, स्वर्ग की और मुक्ति की भी कोई कामना नहीं है। मैं तो चाहता हूँ कि सभी दु:खी प्राणियों का दु:ख दूर हो जाय—

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दु:खतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्॥

श्रीमद्भागवत (७.९.४४-४६) में प्रह्लाद ने कहा है कि मुनिगण प्राय: मोक्ष की अभिलाषा से निर्जन स्थल में मौन का अवलंबन करके रहते हैं, दूसरे के उद्धार की वे चेष्टा नहीं करते। पर मैं इन दीन अज्ञ लोगों को छोड़ कर अकेले मुक्त होना नहीं चाहता। उन्होंने यह भी कहा है कि मोक्ष के बताये अनेक साधन प्राय: अजितेन्द्रिय पुरुषों तथा पाखंडियों की जीविका के उपाय हैं—

प्रायेण देव! मुनय: स्वविमुक्तिकामा
मौनं चरन्ति विजने न परार्थनिष्ठा:।
नैतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्ष एको
नान्यं त्वदस्य शरणं भ्रमतोऽनुपश्ये॥ ४४॥

....

वार्ता भवन्त्युत न वात्र तु दाम्भिकानाम्॥ ४६॥

बौद्ध आचार्य शान्तिदेव की यह उक्ति भी प्रसिद्ध है—

मुच्यमानेषु सत्त्वेषु ये ते प्रामोद्यसागरा:।
तैरेव ननु पर्याप्तं मोक्षेणारसिकेन किम्॥

अर्थात् प्राणियों के मुक्त होने से चारों तरफ आनन्द की जो लहरियाँ उठने लगती हैं, वही हमारे लिए पर्याप्त हैं। हम अरसिक मोक्ष को लेकर क्या करेंगे? मोक्ष को यहाँ अरसिक बताया गया है। इस पर भी हमें विचार कर लेना चाहिए।

निर्वाण के विषय (पृ० ४७-४८) में एवं बन्ध और मोक्ष के विषय (पृ० ११७-११८) में भी यहाँ पर्याप्त विचार किया गया है। निर्वाण, अपवर्ग, मोक्ष की व्याख्या जब हम

दु:ख-प्रहाण मात्र करेंगे, तो उसका अरसिक होना स्वाभाविक है। मोक्ष के स्वरूप के विषय में भारतीय शास्त्रों में पर्याप्त विचार हुआ है। उनकी संक्षिप्त चर्चा यहाँ की जा चुकी है। अनेक दार्शनिक दु:ख की निवृत्ति के साथ इस अवस्था में आनन्द की अभिव्यक्ति को भी मानते हैं। अन्य दार्शनिकों ने उसकी व्यक्तिगत स्वार्थ में ही गिनती की है। कुछ दार्शनिक बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था को पूरी तरह से काल्पनिक कह देते हैं। काश्मीर के आगमिक दर्शन का कहना है कि व्यक्ति को एक ही जन्म में मुक्ति मिल सकती है। मलपरिपाक, कर्मसाम्य और शक्तिपात के प्रसंग में इस विषय पर भी विचार किया गया है कि साधक इसी जन्म में मुक्तिलाभ कर लेता है, उसको दूसरा जन्म नहीं लेना पड़ता। ऐसे साधक को शास्त्रों में जीवन्मुक्त के नाम से संबोधित किया गया है।

इसी जन्म में अभ्युदय और नि:श्रेयस की प्राप्ति की भी बात हमने पहले (पृ० १०८-११३) कही है और तदनुरूप काका कालेलकर के विचारों को भी प्रस्तुत किया है। शान्तिदेव और श्रीमद्भागवत के अभी-अभी उद्धृत वचनों की याद दिलाते हुए ये इस विषय की चर्चा करते हैं। प्रो० मुकुटबिहारी लाल[४] मोक्ष क्या है ? इस प्रश्न को उठाकर कुछ भारतीय विद्वानों के विचारों को देते हुए समाजवादियों की दृष्टि को प्रस्तुत करते हैं। वे मोक्ष की प्राप्ति के लिए संन्यास-ग्रहण की आवश्यकता नहीं मानते। जनक के उदाहरण से इसकी पुष्टि भी हो जाती है। आगम-तन्त्रशास्त्र में भी इसको महत्त्व नहीं दिया गया है। परलोक की अपेक्षा किये बिना इसी लोक में व्यक्तिगत उन्नति के साथ सामूहिक उन्नति की तथा सभी अभावों से मुक्त समाज की स्थापना के लिए, सामूहिक अभ्युदय और नि:श्रेयस की प्राप्ति के लिए पुरातन और नूतन शास्त्रों में समन्वय स्थापित कर इस उद्देश्य को प्राप्त किया जा सकता है। त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) के समान हम मोक्ष को भी इसी धरती पर उतार सकते हैं।

यह हमें निश्चित रूप से समझ लेना चाहिए कि इस शुभ कार्य को संपन्न करने में सर्वाधिक योगदान उपनिषदों का होगा। हमें आश्चर्य लगता है कि अनेक माननीय न्यायाधीशगण भी अब तक इस तथ्य को हृदयंगम नहीं कर पाये हैं कि विश्व-साहित्य में उपनिषदों का कितना ऊँचा स्थान है। उपनिषदों की बात तो बहुत दूर है, आप स्कन्दपुराण की इस उक्ति से ही अभी परिचित हो लीजिए—

नश्यन्तु दु:खानि, जगत्यपैतु लोभादिको दोषगण: प्रजाभ्य:।
यथात्मनि भ्रातरि चात्मजे वा तथा नरस्यास्तु जनेऽपि भाव:॥

अर्थात् समस्त दु:खों का नाश हो जाय, इस जगत् की सारी प्रजा से लोभ आदि दुर्गुण दूर हो जाँय, व्यक्ति का अपने प्रति, अपने भाई या पुत्र के प्रति जो भाव है, वही सामान्य पुरुष के प्रति भी पैदा हो जाय।

४. साम्ययोगमीमांसा (पृ० १४६-१४८) की विस्तृत टिप्पणी देखिए।

इस भाव के सामान्य जनता में विकास के लिए स्पर्धा से मुक्त समाज की आवश्यकता है। महाकवि मातृचेट ने महात्मा बुद्ध की श्रेष्ठता के कारणों को इस प्रकार गिनाया है—

अकृत्वेर्ष्यां विशिष्टेषु हीनाननवमत्य च।
अगत्वा सदृशैः स्पर्धां त्वं लोके श्रेष्ठतां गतः॥

अर्थात् विशिष्ट जनों के प्रति ईर्ष्याभाव, कनिष्ठ जनों के प्रति अनादरभाव और अपने समान स्थिति वालों के प्रति स्पर्धाभाव का परित्याग करके ही आपने श्रेष्ठता अर्जित की है। वीरशैवमत के पारमेश्वरागम के इस वचन का मातृचेट की उक्ति से अद्भुत साम्य है—

अद्वेष्टारोऽधिके स्वस्मात् स्वसमेष्वनसूयवः।
अतिरस्कारिणो न्यूने वीरास्ते शिवयोगिनः॥ (८.१९)

अर्थात् अपने से अधिक गुणवाले के प्रति द्वेषभाव न रखने वाले, अपने समान स्थिति वाले के प्रति ईर्ष्या (डाह) न करने वाले और अपने से कम गुण वाले का तिरस्कार न करने वाले शिवयोगी वीरमाहेश्वर कहलाते हैं। हम जानते हैं कि असूया (ईर्ष्या=डाह) ही आपस में स्पर्धा को जगाती है। इन श्लोकों में बताई गई पद्धति से अपने आचरण में सुधार करने पर प्रत्येक मानव में इस दृष्टि का उन्मेष हो सकता है कि वह परस्पर एक-दूसरे के साथ आदरभाव को बढ़ाता रहे। प्रो० मुकुटबिहारी लाल ने अपने ग्रन्थ (पृ० १७६) में बताया है कि गांधी जी स्पर्धा की नीति को अनैतिक मानते थे। गांधी जी ने मातृचेट को नहीं पढ़ा होगा। महात्माओं की मनोवृत्तियों में इसी तरह की अद्भुत समानताएँ मिलती हैं। *हमें पूरे विश्व के महापुरुषों की इस तरह की समान अभिव्यक्तियों की खोज करनी चाहिए।* परस्पर के असद्भावों से मुक्ति दिलाने में ये वचन मानवता की बड़ी सेवा कर सकते हैं। काका कालेलकर ने अहंश्रेयसी के रूप में इस विषय की चर्चा की है। भागवत को उद्धृत करते हुए इनके मत का उल्लेख अभी (पृ० १८०) हो चुका है।

प्रत्येक व्यक्ति को अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कुछ प्रयास करना पड़ता है। इस प्रयास को ही दार्शनिक भाषा में *योग* कहा जाता है। प्रस्तुत ग्रन्थ में भी योगी अरविन्द के पूर्ण योग को और महामनीषी कविराज जी के अखण्ड महायोग को चुना गया है। सामूहिक रूप से भी इनका अनुष्ठान किया जा सकता है। इनके अतिरिक्त तीसरा योग भी इस प्रसंग में अवधेय है। वह है विज्ञानभैरव में प्रतिपादित योग। इसमें ११२ धारणाओं (उपायों) का विधान है। इस विश्व का प्रत्येक व्यक्ति अपनी मानसिक सामर्थ्य के अनुसार इनमें से किसी एक उपाय का सहारा ले सकता है। ११२वीं अन्तिम धारणा के प्रतिपादक इस श्लोक को आप देखिए—

मानसं चेतना शक्तिरात्मा चेति चतुष्टयम्।
यथा प्रिये परिक्षीणं तथा तद्भैरवं वपुः॥ १३५॥

इसका अभिप्राय यह है कि संकल्पात्मक मन, चेतनात्मक बुद्धि, प्राणनात्मक शक्ति और इनसे उपहित परिमित प्रमाता—ये चारों जब सब तरफ से विलीन हो जाते हैं, अर्थात् जब ये साधक को चिति के चमत्कारमात्र प्रतीत होने लगते हैं, तब वह भैरव-स्वरूप हो जाता है। इसी पद्धति से यहाँ वर्णित प्रत्येक उपाय का अभ्यास करने वाला भैरव-स्वरूप हो जाता है, अर्थात् इसी जन्म में स्वरूप-लाभ कर लेता है। संसार की समस्त शक्तियों से संपन्न हो सकता है।

योग का सबसे बड़ा अन्तराय है चमत्कार। पांतजल योगसूत्र के विभूतिपाद में अनेक प्रकार की सिद्धियों (चमत्कारों) की चर्चा कर बताया गया है कि ये सिद्धियाँ समाधि की सिद्धि में विघ्नस्वरूप हैं। डॉ० सम्पूर्णानन्द ने अपने योगशास्त्र में विभूतिपाद की इसी पृष्ठभूमि में व्याख्या की है। भारतीय योगशास्त्र में अणिमा आदि आठ सिद्धियाँ प्रसिद्ध हैं। इनको हम पातंजल योग से सम्बद्ध मान सकते हैं। व्यासभाष्य (३.४५) में इनके नाम देखे जा सकते हैं।

इसके अतिरिक्त अष्टसिद्धियों के दो वर्ग और भारतीय शास्त्रों में मिलते हैं। इनमें पहला वर्ग है—खड्ग, अंजन, पादलेप, गुटिका, सूतक (पारद) आदि का। बौद्ध तन्त्र-ग्रन्थ वसन्ततिलक (पृ० ७४) में इनका विशद परिचय दिया गया है। इसीलिए कुछ विद्वान् बौद्ध सिद्धियों के रूप में इनका उल्लेख करते हैं, किन्तु यह उचित नहीं है, क्योंकि नित्याषोडशिकार्णव जैसे प्राचीन शैव-शाक्त तन्त्रों में भी ये वर्णित हैं। इनको हम तान्त्रिक सिद्धियों के रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं।

दूसरा (तीसरा) वर्ग है विष्णुपुराण की टीकाओं में स्कन्दपुराण के प्रमाण से वर्णित आठ प्रकार की सहज सिद्धियों का। तदनुसार सत्ययुग में इनका स्वयं ही उल्लास होता था। यही *रसोल्लास* नाम की पहली सिद्धि है, उसके प्रभाव से मनुष्य को भूख नहीं लगती थी। उस समय की प्रजा स्त्री आदि भोगों की अपेक्षा के बिना ही सदा तृप्त रहती थी, इसीको *तृप्ति* नामक दूसरी सिद्धि कहा गया है। उनका जो उत्तम धर्म था, वह तीसरी सिद्धि *धर्मोत्तमा* कही जाती थी। उस समय संपूर्ण प्रजा के रूप एवं आयु में समानता थी, यही *तुल्यता* नामक चौथी सिद्धि थी। बल की ऐकान्तिक अधिकता *विशोका* नाम की पाँचवी सिद्धि है। परमात्म-परायण रहते हुए तप-ध्यान आदि में *तत्परता* छठी सिद्धि है। अपनी इच्छा के अनुसार *विचरण* सातवीं तथा जहाँ-तहाँ मन की मौज के अनुसार *विश्राम* आठवीं सिद्धि है। सिद्धों में स्वाभाविक रूप से इनका विकास होता है। ये सिद्धियाँ प्रयत्न-सापेक्ष नहीं हैं, अतः इनका सम्बन्ध सहजयोग से माना जा सकता है। विज्ञानभैरव के ७१वें श्लोक में जग्धि और पान से प्राप्त होने वाली

उल्लास, रस और आनन्द दशाओं का वर्णन मिलता है। इनका सिद्धियों में समावेश नहीं किया जा सकता। सिद्धियों (चमत्कारों) के सम्बन्ध में यहाँ (पृ० ४७, ८०, १३७) लिखा जा चुका है। इन त्रिविध अष्टसिद्धियों के अतिरिक्त शक्तिसंगमतन्त्र के चतुर्थ खण्ड के अपने विस्तृत संस्कृत उपोद्घात (पृ० ८५-८७) में ६० एवं ८४ प्रकार की सिद्धियों के उल्लेख के साथ नाना प्रकार की सिद्धियों की नामावली दी गई है। हमारी समझ में ये सिद्धियाँ एक विश्व और एक संस्कृति के निर्माण में भी अन्तराय स्वरूप ही सिद्धि होगी। चमत्कारों से अप्रभावित समाज ही इस शुभ कार्य को आगे बढ़ा सकता है। करिश्मा आजकल की जनता का प्रिय शब्द है। यह चमत्कार का पर्याय ही तो है। इससे भी हमें बचना होगा।

सिद्धान्तागमों की कुछ संहिताओं में दीक्षा का अधिकार अधिक व्यापक हो गया था। काश्मीरी विद्वान् सोमानन्द की शिवदृष्टि में उद्धृत कालपादासंहिता में बताया गया है कि श्वपचों को भी दीक्षा दी जानी चाहिए। वीरशैवमत के आचार्य श्रीकर ने अपने ब्रह्मसूत्रभाष्य में मानवमात्र को दीक्षा का अधिकारी माना है। मुकुटसंहिता में तो स्पष्ट ही बताया गया है कि पुण्य-पाप की दृष्टि से ब्राह्मण-चांडाल आदि जातियों की व्यवस्था नहीं बन सकती, क्योंकि हम देखते हैं कि चांडाल भले काम में लगा हुआ है और ब्राह्मण पतन की ओर उन्मुख है। मुकुटसंहिता आदि के इस तरह के अनेक श्लोक कश्मीर (उत्तर भारत) और चोल देश (दक्षिण भारत) के आचार्यों ने अपने-अपने ग्रन्थों में उद्धृत किये हैं। दक्षिण भारत के शैव-वैष्णव भक्तों तथा उत्तर भारत के सिद्धों, नाथों और सन्तों की परंपरा में जाति, धन, विद्या आदि की अपेक्षा चरित्र को वरीयता दी गई थी और इसीके आधार पर एक नई सामाजिक दृष्टि का उन्मेष हुआ था। जातिग्रह, विधिनिषेध जैसे इन उपादानों का वर्णन हमने अपने ग्रन्थ *''भारतीय संस्कृति के नये आयाम''* में प्रकाशित *''काश्मीर शैवशास्त्र की सामयिक उपयोगिता''* (पृ० ४८-५७) शीर्षक निबन्ध में किया था। उसके आधार पर भारतीय समाज-व्यवस्था में पर्याप्त संशोधन किये जा सकते हैं। स्वाभाविक रूप से ये निरन्तर गतिशील हैं भी।

नूतन सामाजिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि के विस्तार के लिए परमाणु-अस्त्रनिषेध सन्धि को अमान्य करने की अथवा परमाणु-विस्फोट के समय पूरे विश्व के प्रचार-तन्त्र को ही नहीं, देश के भीतर के विरोधी वातावरण को भी नकार देने की जो दृढ़ता दिखाई गई थी, उसी की आज अपेक्षा है। हम सही रास्ते पर हैं, तो केवल देश-विदेश के प्रचार-माध्यमों से अभिभूत हो उसे छोड़ना नहीं चाहिए। आज का प्रचार-तन्त्र भारतीय संस्कृति को सबल करने वाले प्रत्येक कार्य का विरोध करेगा। मन्दिरों को तोड़कर बनाई गई मस्जिदें ऐसा ही मसला है। यह निन्दनीय कार्य पूरे विश्व में हुआ है। इनको हटा देने का कार्य यदि शान्तिपूर्वक हो सके, तो वह मध्यकालीन असहिष्णु

मानसिकता को दूर करने में सहायक होगा। तभी धर्मान्तरण की गति भी थमेगी और समग्र भारतीय संस्कृति, अथ च विश्वसंस्कृति के निर्माण का पथ भी प्रशस्त होगा।

चन्द्रगुप्त मौर्य जैसे महान् सम्राट् के प्रधानमन्त्री विष्णुगुप्त चाणक्य के विषय में एक कथा प्रसिद्ध है कि जब यूनान का राजदूत उनसे मिलने गया, तो वे सरकारी दीपक जलाकर प्रशासनिक कार्य निपटा रहे थे। राजदूत के आने पर उन्होंने सरकारी दीपक बुझा दिया और अपना निजी दीपक जला लिया। यह निजी दीपक आज बिजली की रोशनी में खोजने पर भी कहीं नहीं मिलेगा। आज तो सरकारी काम-काज को त्वरित गति से निपटाने के लिए मिला वाहन पूरे परिवार की निजी सम्पत्ति बन गया है।

उपनिषदों की अभी हमने चर्चा की है। इनको अभी न्यायालय में घसीटा गया था। भारत की एक हजार वर्ष पहले की हर एक बात को लेकर भगवाकरण, सांप्रदायिकता, फंडामेण्टलिस्ट, प्रतिगामी जैसे शब्दों का प्रयोग कर उसका मजाक बनाया जाता है। सेमेटिक धर्मों के अनुयायी यह सब करें, तब तो बात समझ में आती है, किन्तु सुधारवादी आन्दोलन से उत्प्रेरित बुद्धिवादी विगत ढाई हजार वर्ष के अवदानों को नकार देते हैं और उससे भी दो-ढाई हजार वर्ष पहले के उत्कृष्ट वैदिक अवदानों को झुठला देना आज का फैशन-सा बन गया है। वैदिक वर्णाश्रम-व्यवस्था को आज दुनिया की सबसे निकम्मी चीज मान लिया गया है। ब्राह्मणवाद और मनुवाद जैसे कालातीत शब्दों का प्रयोग कर उनको पुन: जिलाने की रात-दिन मेहनत की जा रही है, किन्तु इसमें वे सफल नहीं हो सकेंगे, क्योंकि घनघोर असत्य, विरोधी प्रचार के बावजूद भारत का यह तपका दुनिया के सबसे सहिष्णु मानव के रूप में अपने को प्रतिष्ठित किये हुए है। इस तपके को तो बार-बार सहिष्णुता को न छोड़ने की सलाह दी जाती है, किन्तु *भारत में बसने वाले प्रत्येक मानव को इस भारतीय सहिष्णुता को स्वीकार करने के लिए नहीं कहा जाता।*

भारतीय संस्कृति और यहाँ के मूल निवासियों को लेकर किये जा रहे मिथ्या दुष्प्रचार को दूर करने का हमने भरसक प्रयत्न किया है और अपनी सही समालोचना को स्वीकार करने में भी यहाँ कोई परहेज नहीं किया गया है। *पूरी भारतीयता को यह ग्रन्थ इसलिए समर्पित है कि सभी धर्मों के अनुयायी जन यहाँ बसते हैं। वे यदि शान्तिपूर्वक यहाँ रहना सीख जाय, तो अनायास ही विश्वशान्ति का और एक विश्व एवं एक संस्कृति के निर्माण का पथ प्रशस्त हो सकता है।*

●

विषयानुक्रमणी

अखण्ड महायोग १६८-१७१
अखण्ड संस्कृति १७१
अगस्त्यसंहिता १३३
अघोरशिव ११४-११५
अंकगणित २२
अंकविज्ञान ८७
अंकोरवाट २२
अतिथि सत्कार ४१-४२
अतिमानसी (शक्ति) १६६
अतिमानसी (सृष्टि) १६७
अथर्ववेद १८
अद्वयवज्र ११०, १३३, १४५
अनुग्रह १६९
अनुत्तर पूजा १४४
अनुदार दृष्टि ११,६६,९३
अनुपाय (सहज) १४१, १८२
अनुशासन पर्व ११२
अनेकान्तवाद ५७
अपवर्ग ११३
अपसंस्कृति ८, १७, ९५, १११, १८१
अभिनवगुप्त २६, ९०, ९५, ९८-९९, १२४, १३३
अभ्युदय १०५-१०६, ११२
अभ्युदय और नि:श्रेयस १०८-११३, १८६
अमृतपुत्र १६३
अमेरिका १७५
अम्बेडकर ६०
(योगी) अरविन्द ९४, १६५-१६८
अर्थशास्त्र १७३
अलईपुर (स्टेशन) ३४
अलबेरुनी २३, ९७
अल्पसंख्यक २३, २९
अवस्था (लय आदि) १११
अविरोधाध्याय २७
अश्वघोष २९
असम १३८
असहिष्णुता ९, २९, ३८-४२
अहन्ता १२५, १५२
अहंश्रेयसी १८०, १८१, १८७
अहिनकुलम् ५४
अहिर्बुध्न्यसंहिता १२७
अहिंसा ९५
आगम ९८, ९९
आगम और तन्त्र (अभिन्नता) १२२
आग्रह (अष्टविध) ३८, १४५
आचार (लोक-व्यवहार) १०६
आजीवक ६२, १५६
आतंकवाद (जेहादी) २८, ४४
आतिमार्गिक १३१
आत्मघात २७-३०
आत्मदाह १८
आत्मविश्वास १७५
आत्मसमर्पण ५८
आत्मसंमान ७७
आत्मेश्वरवादी ५७
आत्मौपम्य १०३, १६२
आध्यात्मिकता १०६
आनन्द ११३-११४
आयतन (विविध) ९८-९९, १७७
आयोग (अल्पसंख्यक) ५, १८, ३४
आयोग (मानवाधिकार) ५, १८, ३४, १६४
आर्थिक दृष्टि १७५, १८२
आर्य ३४, ५३
आर्य-द्रविड़ ७१, ८३, ८६, ९६, ९८, १२७, १३३, १८२
आर्यसत्य (दो) ६०

आर्यसत्य (चार) ११०
आर्यसमाज १५६
आर्हत (जैन) ११४, ११७
आश्रयपरावृत्ति १३०
आस्तिक-नास्तिक १३१
इन्द्रियप्रीणन १३
इष्टकालेख ११
इष्ट और पूर्त १००
इसराइल ८५
इस्लाम २८, २९, ३४, ४३, ९६, १५८
ईजिप्ट (मिस्र) १, ३
ईराक (मैसोपोटामिया) ११, २४
ईरान ११, २१, २४, ८५
ईसाई (प्रजा) २३, २४
ईसाई (मिशनरी) १६-१९, २८, ५९, ६०, ९६, १७८
उदार दृष्टि (परम्परा) १२, १३, ४६, ६६, ९३, ९८
उपनिषत् ३३, ६३, ६५, ६७, १२०, १२७, १८६, १९०
उपनिषद् गोष्ठी २०
उपाय (तीन या चार) १४१
उपेक्षा ५७, १४४
उमास्वाति (स्वामी) ८०
उर ११
उलटवासी (छुम्मा=सन्ध्याभाषा) १४१
ऊँच-नीच ६०, १८१
ऋग्वेद ११, २१, २२
ऋषभदेव ११, ६४
ऋषि (गृहस्थ) ६४
ऋषि-परम्परा ६४
ऋषि-मुनि २, ४५, १८२
एक राष्ट्र, एक संस्कृति, एक भाषा ८१-८४
एक ही दुनिया १७५
एकेश्वरवाद(दी) ७०, ७१, ९१, १७७
एहि पश्यक १८३
ऐहलौकिक १०५-१०७
ओटो श्रादर १२७
औपनिषद ६०, ८२
कंग्युर-तंग्युर ३७
कपिल ९९
कबीर १३, ६५
(सन्त) कबीर के प्रेरक तत्त्व १४१-१४३
कम्बोडिया २२
कम्युनिज्म(स्ट) १६, २१, २४, ३१, ४५, ५७, ७०, ९६
कर्मकाण्डक्रमावली १००
कर्मसाम्य ११२, ११६
कलिकाल ४७, १०६
कलिवर्ज्य ६४, १०६
कल्चर (संस्कृति) ९३-९४
कल्याण (मासिक) ३०
कश्मीरी पंडित ३२
(डॉ०) कान्तिचन्द्र पाण्डेय १३५
काम ४८
कामकला १३७, १८२
कायपूजा १३०, १४५
कायावरोहण (कारवण) १५६
काल १६९
कालगणना (चान्द्र-सौर) २२
कालचक्रयान १३५
कालपादा संहिता ९०, १०२, १८९
कालसंकर्षिणी १७०
कालसरिता १६९
कालिदास १२, २६, ३१
(काका) कालेलकर ४८, ५१, ५९, १७५-१८१
कुटिलनीति १२, १६, २३, ८४, १६४, १७९
कुमारिल भट्ट २०, १०१, १३४

कुरान ४३
कूरेश १३२, १३३, १४३
कृतान्तपंचक १२, ८९, ११९, १२०
केपिटल ७४
कौटिल्य १७३
कौल १३, २८, १३०, १३५
क्रमदर्शन (शाक्त) १६५
क्षणिकवाद(दी) ५७, ९९
क्षेमराज १२४
खगोल विद्या २२
गंगासागर २६
गणतन्त्र १७२
गब्बर माता ३८
गाण्डीवम् १११
गाँधीवाद(दी) ३०, ३१, ५९
गुह्यपूजा १३६
गृहस्थाश्रम १४९, १८२
गोधरा काण्ड ३४, ४३
(म०म०) गोपीनाथ कविराज ९४
गोरक्षनाथ १२१, १३६
ग्रीक (यूनानी) १, ३, ७८
चतुर्ब्रह्मविहार ५७, १४४
चतुर्व्यूह(वाद) १००, १३३
चतुष्कोणीय संघर्ष २४-२७, १७९
चन्द्रगुप्त मौर्य १९०
चमत्कार (करिश्मा) १८८, १८९
चरक-सुश्रुत २०
चार्वाक ६९, ८५, ११४
चिकित्साशास्त्र १०८, १०९
चितिशक्ति १५२
चित्त प्रभास्वरता ४०, ८०, १०४, १३८
चीन १, २५, ३४, ५१, ७५
छान्दोग्य उपनिषद् १०२-१०३
छुआछूत ६०, १८३
जन्मदिन (तिथि) २१, ३०
जयन्ती २१
जयरथ १४७
जरथुष्ट्र (धर्म) ८५, १६४
(पं०) जवाहरलाल नेहरू २३, ३५, ३७
जातिग्रह ३८-३९, १४५
जीवन्मुक्त(क्ति) ४७, १४५, १६८, १८६
जे० गोण्डा २५
जेन्दावेस्ता ३, ११, २१, २२, ८५, १५५
जैन (तन्त्र, दृष्टि) ९५, १३१, १८०
ज्ञान (पवित्र) ६, १०७
ज्ञानकर्मसमुच्चय १२१
ज्ञान-संक्रान्ति ९८
तत्त्वार्थसूत्र ८०, १४४
तन्त्रशास्त्र (विविध) ५४, ८८-९२, १२२-१२५, १४३-१४७
तरतमभाव (शास्त्रों में) १३२
तर्क ५८, ६५, १२३, १४६, १७६, १८४
तसलीमा नसरीन ८
तान्त्रिक (साहित्य) १२६, १२९
तिथि-परिवर्तन ३०
तिब्बत(ती) ३७, ५९
(लोकमान्य) तिलक ५०
(सन्त) तुलसीदास ९८
त्याग-तपस्या ८२
त्रिवर्ग १८६
त्रिवेणी-समन्वय १७८
थिंक टैंक ७२
दधिमती शिलालेख १०१
(स्वामी) दयानन्द ११
दर्शन, धर्म तथा समाज ५, ५३
दलतन्त्र १७२, १७३
दाराशिकोह ९७, १५८
दिगम्बर १५०
दिलीपसिंह(धर्मपरिवर्तन) ३६
दिव्य भाव १६८

दीक्षा का अधिकार १०२, १८९
(पं०) दीनदयाल उपाध्याय १७५
दुराग्रह २७, ३८-४२, ९७
दुर्गासप्तशती १०१
देवतावाद ८५
देशजोड़क ३३-३४
देशतोड़क ३३-३४, ३६
द्रविड़ाचार्य ७१
द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद १३, २५, २८, ३२, ६५, ६७, ७४-७५, ९६, १४९, १८२
धम्मपद १२
धर्म ७, १६, २१, १७५-१७६
आत्मतुष्ट ५१; आध्यात्मिक ४९; कर्मकाण्डीय ५१-५३; निवृत्ति ५२; प्रधान ४७, ४८; प्रवृत्ति ५२; स्पर्धालु ५१
धर्म और संस्कृति का अन्तर ७७-८१, ९७
धर्मकीर्ति १३३
धर्मनिरपेक्ष (राज्य) १६, ६७-७४, १५६, १७५
धर्मनिरपेक्षता (सेक्युलरिज्म) १८, २१-२२, ६७-७४
धर्मनिष्ठ १७९
धर्मपरिवर्तन (धर्मान्तरण) १९, २५, ३०, ५८-६७, १७६, १७८
धर्मस्थल ८
धर्माध्यक्ष ३१, ४२-४६
धर्मों और संस्कृतियों का संघर्ष ७-१३
धारणाएँ (११२ उपाय) १८७-१८८
नरसी मेहता ६४, १५७
(आचार्य) नरेन्द्रदेव ३७, ३८, ६२, ९३, १०३, १५३, १८३
नर्मदा (नदी) १५९
नव बौद्ध ५९, ६१, १७८
नव वर्ष ७२
नाथ १३५, १३६
(गुरु) नानकदेव १७८
नारायणीयोपाख्यान १००, ११९, १२०
निगम ९८, ९९
निगमागम विवेचन ९८-१०४
निरुक्त ५८, ६४, १८४
निर्वाण ४७-४८, ११३, ११४, १८५
निष्क्रमण ६०
नि:श्रेयस १०५-१०६, ११३
नीतिशास्त्र ८५, ८८
नूतन दृष्टि का उन्मेष १०५-१०८
नेकटाई ३६
नेत्रतन्त्र ४७, १०६
नेहरू-संस्कृति ७०
नैतिकता ४९-५१, १११
नैमिषारण्य २०
न्याय-वैशेषिक १०९
पक्ष-विपक्ष (मित्र-शत्रु) २७, ११२
पंचतत्त्व १४०
पंचतन्त्र २२, ७२
पंचायतन पूजा २६, ५७, ६३, ८९, १०१, १७७
पत्रकार २३, ४४
पत्रकारिता (अंग्रेजी) ३४
परमतत्त्व १५२
परमव्योम ११३, ११५
परमाणु-विस्फोट १८९
परार्ध ३०
परिमिताहन्ता ५७, १२५
परीक्षा ७९
पांचरात्र (वैष्णव धर्म) १२६, १२७
सत्र १२६; संहिताएँ १००
पांचरात्राधिकरण ११९
पारमेश्वरागम १४, २५, १८७
पारलौकिक १०५-१०७

पारसी ११, १५, २८, ५९, ९५
पाश (अष्टविध) ३८, १४५
पाशुपत (शैव मत) १२६
पाशुपत योगाचार्य १२८, १५९
पार्श्वनाथ ११, ११९
पिण्ड-ब्रह्माण्ड १४५
पुराण १००-१०२, १२६
पुरुषकार(वाद) १०७, १६९
पुरुषार्थ (चार) ४७-४८, १११, ११२
पूजास्थल १७२
पूर्णप्रमाता १५२
पूर्णयोग १६५-१६८
पूर्णाहन्ता १५०
पेट्रो-अमेरिकन १८१
पोप जानपाल द्वितीय १७, २३, ४३
पौराणिक १२७
प्रकाश-विमर्श १४५
प्रकृति (त्रिगुणात्मक) १६७, १८१
प्रगतिशील और प्रतिगामी ३०-३३
प्रचार तन्त्र २५, १८१
प्रच्छन्न बौद्ध ६३
प्रतिष्ठातन्त्र १००
प्रतिष्ठालक्षणसारसंग्रह १००
प्रत्यभिज्ञा दर्शन ८३, ८४, १४५, १४८, १६७
प्रत्यभिज्ञा शास्त्र ९५, १३७, १६८
प्रत्येक बुद्धयान ११०
प्रपंचसार ६३
प्रभाकर भट्ट (गुरुमत) १३४
प्रलयाकल १६७
प्रसिद्धि ९८
प्राणापानव्यापार (आनापानस्मृति) १३७, १८२
प्रातिभ ज्ञान ९९, १४६, १४७, १६८, १७६, १८५
प्रादुर्भाववाद १००
प्रार्थना सभा ५७, ८४
प्रीति ११३
बंगलादेश १२
बन्ध-मोक्ष ११३, ११७-११८, १२५, १८६
बर्थ डे १७, २१
बर्बरता (मध्यकालीन) ३६, ५७
(प्रो०) बलराज मधोक १९, ५३
बहादुरशाह जफर ९७
बहुधर्मी ५९
बाइबिल ६६
बाण भट्ट १०१, १६१
बाधक तत्त्व ७, ९५-९६
बाबरी ढांचा २९, ३०, ९६
बुके १७
बुद्ध(देव) ६२, ९९, १३३, १५८
बुद्धचरित २९
बुद्धावतार १२, १७८
बुद्धिजीवी २६-२९, ३१, ३२, ९१, १८१
बुद्धि-प्रामाण्य ५८, १७६
बृहत्तर भारत १०, २९
बृहत्संहिता ९९
बृहन्नारदीय पुराण १००
बृहस्पति १२, ८५
बेबीलोनिया २४
बोधि १०८
बोधिसत्त्व ११०
बोरोबुदर २२
बौद्ध तन्त्र १३०-१३१, १३५, १४७, दीक्षा ६१, १७८; दृष्टि ९५; धर्म २३, ५९, ६२, ६४, ७१, ९१, १७६, १७८; भिक्षु ६०; सिद्धियाँ १८८; संस्कृति ६१
ब्रह्मवाद ६२
ब्रह्मसूत्र ११, २७, ९३, १५१

ब्राह्मण (वाद) ५५, १९०
भक्तमाल १३९
भक्ति-आन्दोलन १३८-१४१, १४३
भक्ति-धारा १३५
भक्ति-सम्प्रदाय ७१, १३३, १३४, १३८,
भगवद्गीता ३०, ६६, ९१, १४८
भगवाकरण ३४, ९७, १९०
भर्तृहरि १६१
भवभूति १०, ६७, १३४
भागवत (मत) १२७
भागवत (पुराण) २८, ५२, १५८, १८०, १८५
भाग्यवाद १०६
भारत १, २१, १७५
भारत और चीन ३७-३८
भारती प्रजा ४५, ५७
भारतीय २५, ५५, ७३
भारतीयकरण १९-२०, ५३, ९७, १५८
भारतीयता २५, ५३, ५७
भारतीय पंचांग ३०
भारतीय परम्परा ५८
भारतीय मुसलमान ३३-३७
भारतीय संस्कृति १५३, १५९, १६४, १८४
भारतीय संस्कृति का समग्र स्वरूप ९२-९८, १५५
भावना पद्धति १३९
भावात्मक एकता २०, ६२, ८१, ९८-१०४, १७४, १८२
भास्कराचार्य ११७, १३३
भृगुकच्छ (भड़ौच) २२
भैरव-स्वरूप १८८
भोग (विविध) ९१, १११
भोग-मोक्ष ८०, १११, ११३-११७
भोगवाद ६५
भ्रमराम्बा १०१
(डॉ०) मंगलदेव शास्त्री ९२
मतवाद (३६३ संख्या) ९
मत्स्येन्द्रनाथ (मीननाथ) १३०, १३५, १३६
मनसा देवी १०१
मनुवाद १९०
मनुस्मृति ४९, ६०, ७७, १०३, १५६
मन्त्र ११६
मन्त्रनय (यान) २९, ३०, ११०, १३३, १५०
मन्त्रवाद ४७
मलपरिपाक ११६
महाकरुणा १२
महात्मा गाँधी ५०, ९५, १७५
महाभारत १२, ९०
महाभारत (उपाख्यान) ४०-४२, १०३
महायान २९, ३०, ११०
महायोग १६८, ११७
महाविभूति ११३, ११७
महावीर (तीर्थंकर) ११, १३३
महासुख ११३
महिम्नस्तोत्र २५, ११९, १७०-१७१
महेश्वरानन्द ९०
मातृचेट १६०, १८७
मानसिकता २५, १८१, १९०
मायावाद १३३, १३४
मालिनीविजयतन्त्र ४०, १४३, १६८
मिथ्याभिमान ९१
मिश्र तन्त्र १३०, १३२
मिस्र (ईजिप्ट) २१
मीमांसाशास्त्र ९४
(प्रो०) मुकुटबिहारी लाल ९५, १४९, १५४, १८६
मुकुटसंहिता ९०, १८९
मुक्ति (एक जन्म में) ११२-११३, १४५, १६८

मुस्लिम २४, ९५
मूर्तिपूजा १४३
मेसोपोटामिया (ईराक) ११, २४
मोक्ष ४७, ४८, ५०, १०५, ११३, ११८, १४९, १८५ (अरसिक), १८६
मोक्षधर्म (महाभारत) ३९
मोक्षमार्ग ८०
मोहेंजोदड़ो ११, १२, १५६
यरूसलम १९
यवन (ग्रीक) १, ३, ७८
यहूदी १५, २९, ५९
युवा शक्ति १७२
यूनान (ग्रीस) २१, २२, १०४, १०५, १९०
योग १२०
अष्टांग १२१; कर्म १४९; कुण्डलिनी १२१; ध्यान (त्रिविध) १२१; सहज (अकृतक) १२१, १५२, १८३; सेक १२१, १३०, १३७, १८२; हठ १२१, १३०, १३७
योगवासिष्ठ १४७, १४८, १८२, १८५
योगशास्त्र (भाष्य) १०९, १५३
योगसूत्र (दर्शन) २२, १२०-१२२
योगाचार्य १२३
रत्नाकर-महोदधि १९
रविदास १३, ६५
(कवीन्द्र) रवीन्द्रनाथ टैगोर ३५, १५१
रहस्यवाद ४२, ६०, ६२, १३९, १४१
राग-द्वेष ५७
(प्रो०) राजाराम शास्त्री ५, ५३
(पं०) रामबालक शास्त्री १११
रामानन्द १३२-१३३, १४३
रामानुजाचार्य १३२
राष्ट्रद्रोह ७६
राष्ट्रवाद ७४
(भदन्त) राहुल सांकृत्यायन १०, ३८
रूपान्तरण १६६
रूस (कम्यु०) ७५
रेखागणित २२
रोम(न) १, ३, २१, २४, ७८, १०५
लकुलीश पाशुपत १२३, १२८, १५६
(प्रो०) लल्लनजी गोपाल ११९
लालबहादुर शास्त्री १७५
लोकनाथ (शान्तात्मा) १२, ६४
लोकराज्य (सेक्युलर स्टेट) ४३, ६९, ९६
लोक-व्यवहार १८२
लोकायत (चार्वाक) १२, १५६
लोकैषणा २३
वज्रकठोर २३
वज्रयान ६२, ८९, ११०, १३३, १३५
वज्रौली १२१
वन्दे मातरम् १८
वराहमिहिर ६, १३, ८७, ९९
वरिवस्या (आन्तर पूजा) १४४
वर्गसंघर्ष ६५
वर्णाश्रमव्यवस्था २८, ४५, ५८, ६३, ६४, ९१, १३२, १९०
(सरदार) वल्लभभाई पटेल ३७
वल्लालसेन ८९, १२४
वसु उपरिचर १२६
(मौलाना) वहीदुद्दीन खाँ १७, २८
वानप्रस्थी १८
वामनपुराण १२८
वामियान २९, ३१
वायुपुराण ६४, १०१, १०२, १८४ पु
वासुदेव १३३
(प्रो०) वासुदेवशरण अग्रवाल ११
विकल्प (चित्तवृत्ति) ६१, ७१, १४१
विकासवाद १०५, १०७
विकृत-धर्मनिरपेक्षता ७१

विकृति एवं संस्कृति ९४
विघटनवाद ७४
विज्ञान एवं अध्यात्म १८०
विज्ञानभैरव १८८, १८९
विज्ञानवाद(दी) ६२, ११४, १३३, १३७
विज्ञानाकल १६७
विदुर(नीति) ४९
विदेशी प्रभाव १३५
विधि-निषेध ३९-४०, १४५
(म०म०) विधुशेखर भट्टाचार्य ६२, १५१
विभवावतार १०२
विलगाववादी १०-१३
विवर्तवाद ६९
(स्वामी) विवेकानन्द १५, १६, २५, ५३, ६६, १५३, १५८, १८३
विश्वदृष्टि १५९-१६१
विश्वनागरिकता १५४
विश्वबन्धुत्व १७९
विश्वभारती १५१
विश्वभावना १०३, १८३
विश्वमानवता ४३, १५४
विश्वव्यवहार १६१-१६५
विश्वसमन्वय १७८-१७९
विश्वसंस्कृति १३८, १५३-१५६, १७७
विश्वसंस्कृति का क्रमिक विकास १५६-१५९
विश्वाहन्ता ५७, १०४, १०७, १२५, १३८, १५०-१५३
विष्णुगुप्त चाणक्य १९०
विष्णुधर्मोत्तरपुराण १३०, १७७
विष्णुपुराण ६२
वीणाशिखतन्त्र १२९
वीरव्रत १४८
वीरशैव १४, २५, १८७, १८९
वेंडेल विल्की १७५, १८१
वेदान्त १७७
वैखानस १२७
वैदिक २, ५५, ८२
वैदिकीकरण १३२
वैष्णवमताब्जभास्कर १३२
वैष्णवागमविमर्श १२७
शक्तिपात (अनुग्रह) ११६
शक्तिपूजा (त्रिविध) ८९, १४०
शक्तिसंगमतन्त्र १८२, १८९
शंकराचार्य १३३, १३४, १७७
शतपथब्राह्मण १२६
शलाकापुरुष १४०
शान्तरक्षित १८३
शान्तिदेव १८५
शाहबानो १०
(डॉ०) शाहिदुल्ला १३५
शिकागो १५
शिक्षापद्धति ७८
शिवभागवत १३८
शिवसमता ११४-११६, १२८
शिवाजी महाराज १७
शुक्ल यजुर्वेद ९४, १५१, १७८
शुद्धसत्त्व १६८
शुद्धि-अशुद्धि १४४-१४६, १६८
शुल्बसूत्र २२
शून्यवाद ६२, ११४, १३३
शैव (चतुर्विध) १२८
श्रमण-ब्राह्मणम् २, ११, २०, २९, ४५, ५४, ५५, ५७, ८३, १३३, १८२
श्राद्धतिथि ३०
श्रावकयान ११०, १५०
श्रीलंका २३, २९, ५७
श्रुति (द्विविध) ६६, १२२
तान्त्रिक (सर्ववर्ण) ६६-६७, १३०, १३२; वैदिक (त्रैवर्णिक) १२२, १३०, १३२

श्लोकवार्त्तिक १०१
श्वपच (चांडाल) ३९
षडंग योग ५८, ६५,१२१, १८४
षड्दर्शन (त्रिविध) ६४, १०२
षड्दर्शनसमुच्चयटीका १८४
षड्विध धर्म ५१, १७५
सकल (जीव) १६७
सकल (स्वरूप) १४२
संख्या ३०
संगम-स्थल २६
संघ-परिवार २०
सत् (लक्षण) ८०
सत्तर्क १४६, १४७
सत्यकाम जाबाल ६६
(प्रो०) सत्यप्रकाश मित्तल १७५
सत्यार्थप्रकाश ११, ९३
सनातन धर्म २६, ३३, ४८, ५१, ५५-५६
६३, ६५, ७०, ७१, १५०, १५६,
१७५, १८२
सन्त (भक्त) २७, २८
ईसाई १३५; यहूदी १३५; सूफी
१३, २८, ३६, ५४, १३५, १५७
सन्तधारा ३३
सभ्यता १, ५, ९४, १५५, १८१
सभ्यता, संस्कृति, साहित्य १-७
समता दर्शन १४८
समता दृष्टि १४८-१५०
समता मार्ग ७५
समताष्टक १४८
समन्वय (संस्कृति) ५७, १७९
समन्वय संस्कृति की ओर ५१, १७५-१८०
समन्वयाध्याय २७, ७६, १५१
समाजवाद १४८-१४९
सम्पूर्णानन्द ५३
सम्प्रदाय ७, १४
सम्भूय समुत्थान १७३-१७४
सम्भोग ८०, ९१, १११
सम्भोगकाय ११०
सम्मोहतन्त्र १२९
सम्मोहनतन्त्र १२९
सर्वदर्शनसंग्रह १२२, १२५
सर्वधर्म-सद्भाव ५८
सर्वधर्म-समभाव १६, ४३, ४६, ५६-५८,
१७६-१७८
सर्वधर्म-समादर १६, ४६, ५६-५८
सर्वमानव-मंगल ६५
सर्वशरण ६३
सर्वागमप्रामाण्य १०२, ११९
सलमान रुश्दी ८-१०
सहजदेव १३७, १८२
सहजयान १३५, १४३
सहिष्णुता और समन्वय १०, ५७, ७६-७७,
१७६, १७७, १९०
संन्यास(सी) ७७, १४९
संयुक्त राष्ट्रसंघ १०४, १५३, १६४
संसार-निर्वाण ११८
संस्कृत पत्र-पत्रिकाएँ ८६
संस्कृत भाषा (शिक्षा) ८४-८८
संस्कृति (लक्षण) १, ५, ८१, ९३,
१५५, १८१ इस्लामिक ७७;
गंगा-जमुनी २७, ७१; पाश्चात्य
७७; प्राचीन ९३; भारतीय ५,
८४-८८; भौतिक ४; मानवीय
१०४; विश्व ६; हिन्दू १७६
संस्कृति-परिभाषा (द्विविध) ९२-९३
संस्कृति गंगा २-३, १३; बाधक
तत्त्व ७, ९५-९६; समन्वय १७९;
साधक तत्त्व ७, ९५-९६
सांख्य दर्शन १०८-१०९, ११९-१२०

साधारणीकरण १२५
साधु-समाज ५८
सामंजस्य २७
सामूहिक नेतृत्व १७१-१७२
साम्प्रदायिक(ता) १३-१४, १६, १८, १९०
साम्यदृष्टि ७५
साम्ययोग १४९
साम्ययोगमीमांसा ३२, १४८, १५४, १८०, १८६
साम्यवाद(दी) ७४, १४८-१४९, १७९
साम्यावस्था १०८
सावधानता ४८, १६५
सांस्कृतिक अवसाद २१-२४
सांस्कृतिक एकता ७७
सांस्कृतिक धाराएँ ९२
सांस्कृतिक विस्फोट ७०
सिक्ख (गुरु) १२, १३, २१, ३६
सिद्ध और सहजयान १३५-१३८, १४३, १८२
सिद्धपुर २९
सिद्धान्तप्रदीपिका १३१-१३२
सिद्धियाँ ४७, ८०, १३७, १८८, १८९; सहज (आठ) १३७, १८८
सिन्धु सभ्यता ९८, १२७
सीमान्त प्रजा ५७
सुकरात १०५
सुधारवादी आन्दोलन १९, २९, ७७, ९४, १७६, १९०
सुबन्धु १०१
सुब्रह्मण्य (स्कन्द) १२९
सुभाषितसंग्रह १३६
सूक्ष्मशरीर ११३
सूफीवाद ८३
सूर्योपासना १२९
सेक्युलर स्टेट १४, २३, ४४, ६७-७४, ९६, १५६, १७५
सेमेटिक धर्म १४-२१, २६, ३०, ७६
सोमनाथ मन्दिर ९
सोमानन्द ९०
सौगत (चतुर्विध) ११४
स्कन्दपुराण १६०, १८६
स्थानकवासी (जैन) १५०
स्पन्दप्रदीपिका १०२
स्पर्धा १६०, १८०, १८७
स्मार्त (तन्त्र) ६२, १३०
स्वपरामर्श १४७
स्वर्ग-नरक (जन्नत-दोजख) १९, ११२
स्वात्मदेवतावाद १५९, १६१
स्वात्मस्वरूप १४२, १४७
स्वानुभव १४६, १४७
हजयात्रा ३६
हठवादिता ९६
हड़प्पा २२, १५६
हंसमन्त्र १८२
हिन्दस्का २२
हिन्दू ४, १४, २०, २२, २४, ५३-५६, ७३, १८२
हिन्दूकरण ५३, ९७
हिन्दू तन्त्र ८८-८९
हिन्दू तान्त्रिक एण्ड शाक्त लिटरेचर १२९
हिन्दू तिथि २१
हिन्दू धर्म (सनातन) ५१, ५३-५६, १७५, १७८
हिन्दू-मुसलमान ५४, ५५
हिन्दू-मुस्लिम समस्या ८३
हिब्रू भाषा ८५
हिरण्यगर्भ १२०
हीनग्रन्थि ५, ४४
हीनभावना २२, ३३, ४४, ६७
हेमचन्द्र (जैनाचार्य) १०२
ह्रासवाद १०५, १०७

इतिहास, संस्कृति, कला
प्रमुख ग्रन्थ

प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति	*प्रो० अनंत सदाशिव अलतेकर*
कला	*हंसकुमार तिवारी*
महाभारत का काल निर्णय	*डॉ० मोहन गुप्त*
प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारधारा	*डॉ० लल्लनजी गोपाल*
प्राचीन भारतीय कला में मांगलिक प्रतीक	*डॉ० विमलमोहिनी श्रीवास्तव*
विश्व की प्राचीन सभ्यताएँ	*डॉ० श्रीराम गोयल*
प्राचीन भारतीय समाज और चिन्तन	*डॉ० चन्द्रदेव सिंह*
ग्रीक-भारतीय (अथवा यवन)	*प्रो० ए०के० नारायण*
प्राचीन भारत	*डॉ० राजबली पाण्डेय*
प्राचीन भारत के प्रमुख अभिलेख (खण्ड-1 व 2)	*डॉ० परमेश्वरीलाल गुप्त*
गुप्त साम्राज्य	*डॉ० परमेश्वरीलाल गुप्त*
भारतीय वास्तुकला	*डॉ० परमेश्वरीलाल गुप्त*
भारत के पूर्व-कालिक सिक्के	*डॉ० परमेश्वरीलाल गुप्त*
प्राचीन भारतीय मुद्राएँ	*डॉ० परमेश्वरीलाल गुप्त*
गुप्तोत्तरकालीन उत्तर भारतीय मुद्राएँ (600 से 1200 ई.)	*डॉ० ओंकारनाथ सिंह*
प्राचीन भारतीय कला एवं वास्तु	*डॉ० पृथ्वीकुमार अग्रवाल*
गुप्तकालीन कला एवं वास्तु	*डॉ० पृथ्वीकुमार अग्रवाल*
प्राचीन भारतीय प्रतिमा-विज्ञान एवं मूर्ति-कला	*डॉ० ब्रजभूषण श्रीवास्तव*
मध्यकालीन भारतीय मूर्तिकला	*डॉ० मारुतिनन्दन तिवारी एवं डॉ० कमल गिरि*
मध्यकालीन भारतीय प्रतिमालक्षण	*डॉ० मारुतिनन्दन तिवारी एवं डॉ० कमल गिरि*
जैन कलातीर्थ : देवगढ़	*डॉ० मारुतिनन्दन तिवारी एवं डॉ० शान्तिस्वरूप सिन्हा*
भारतीय संग्रहालय एवं जनसम्पर्क	*डॉ० आर० गणेशन्*
इतिहास दर्शन	*डॉ० झारखण्डे चौबे*
भारतीय संस्कृति की रूपरेखा	*डॉ० पृथ्वीकुमार अग्रवाल*
काशी का इतिहास	*डॉ० मोतीचन्द्र*
काशी की पाण्डित्य परम्परा	*पं० बलदेव उपाध्याय*

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी